भारतीय कला को बिहार की देन

डॉ० विन्ध्येश्वरीप्रसाद सिंह

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना

भारतीय कला को बिहार की देन

डॉ० विन्ध्येश्वरीप्रसाद सिंह

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना

प्रकाशक
बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना-३

प्रथम संस्करण
बिक्रमाब्द २०१४ ; शकाब्द १८७९ ; खृष्टाब्द १९५८

मूल्य—

मुद्रक
नवजीवन प्रेस
पटना-४

वक्तव्य

वैदिक युग से आधुनिक युग तक का भारतीय इतिहास देखने से पता चलता है कि राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, साहित्यिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में बिहार की देन बड़े ऐतिहासिक महत्त्व की रही है। इतिहासज्ञों का कहना है कि भारतीय इतिहास से यदि बिहार के इतिहास का अंश निकाल दिया जाय, तो वह अधूरा रह जायगा। किन्तु आलोचकों के मतानुसार ऐसा तो भारत के कई प्रान्तों के इतिहास के सम्बन्ध में कहा जा सकता है। तब भी बिहार का इतिहास भारत के अन्य प्रदेशों के इतिहास से अपना अलग महत्त्व रखता है—उसकी अपनी अलग विशेषताएँ हैं, जिनसे हिन्दी के इतिहासप्रेमी पाठक भलीभाँति परिचित हैं।

विभिन्न क्षेत्रों में बिहार ने अपने विशाल राष्ट्र (भारत) को कितने अमूल्य उपहार दिये हैं, इसका साक्षी इतिहास है। वैदिक काल के मन्त्रद्रष्टा ऋषियों से वर्त्तमान काल की विशिष्ट विभूतियों तक यदि सरसरी निगाह भी दौड़ाई जाय, तो अनेक स्थलों पर नजर को ठिठकानेवाले मील-पत्थर मिलेंगे। निष्पक्ष इतिहासकार भी इस बात से सहमत होंगे।

इस पुस्तक में कला-सम्बन्धी बिहार की देन का सचित्र विवरण उपस्थित किया गया है। देश की सभ्यता और समाज के जीवन में कला का कैसा महत्त्व है, भारतीय कला की विशेषताएँ क्या-क्या हैं और उसके विकास-क्रम एवं अभ्युत्थान में बिहार का योगदान कहाँ तक है, बिहार की कला-सम्पदा का प्रभाव देश-विदेश की कला पर कैसा पड़ा है—इत्यादि विषयों का विशद विवेचन एवं सप्रमाण प्रतिपादन इस पुस्तक के विद्वान् लेखक ने सफलता के साथ किया है। सम्भव है कि उनसे हिन्दी-पाठकों अथच आलोचकों का कहीं मतभेद भी हो, पर ऐतिहासिक विषयों से सम्बन्ध रखने-वाले मतभेद प्रायः अनुसन्धान-प्रेरक और शोध-प्रवृत्ति के उत्तेजक होते हैं, अतः जिज्ञासु-वर्ग को लाभ ही होता है। यह पुस्तक भी अपने प्रतिपादित विषय की ओर अधिकाधिक गवेषणा के लिए अग्रसर होनेवालों को पर्याप्त साहाय्य और प्रोत्साहन देगी।

इस पुस्तक के लेखक पटना-निवासी डॉक्टर विन्ध्येश्वरीप्रसाद सिंह पटना-विश्वविद्यालय में प्राचीन भारतीय इतिहास-विभाग के अध्यक्ष हैं। आपने कला-विषयक अध्ययन-अनुशीलन के लिए जो विदेश-यात्रा की थी, उसके फलस्वरूप आपने

इस पुस्तक में प्राच्य एवं पाश्चात्य कला का तुलनात्मक अध्ययन उपस्थित करके इस युग के कलानुरागियों का मनोरंजन तथा ज्ञानवर्द्धन किया है। परिषद् की भाषण-माला में आपने सन् १९५६ ई० में २० मार्च (मंगलवार) को अपने एतद्विषयक अन्वेषण-सम्बन्धी अनुभव सुनाये थे। आपका वही लिखित भाषण इस पुस्तक में प्रकाशित है। आशा है कि इसके प्रकाशन से हिन्दी-साहित्य के एक अभाव की तो पूर्त्ति होगी ही, ऐसे ही अन्य अभावों के दूर करने में विद्वानों को प्रेरणा भी मिलेगी।

शिवपूजन सहाय
(संचालक)

चैत्र, शकाब्द १८७९

भूमिका

प्राचीन भारत की कला की प्रशंसा अब सभी सुसंस्कृत और सहृदय आलोचक करते हैं। भारत अनेक बार विदेशियों के द्वारा पदाक्रान्त हुआ, और इन असभ्य या अनुदार जातियों ने भारतीय प्राचीन कला को पूरी क्षति भी पहुँचाई। हूणों और तुर्कों के आक्रमण के परिणाम-स्वरूप कितने प्राचीन भवन खँडहर बन गये और अनेक कला-कृतियाँ नष्ट हो गईं। कला के अध्ययन के लिए पर्याप्त सामग्रियाँ प्राप्त नहीं हैं। प्राचीन काल की 'कला का इतिहास'-नामक किसी पुस्तक का पता भी नहीं है। फिर भी जो कुछ सामग्रियाँ बच पाई हैं, उनसे ही भारत की प्राचीन कला के ऐश्वर्य और गौरव का पता चलता है। संसार के भिन्न-भिन्न संग्रहालयों में भी प्राचीन भारतीय कला के अनमोल रत्न सुरक्षित हैं। आज कला के इतिहास के उचित अध्ययन के लिए अपने ही देश में भटकना जरूरी नहीं है, वरन् विदेशी संग्रहालयों का निरीक्षण-परीक्षण भी, आवश्यक है। इस तरह चित्र-संग्रहों की प्रतिलिपियों और भारत के संग्रहालयों के अध्ययन से भारतीय कला के इतिहास की रूप-रेखा जानी जा सकती है।

इतने लम्बे युग के इतिहास में भी भारतीय कला-परम्पराओं की शृङ्खला बनी रही, यह कम आश्चर्य की बात नहीं है। मोहेञ्जोदड़ो-युग से पाल-युग तक की कला में हम पूर्व-परम्पराओं का समुचित और शाश्वत प्रभाव पाते हैं। भारतीय कला अनेक उतार-चढ़ाव के साथ अपनी राह पर चलती रही और इसके विशिष्ट गुण, कम या अधिक, सर्वदा उपस्थित रहे। भारतीय कला के इतिहास में एक और महत्त्वपूर्ण विषय है— विभिन्न विदेशी कला-परम्पराओं का भारतीय कला के साथ समन्वय। हरप्पा और मोहेञ्जोदड़ो की कला पर आर्येतर सुमेरी सभ्यता का प्रभाव पड़ा था। आर्येतर हरप्पा-कला का ही आर्यों की सभ्यता से साबका पड़ा। इसी तरह हिन्दू-कला पर आर्येतर हरप्पा-सभ्यता और आर्य-सभ्यता का मिश्रित प्रभाव पड़ा। भारतीय संस्कृति और कला के महोदधि में भिन्न-भिन्न अनेक धाराएँ आईं और विलीन हो गईं। इनसे भारतीय कला को उचित बल मिला। विदेशी तत्त्वों का शीघ्र ही भारतीयकरण हुआ और भारतीय कला अपनी विशेष परम्पराओं का आदर करती हुई बढ़ती गई तथा समृद्ध बनती गई। इस तरह की विशेषताओं से पूर्ण भारतीय कला के अध्ययन से विदेशी परम्पराओं का संयत प्रभाव स्पष्ट हो जाता है।

भारतीय कला के इतिहास से यह भी पता चलता है कि शक्तिशाली राज्य की स्थापना और प्रसार के साथ-साथ कला के स्वर्णिम दिन भी लौटते रहे। मौर्य-साम्राज्य, गुप्त-साम्राज्य और पाल-साम्राज्य के समय में ही भारतीय कला का उन्नत विकास हुआ। पर मौर्य और गुप्त-साम्राज्य एवं गुप्त तथा पाल-साम्राज्य के बीच में किसी शक्तिशाली साम्राज्य का प्रभाव सम्पूर्ण देश पर नहीं दिखाई पड़ता है। इन दिनों राजनीतिक स्थिति के साथ-साथ कला की दशा भी गिरी रही। इसलिए ऐसा मालूम पड़ता है कि कला का विकास रुक-रुक कर हुआ हो और प्रत्येक महान् युग में कला की उन्नति का प्रयत्न फिर से आरम्भ किया गया हो। किन्तु, बात ऐसी नहीं है। उतार-चढ़ाव के इस क्रम में कला की परम्पराएँ सदैव जीवित रही हैं और प्रत्येक महान् युग में भूतकालीन परम्पराओं के आधार पर कला पहले की अवस्था से आगे बढ़ी और नई दिशाओं में पल्लवित-पुष्पित हुई।

भारत एक महान् देश है। इसकी राजनीतिक और भौगोलिक स्थिति ऐसी रही है कि भिन्न-भिन्न भागों में विशिष्ट संस्कृति और कला का विकास हुआ है। इस देश में जब-जब अखिलभारतीय साम्राज्य स्थापित हुए, तब-तब उसके संरक्षण में विकसित कला सारे देश में फैली, और ऐसे समयों में एक ही कला तथा शैली का प्रभुत्व रहा है। फिर भी, यहाँ स्थानीय संस्कृति का जोर बराबर रहा—कभी कम और कभी अधिक। गुप्त-साम्राज्य की अवनति के बाद किसी स्थायी अखिलभारतीय सत्ता की स्थापना नहीं हुई, इसलिए भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में स्थानीय कला-शैली का विकास हुआ। इन कला-शैलियों का आधार भी भारतीय परम्परा ही थी, और अखिलभारतीय धर्मों के अंचल में ही वे शैलियाँ पनपीं। अतः इन शैलियों की विभिन्नता के साथ-साथ इनकी भारतीयता और पारस्परिक समानता नहीं भूलनी चाहिए।

भारतीय इतिहास और संस्कृति की विभिन्नता या विषमता में एकता की भावना भी स्पष्ट परिलक्षित है। स्थानीय कला-शैलियों की स्वतंत्र स्थिति के साथ-साथ इनमें आदर्शों और आधारों की एकता पूर्ण व्यक्त होती है। इस महान् सत्य को आँखों से ओझल करके ही आलोचकों ने भारतीय इतिहास और संस्कृति में अनेकता और विषमता को देखा है। पर वास्तव में कला और धर्म के आदर्श राष्ट्रीय थे। मान्य सिद्धान्तों का प्रभुत्व तो सम्पूर्ण भारत पर बराबर कायम रहा। इस सर्वमान्य मूल आदर्श और सिद्धान्तों के आधार पर यदि स्थानीय संस्कृतियाँ कुछ अपना विशिष्ट रूप लिये विकसित हुईं, तो उनसे भारतीय एकता और संस्कृति की हानि नहीं हुई, बल्कि लाभ ही हुआ। इससे भारतीय संस्कृति और कला जहाँ समृद्ध हुई है, वहाँ इसमें नये-नये जीवन के तत्त्व भी आते गये। इसी पृष्ठभूमि में पल्लव, चालुक्य चोल, होयसल्, कश्मीर, राजस्थान इत्यादि भागों में विशेष कला-शैलियाँ विकसित हुईं। पाल-कला भी इसी प्रकार की स्थानीय कला थी। इसका प्रभाव बिहार-बंगाल पर ही नहीं, वरन् उत्तर और दक्षिण-पूर्व के विदेशों पर भी पड़ा। मौर्य और गुप्तकालीन कला तो मगध में जन्मी, पर अपने प्रभाव और शक्ति के कारण, इसने अखिलभारतीय रूप ले लिया। मगध की लोक-कला भी पूर्णतः विलीन नहीं हुई, वह मिट्टी की बनी मूर्त्तियों—यक्ष और यक्षिणी की

मूर्त्तियों—में मौर्य राजकीय कला की समानान्तर सीध में फूलती-फलती रही। गुप्त-काल में भी मगध की लोक-कला मणियार-मठ और नालन्दा के पाषाण-मन्दिर के चबूतरे के चारों ओर की मूर्त्तियों में मादकतापूर्ण यौवन के निखार के रूप में उत्कीर्ण होकर जीवित रही। पाल-युग में इसी स्थानीय कला का अभूतपूर्व विकास हुआ और इसका प्रभाव कई सदियों तक सुदूर देशों में फैलता रहा।

भारतीय कला में बिहार का योगदान अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण रहा है। यदि प्राचीन भारत का इतिहास तीन-चौथाई बिहार का ही इतिहास है, तो भारतीय कला के इतिहास का प्रमुख भाग भी बिहार ही है। भारतीय कला का ऐतिहासिक युग मौर्य-काल से आरम्भ होता है, और तत्कालीन भारतीय कला का इतिहास भी वस्तुतः मगध की कला का ही इतिहास है। गुप्त-कला भी मगध के गुप्त-सम्राटों के संरक्षण में ही विकसित हुई और सारे भारत पर छा गई। इसके आदर्श और शैली भविष्य की कला के आदर्श और रूप मान लिये गये हैं। इसी आधार पर देश-भर में, गुप्त-साम्राज्य की अवनति के बाद, स्थानीय कला-शैलियाँ विकसित हुईं, जिनमें पाल-शैली बिहार की अनमोल देन है।

अखिल भारतीय कला-परम्पराओं के साथ-साथ बिहार की अपनी विशेषताओं को भी यहाँ की कला ने उचित स्थान दिया। इसलिए बिहार में प्राचीन कला के अध्ययन को अखिलभारतीय और क्षेत्रीय दोनों महत्त्व प्राप्त हैं।

भारतीय इतिहास में बिहार की भूमि अत्यन्त उर्वरा रही है और इसने राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक नेतृत्व ही नहीं किया, बल्कि कला के क्षेत्र में भी बिहार अग्रणी रहा। भारतीय कला और संस्कृति के उचित अध्ययन और गुणावगुण के ज्ञान के लिए विभिन्न क्षेत्रों की संस्कृति और कला का ज्ञान जरूरी है। इससे कोई क्षेत्रीय पक्षपात नहीं प्रकट होगा, वरन् राष्ट्रीयता की नींव दृढ़ होगी। भिन्न-भिन्न क्षेत्रों के ऐसे अध्ययन के द्वारा भारतीय इतिहास और संस्कृति का भण्डार तो भरेगा ही, साथ ही ऐसे ज्ञान से अन्तर-क्षेत्रीय सद्भाव भी बढ़ेगा। अतः क्षेत्रीय कलाओं का अध्ययन अत्यन्त उचित और आवश्यक है। इतिहास में बिहार से अधिक महत्त्वपूर्ण भाग भारत के किसी अन्य भाग ने नहीं लिया है। इस कारण भारतीय संस्कृति की समृद्धि में सबसे अधिक योग देने में बिहार का श्रेय सर्वमान्य है। यहाँ प्राचीन कला के अनेक अवशेष मिले हैं, जिनसे समस्त भारतीय कला के विकास का ज्ञान हो जाता है। इसी विचार से प्रस्तुत पुस्तक में प्राचीन कला में बिहार के योगदान का मूल्यांकन करने की चेष्टा की गई है।

प्रस्तुत पुस्तक के माध्यम से भारतीय गौरव के कुछ अनमोल पृष्ठ पाठकों के सामने खोलकर रखे गये हैं। स्वतंत्र भारत आज आत्मविश्वास के सहारे, अपनी आध्यात्मिक और सांस्कृतिक परम्पराओं के आधार पर, संकटापन्न और दिग्भ्रान्त विश्व की सेवा करने के लिए तत्पर है। इस विश्व-कल्याण की नीति को सफल बनाने के लिए हमें आत्म-निर्भरता और आन्तरिक शक्ति की आवश्यकता है। शक्ति की खोज में हमें अणु और हाइड्रोजन बमों के आविष्कार के पथ पर चलने का न तो सामर्थ्य है और न इच्छा। हमें अपने-आप को ही फिर से ढूँढ़ना है और आत्म-विश्वास बढ़ाना है। अतः प्राचीन

भारतीय इतिहास से हमें इच्छित प्रेरणा मिलेगी और हम अपने प्राचीन गौरव के प्रति जागरूक होकर खोई शक्ति पुनः प्राप्त करेंगे।

नवजीवन के इस युग में प्राचीन इतिहास और संस्कृति हमारे पथप्रदर्शक अवश्य होंगे। आशा है, प्रस्तुत पुस्तक से पाठकों का भारतीय कला-सम्बन्धी उचित ज्ञानवर्द्धन ही नहीं होगा, वरन् राष्ट्र के सर्वाङ्गपूर्ण पुनर्निर्माण में उत्साह और आत्मविश्वास की ज्योति प्रज्वलित होगी। अतीत के दृश्य हमें पीछे नहीं, वरन् आगे ले जायेंगे और हमारे लक्ष्य तथा मार्ग को प्रशस्त करेंगे। यदि हमारा यह प्रयास इस दिशा में जरा भी सफल हुआ, तो हम अपने को कृतकार्य समझेंगे। परिशिष्ट में 'मूर्त्ति-विज्ञान' की भूमिका दे दी गई है, इससे पाठकों को मूर्तियाँ पहचानने और उनकी कला की सराहना करने में मदद मिलेगी।

— विन्ध्येश्वरीप्रसाद सिंह

पहला अध्याय

कला का महत्त्व और भारतीय कला के विशिष्ट गुण

ललित कलाओं और आन्तरिक सुख के प्रति उपेक्षा की भावना को अपने अहंकार के द्वारा न्यायसंगत समझने और समझाने की चेष्टा कर आधुनिक सभ्य (?) मनुष्य सचमुच जंगली जातियों से भी गया-गुजरा हो गया है। संसार में उचित सन्तुलन स्थापित करना और जीवन को पूर्णतया विकसित करना ही हमारे सामने सबसे मुख्य विचारणीय विषय है। केवल वैज्ञानिक सिद्धि की प्रगति पर ही एकाग्रचित्त होने से मानव-समाज अन्त की ओर द्रुतगति से बढ़ रहा है[1]। विज्ञान की प्रगति के साथ-साथ मानवोचित विषयों (Humanites) पर भी ध्यान देना कम जरूरी नहीं है। सच्चे कवि, कलाकार, विचारक और सिद्ध पुरुष ही मानव-समाज के प्राकृतिक नेता हैं। वे ही मनुष्य के अन्तस्तल की उदात्त भावनाओं को जाग्रत कर सकते हैं। इसलिए, परम्परागत मान्यताओं को फिर से प्रतिष्ठित करना आवश्यक है; क्योंकि इनमें मानव-समाज का गम्भीर अनुभव और ज्ञान सन्निहित है। इनकी महत्ता काल से परे है, शाश्वत है। यदि मनुष्य को विश्वसाहचर्य और पारस्परिक सद्भाव के युग में प्रवेश करना है, तो प्राचीन बहुमूल्य सांस्कृतिक थाती को सुरक्षित रखना होगा ही। क्योंकि, प्राचीन सांस्कृतिक परम्पराओं की अमूल्य निधियाँ तो कला के कोष में ही इकट्ठी हैं। कला की भाषा अन्तरराष्ट्रीय है और एक दूसरे की भाषा से अनभिज्ञ होते हुए भी हम किसी विदेशी कला के संदेश को पढ़ सकते हैं। इसलिए, मानव-कल्याण के निमित्त, प्राचीन कला का उद्धार और उचित मूल्यांकन आवश्यक है। इसका उत्तरदायित्व विशेष कर पूर्व के देशों पर है; क्योंकि इस पूर्वीय भाग में ही प्राचीन परम्परागत मान्यताओं का आदर शेष है, विशेष कर भारत में। भारत को कला के माध्यम से अपनी प्राचीन अभिव्यक्त मान्यताओं को पुनः आदर का स्थान देना है और उनसे मानव के सर्वाङ्गपूर्ण विकास के पथ को आलोकित करना है। भारतीय कला और संस्कृति के अध्ययन की आवश्यकता का आज उचित समय है।

कला समाज और विश्व की हितैषिणी होने के अतिरिक्त व्यक्ति के कल्याण का भी माध्यम है। सामाजिक और पारिवारिक अस्त-व्यस्तता तथा विप्लव से ऊब कर हम कला की ओर पलायन करने में शान्ति पाते हैं। साधारणतया हमारी प्रवृत्तियाँ अन्तस्तल में ही छिपी रह जाती हैं—दबी रह जाती हैं। किन्तु, जब कलाकार कविता, चित्रकला

---

१. प्रसिद्ध विद्वान् एच्० जी० वेल्स की पुस्तक 'Shape of things to come' में वर्णित।

या मूर्त्तिकला में पूर्ण मनोयोग से लीन हो जाता है, तब अपनी उस कृति में अपने अन्तस्तल की सुप्त और पीड़ित भावनाओं को, शिष्टता-पूर्वक ही सही, उड़ेल देता है। इस प्रकार उसका अवरुद्ध व्यक्तित्व मुक्ति का अनुभव करता है। भावुकता में भी मनुष्य अपनी पीड़ित भावनाओं को उद्वेगपूर्ण रूप में प्रकट करता है; पर कला के माध्यम से भावनाओं की अभिव्यक्ति अत्यन्त मितव्ययिता से होती है। इस प्रकार कला केवल पीड़ाओं से छुटकारा ही नहीं देती, बल्कि शक्ति भी देती है—उच्छृङ्खलता के बदले, आत्मसंयम-पूर्वक, दबी भावनाओं के अभिव्यक्तीकरण में संबल बनती है। वह उसे बराबर उत्साह और स्फूर्त्ति देती रहती है। कला परमात्मा का ओजपूर्ण और आनन्द-दायक आत्मप्रदर्शन करने का माध्यम है, इसलिए वह वास्तव में पीड़ित आत्मा और समाज के लिए शांतिदायक और कष्टनिवारक आनन्दप्रद औषध है।

उच्च और सुसंस्कृत कला का क्षेत्र सारी सृष्टि है। उसका प्रभाव और मूल्य बराबर रहेगा। समय की गति कला के गुणों को बर्बाद नहीं कर सकती। इसलिए, कला के इतिहास से हमें शाश्वत गुणों की अमरता का बोध होना चाहिए और देश तथा काल-जनित सीमित संकीर्णता को भुलाना चाहिए। प्रसिद्ध कलाकार 'पिकास्सो' ने कहा है—"कला का न भूत है और न भविष्य। जो कला वर्त्तमान में अपनी सत्ता प्रमाणित नहीं कर सकती, वह कभी अपना स्थान नहीं पा सकेगी।"[१] प्राचीन यूनानी, मिस्री, चीनी और भारतीय कला का यही गुण है कि उनकी सत्ता आज और हजारों वर्ष बाद भी—सुदूर भविष्य तक—कायम रहेगी।

प्राचीन भारतीय कला की शाश्वत स्थिति के भीतर, केवल मानव की चिरभावनाओं का मूर्त्त रूप ही नहीं है, वरन् उसकी आध्यात्मिकता की आधार-शिला भी सन्निहित है। सौन्दर्य ही ईश्वर है, वही सत्य है (Beauty is truth, Beauty is God)। यह एक सर्वमान्य विचार है। भद्दापन ही तो पाप है, चाहे वह भद्दा आचरण हो, भाव हो या रूप। इसलिए, प्राचीन कला में मानव की आध्यात्मिक कल्पना की सिद्धि का ही रूपान्तर मिलता है। कलाकार का स्वप्न और कल्पना संपूर्ण समाज को जब मान्य हो जाते हैं, तब वे धर्म की संज्ञा से अभिहित होते हैं। मानव-इतिहास के बहुत बड़े भाग में, कला की विलक्षण जीवनी और चिरायु-शक्ति का, धर्म के किसी-न-किसी रूप से, घनिष्ठ सम्बन्ध देखा गया है।

कलात्मक कृति कलाकार की रचनात्मक प्रतिभा का फल है। जब अबोध बालक बालू का घर बनाता है और मिट्टी से खिलौने बनाने की असफल, किन्तु अनवरत चेष्टा करता है, तब वह मानव की क्रियात्मक प्रतिभा का ही प्रतिनिधित्व करता है। आगे चलकर जब उसकी प्रतिभा कलाकार के रूप में मुखरित होती है, तब प्रकृति का रूपान्तर मूर्त्तियों या दृश्यों में होता है। कलाकार अपनी प्रतिभा के द्वारा, छेनी और तूलिका के माध्यम से, प्रकृति की समृद्धि को कला के रूप में अभिव्यक्त करने में समर्थ हो जाता है। फिर भी कलाकार की वास्तविक सफलता यह है कि वह अपनी कला में और प्राकृतिक पदार्थों

---

१. "Art has neither a past nor a future. Art which is powerless to affirm itself in the present will never come to its own".

तथा अपने आन्तरिक आवेगों की तीव्रता में मार्मिक सम्बन्ध स्थापित कर दे। प्रकृति सदैव ही कलाकार की क्रियात्मक और रचनात्मक प्रतिभा का आदि-स्रोत रही है और रहेगी। इसी अक्षय भांडार से कलाकार अपने काम का कच्चा माल ढोता रहा है। किन्तु, प्रकृति की नकल ही सच्ची कला नहीं है, बल्कि कलाकार की आत्मा के साथ एकसुर होकर प्रकृति की आकृति का परिवर्त्तन ही वास्तविक कला है। हृदय और मस्तिष्क की अचेतन अवस्था के आन्तरिक सुप्त तारों को कला झंकृत करती है और उसकी भावनाओं को प्रकट करती है। कलाकार की उन भावनाओं पर सामाजिक परम्परा और सांस्कृतिक विरासत का प्रभाव पड़ता है। इस कारण कलाकार की कृतियों में, हम मानव की आन्तरिक प्रवृत्तियों के सामाजिक अनुभवों को, सांस्कृतिक परम्पराओं के साथ, देखते हैं।

किसी भी सभ्यता की स्थायी सफलताओं की संरक्षिका कला ही रही है। सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था, धर्म के रूप और साम्राज्य—सभी बदल जाते हैं; पर कला में हम उस सभ्यता की अमूल्य निधियों का संचय और सांस्कृतिक तत्त्व पाते हैं। सामाजिक धारणाओं और मान्यताओं को, जो किसी भी समाज की विशिष्ट और सुसंस्कृत रेखाएँ रही हैं, हम उस जाति की कला में सर्वदा सजीव और स्पष्ट देखते हैं। यह सत्य है कि मानव प्रत्येक देश और समय में कुछ मूल-प्रवृत्तियों और भावनाओं से उद्वेलित रहा है। इनकी अभिव्यक्ति विभिन्न कलाओं में हुई है; और कला के अमर महत्त्व और विश्वव्यापी चित्ताकर्षण का मूल कारण यही है। फिर भी, प्रत्येक सभ्यता, विशेषतः भौगोलिक स्थिति और परम्परा के आधार पर, विशिष्ट मान्यताओं, उद्गारों और सामाजिक तथा धार्मिक क्रिया-प्रतिक्रियाओं की कड़ी जोड़ती आई है, जिसे कला के माध्यम से ही मानव को, कला की विरासत के रूप में, उपहार दिया गया है।

ऐसी दशा में समाज अत्यन्त ही संकीर्ण दृष्टिकोण अपना रहा है। व्यक्ति अपने शाश्वत गुणों को वस्तुतः भूल गया है और प्राचीन परम्पराओं से उसका नाता टूट-सा रहा है। वह स्वयं यह स्थिर नहीं कर पा रहा है कि कला का उचित अध्ययन और मूल्यांकन उसके पथ-प्रदर्शन में सहायक होंगे। कला मानव-जीवन के कुछ विशिष्ट भावों और समकालीन सामाजिक वातावरण को प्रकाश में लाती है और उनके अभिप्राय के अर्थ को समझाती है। इस कारण कला, समाज की गति पर यथातथ्य निग्रह और मार्ग-प्रदर्शन कर सकती है; क्योंकि वह मानव के इन्द्रियजनित ज्ञान, भावना और कल्पना को प्रभावित करती है। ऐसी स्थिति में कला केवल संभ्रान्तवर्ग के बुद्धि-विलास और मनबहलाव का साधन न होकर जनसाधारण के लिए उपयोगी हो तथा मानव-जीवन के हर क्षेत्र से विलग न हो, ऐसा प्रयास होना चाहिए। डा० मुकुर्जी के शब्दों में—"कला व्यक्ति की चिरस्थायी कीर्त्ति और संस्कृति की अनश्वर धरोहर ही नहीं, बल्कि उसकी प्रधान प्रेरणा भी है। कला स्फूर्ति देती है, प्रोत्साहित और सुशिक्षित करती है। कला सबको एक सूत्र से बाँधनेवाली एक बड़ी शक्ति है, जन-जीवन पर जिसकी छाप सर्वव्याप्त है।"[१]

---

१. "Art is thus not only the enduring glory of the individual and the imperishable record of culture, but it is also its principal

"कला का यही काम है कि वह मृत्यु के पंजे में पीड़ित और डूबते हुए मानव को अनवरत नवजीवन देती रहे।"[१]

आज संसार में शान्ति की व्यवस्था के लिए सह-अस्तित्व के आदर्श को स्वीकार करना प्रत्येक देश और जाति का कर्त्तव्य है। इस आदर्श को पुष्ट करने के लिए विभिन्न देशों की कलाओं का दिग्दर्शन और सौहार्दपूर्ण स्वागत होना भी आवश्यक है। हमें यह मान लेना है कि मानव-समुदाय एक होते हुए भी भूगोल और काल के फलस्वरूप अपने लिए अलग-अलग मार्ग चुन चुका है। उसके राजनीतिक संगठन और आदर्श भिन्न हैं, पर उनमें पारस्परिक वैर स्वाभाविक नहीं है। सभी का ध्येय है—मानव का पूर्णरूपेण विकास। उसी प्रकार हमें यह भी समझ लेना है कि दुनिया में अनेक ऐसी जातियाँ हैं—जिनकी विचार-धारा परस्पर भिन्न है। फिर भी, एक को दूसरे की विचार-धारा के मूल स्रोत का पता लगाना चाहिए। क्योंकि, मानव-आदर्श प्रायः सम्पूर्ण संसार में एक-से ही हैं, पर उन तक पहुँचने के लिए अनेक मार्ग और भिन्न-भिन्न साधन हैं। इसलिए, मानवमात्र को देश-विदेश की विचारधाराओं, प्रेरणाओं और कलाओं के प्रति समदृष्टि का भाव अपनाना होगा। अन्य देश की कला-कृतियाँ हमारी कला के सिद्धान्त और कौशल से भिन्न होने के कारण हीन हैं, ऐसा सोचना भारी भूल होगा। विभिन्न देशों की कलाओं के अध्ययन से सह-अस्तित्व के सिद्धान्त में बल मिलेगा और विश्व-शान्ति के स्थापन के पथ पर आगे बढ़ने में हम शक्ति प्राप्त करेंगे।

यथार्थपूर्ण अकृत्रिम कला समाज की आत्मकथा है। वह राष्ट्रीय संस्कृति के सनातन बहुमूल्य भावों, भावनाओं तथा विश्वासों को पूर्णतया और गम्भीरता से व्यक्त करती है। यह पूर्ण सत्य है कि किसी भी देश की संस्कृति उसकी वास्तविक आत्मा की झलक है और इसकी झाँकी हमें उस देश के भौतिक विकास, साहित्य, मूर्त्ति-कला और वास्तु-कला में मिलती है। भारतीय कला का अध्ययन भी इसी कसौटी पर किया जाना चाहिए। भारतीय कला का सिद्धान्त अत्यन्त ही उच्च कोटि का है, क्योंकि इसके माध्यम से भारत की धर्म-प्रधान सामाजिक व्यवस्था पूर्ण प्रतिविम्बित होती है। भारतीय मूर्त्ति और वास्तु-कला में भारत की ऐतिहासिक क्रम-रीति या परिपाटी आँखों के सामने स्पष्ट परिलक्षित होती जाती है। लन्दन के प्रमुख दैनिक 'टाइम्स' के अगस्त (सन् १९१० ई०) मास के किसी अंक में 'विलियम रॉथ रॉथेन्सटाइन' और अन्य विद्वानों ने लिखा था—"हमलोग भारत की उन्नत कला में भारतीयों की धार्मिक भावनाओं और ईश्वर के प्रति उनके गम्भीर चिन्तन का वैभवपूर्ण श्रेष्ठ और पर्याप्त वर्णन पाते हैं। ऐसे तो सभी प्राचीन संस्कृतियों की कला प्रधानतया धर्म-विषयक रही है, किन्तु भारतीय कला की यह विशेषता अत्यन्त स्पष्ट है। व्यक्ति या समाज के साधारण गुणों तथा भावों को गौण करके उनकी विशिष्ट सामाजिक

---

impulsion. Art inspires, exhorts and educates. Art is the great binder, the ubiquitous seal of the community-life and action'.—
The social function of Art, P. XVII

१. "The function of art is to ceaselessly renew and refurnish mankind's sinking heart under the grip of death", वही, पृ० ३८।

और आध्यात्मिक छवि को चित्रित कर कला उस समाज और सभ्यता को प्रतिविम्बित ही नहीं करती, वरन् अमरता प्रदान करती है।"

भारतीय कला धार्मिक सत्य और नैतिक आदर्शों का वाहन रही है और सामाजिक जीवन के विभिन्न अंगों को उत्तेजित करती रही है। इस प्रकार यह सार्वजनिक तथा सामाजिक आन्दोलनों की प्रसारिका कही जा सकती है। भिन्न-भिन्न युगों और जातियों की संस्कृतियों के रूप-रंग और मानव-सभ्यता की प्रगति के ज्ञान के लिए प्रतिमाओं के मूल आदर्श और लाक्षणिक संकेत को समझना जरूरी है। 'रॉथ' का कहना है कि कला किसी भी जाति के राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध रखती है। कला और धर्म साथ-साथ विकसित होते हैं। प्रसिद्ध विद्वान् अनेसाकी (Anesakl) का भी कहना है कि धर्म और कला मानव-जीवन के प्रबल अंग रहे हैं। कला पूजार्थ प्रतिमाओं का सर्जन करती है और ऐसी प्रतिमाओं में देवता सिर्फ रहस्यमयी शक्तियों का ही नहीं, बल्कि मानव की आत्मा की महत्त्वाकांक्षा और पीड़ा का भी प्रतिनिधित्व करता है।

कला की श्रेष्ठता के लिए यह जरूरी है कि उसे देख कर दर्शकों के हृदय और मस्तिष्क पर एक विशेष प्रकार की छाप पड़े। यदि प्रत्येक दर्शक किसी कलात्मक कृति से भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रभावित होता है तो उसका कोई अर्थ ही नहीं रहता। यद्यपि कलात्मक कृति कलाकार की वैयक्तिक प्रतिभा का परिणाम है, तथापि उसे 'कला' की श्रेणी में रखने के निमित्त समाज के द्वारा मान्यता मिलनी जरूरी है। इसीलिए, कला और समाज का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। किसी भी सभ्यता का स्थायी महत्त्व उसकी भौतिक समृद्धि पर नहीं, वरन् नैतिक और आध्यात्मिक देन पर है। कला और साहित्य के माध्यम से ही इसकी यथार्थ सराहना की जा सकती है। डॉ॰ राधाकृष्णन् के विचार में—"साहित्य और कला राष्ट्रीय चेतना के अत्युत्तम प्रतीक हैं और उनकी सबसे प्रबल शक्तियाँ तथा अत्यधिक सुकुमार भावनाएँ तो और भी उत्तम प्रतीक हैं। राष्ट्र की कला जन-जीवन से उत्साह पाती है और अपनी ओर से उसे प्राणवन्त या उत्तेजित करती है।"[1] इस प्रकार कला और जीवन का अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है।

कला सामाजिक वस्तु है। कला के विभिन्न रूप सामाजिक परिस्थितियों से निश्चित किये गये हैं। इस प्रकार कलात्मक कृतियों में सामाजिक मनुष्य के अनुभव और पलायनवादी प्रवृत्तियाँ—दोनों की अभिव्यक्ति होती है। राजनीतिक स्थिति भी कला के रूप को प्रभावित करती है। गुप्त और पाल-काल की पूर्ण प्रस्फुटित कला के संतुलन तथा शांति के गुण तत्कालीन ऐश्वर्यपूर्ण एवं सन्तोषवर्द्धक वातावरण में ही विकसित हुए। कला कलाकार की कृति है। कलाकार तो स्वयं ही उन तत्कालीन सामाजिक संस्थाओं और व्याप्त भावों में जन्मा तथा पला है, जिन्होंने उसकी आन्तरिक शक्तियों को सिखाया-पढ़ाया है तथा जीवन के प्रति उसके दृष्टिकोण को निश्चित रूप दिया है। कलाकार अपने भावों

---

1. "These represent the highest point of the nation's consciousness, its greatest powers and most delicate sensibility. The art of a nation derives its inspiration from the people's life and in turn quickens it",

और अनुभवों को जनसाधारण के लिए प्रेरक बनाकर एक उच्च उदात्त कार्य करता है। इस प्रकार कलाकार समाज का स्रष्टा होता है, पर समाज की अभिव्यक्ति का यंत्र भी बन जाता है। सामूहिक दृष्टिकोण से तो कलाकार की कृति उसके समाज की संस्कृति की प्रतिच्छाया है, जिसे वह अपने ढंग से अपने हृदय में धारण कर सका है और सबके सामने अभिव्यक्त कर सका है। किन्तु, व्यक्तिगत रूप से उसकी कला में उसके अपने अनुभव प्रतिबिम्बित होते हैं, चाहे वह अपनी सत्ता को पूर्णरूपेण विसर्जित कर अपनी कृति के प्रधान विषय में खो गया हो। ऐसी आध्यात्मिक कृति में कलाकार का व्यक्तित्व किसी-न-किसी रूप में प्रच्छन्न होकर स्थित रहता है। मोटे तौर पर तत्कालीन वातावरण कलाकार की प्रतिभा को विकसित करने में अत्यधिक सहायक होता है और अत्यन्त प्रतिकूल वातावरण उसे मृतप्राय-सा भी कर देता है। एक प्रकार से समाज की देन ही कलाकार है, फिर भी सभी कलाकार नहीं बनते। कलाकार कुछ स्वाभाविक विशिष्ट गुणों से विभूषित रहता है जो उचित सामाजिक वातावरण में पनपता है। इस प्रकार कलाकार समाज का ऋणी है, पर उसका ऋणदाता भी है।

भारतीय कलाकार यहाँ की शुद्ध आध्यात्मिकता से प्रभावित था और धार्मिक वातावरण कला के विकास के लिए अत्यन्त अनुकूल था। अतः कला निष्प्रयोजन विकसित नहीं होती है। स्वान्तःसुखाय के सिद्धान्त पर कला के सार्वजनिक महत्त्व की व्याख्या नहीं हो सकती है। यह ठीक है कि अपनी कृति में कलाकार अपने सुख और आनन्द की अनुभूति पाता है तथा इस आत्मानुभूति के गुण के बिना कला शायद ही सजीव हो सके। प्रत्येक प्राचीन सभ्यता में कला का विकास विशेष प्रयोजन से ही सम्भव हो सका है। धर्म और कला का प्राचीन संस्कृतियों से अविच्छिन्न सम्बन्ध है। प्राचीन भारत में धार्मिक स्मारकों, मन्दिरों, चैत्यों और देवी-देवताओं की मूर्त्तियों की आवश्यकता सदैव बहुतायत रूप में रही है। इसकी पूर्त्ति के लिए कला का अभूतपूर्व विकास होना स्वाभाविक था। कलाकार स्वयं ही इन आध्यात्मिक आवश्यकताओं से प्रेरित हो मंदिर या मूर्त्ति के निर्माण में अपने जीवन की चरितार्थता समझता था और यह भी अत्यन्त सत्य है कि कला के विकास में अधिक-से-अधिक व्यक्तिगत लाभ का सिद्धान्त नगण्य ही था। प्राचीन सभ्यताओं में अत्यन्त गहन आध्यात्मिक चंचलता व्याप्त थी; पर कला के लिए यही वास्तविक प्रेरणा थी। कलात्मक कृतियाँ शून्य में नहीं फेंक दी गई थीं। सभ्य समाज में उनका विशेष प्रयोजन था। कला बराबर समाज की कोई विशेष सर्वप्रिय आन्दोलन से सम्बद्ध रही है। भारतीय धर्मों में—बौद्ध, जैन, हिन्दू आदि में—भक्ति की धारा तीव्र वेग से प्रवाहित रही। इस धारा-प्रवाह से सिक्त आधार पर कला के बीजों का उगना और पल्लवित होना अत्यन्त स्वाभाविक था। वास्तु-कला या स्थापत्य एवं मूर्त्ति-कला के माध्यम से ही भक्त अपने आराध्य देव की अर्चना कर सन्तुष्ट हो सकता था। ब्राह्मण-धर्म में धार्मिक विधियों और यज्ञों का करना प्रत्येक मनुष्य का दैनिक कर्त्तव्य था। इसलिए, कला सर्वसाधारण (किसान मजदूर) के जीवन का भी एक आवश्यक अंग बन गई; क्योंकि धर्म-संम्बन्धी सभी वस्तुओं में कला का निखार रहना आवश्यक था। स्वयं धर्म सर्वसाधारण और समृद्ध—सभी के लिए जीवन का प्रमुख अंग था ही, इसलिए

व्यक्ति तथा समाज की प्रतिभा एवं समृद्धि का उचित व्यय धर्म-सम्बन्धी सभी उपक्रमों में किया जाना कर्त्तव्य माना गया था।

अभी बहुत दिन नहीं हुए कि भारतीय कला को पश्चिमी विद्वान् बहुत ही हेय दृष्टि से देखते थे। पश्चिमी कला के मर्मज्ञ और आलोचक भारतीय मूर्त्तियों में कला का बिल्कुल अभाव ही नहीं, उसमें अत्यन्त भद्दापन और कृत्रिमता देखते थे। 'विक्टोरिया अलबर्ट-संग्रहालय' की भारतीय कक्षा की हस्तगुटिका में प्राचीन भारतीय मूर्त्तियों के सम्बन्ध में लिखा है—"पौराणिक देवी-देवताओं की मूर्त्तियों के विकट और विलक्षण रूप कला के विकास के लिए एकदम अयोग्य हैं; और इसीलिए भारत में चित्रकला और मूर्त्तिकला ललित कला के रूप में अज्ञात हैं।" 'सर जॉर्ज बर्डउड' के इस विचार के अलावा ब्रिटिश-प्राध्यापक वेस्टमकोट्ट (Westmacott) ने भी सन् १८६४ ई० में इसीसे मिलता-जुलता विचार व्यक्त किया था—"भारतीय मूर्त्तिकला से, कला के इतिहास के अध्ययन में, कोई मदद नहीं मिलती है, और इसकी हीनता इसे ललित कला की श्रेणी से अलग कर देती है।"

मिस्टर 'इ० वी० हेवेल' और 'ए० के० कुमारस्वामी' ने ऐसे भ्रान्तिमूलक विचारों का खोखलापन ही नहीं सिद्ध किया; बल्कि इन अनर्गल प्रलापों के पीछे संकुचित मनोवृत्ति और अज्ञानता का पर्दाफाश किया है। अब पश्चिमी विद्वान् भारतीय कला के प्रति आदर और सहानुभूति का भाव रखते हैं—यद्यपि वे इसे ठीक-ठीक समझने में बड़ी कठिनाई महसूस करते हैं; किन्तु उनकी ऐसी परेशानी बोधगम्य है। किसी भी राष्ट्र की कला उसके जीवन और आत्मा का प्रतिविम्ब है। राष्ट्र या जाति की अनुभूतियों, भावों या उसके आदर्शों के अलावा धार्मिक और सामाजिक आन्दोलनों तथा उनके आध्यात्मिक तत्त्वों को जानने के लिए उस जाति की कलात्मक कृतियों का सहानुभूतिपूर्ण अध्ययन जरूरी है। भारतीय कला सर्वदा धर्म की सहचरी रही है। आर्य या हिन्दू-धर्म ने अद्भुत सहिष्णुता तथा अन्य धर्मों और संस्कृतियों के विशिष्ट गुणों को आत्मसात् करने की योग्यता दिखाई है। शायद, इसीलिए हिन्दू-धर्म सनातन रह सका और इसमें जीवनी शक्ति का बराबर प्रवाह रहा। ऐसे गतिशील धर्म और संस्कृति में अगणित धार्मिक परम्पराओं और पौराणिक कथाओं का समावेश अनिवार्य था। भारतीय आचार्यों और दार्शनिकों ने इस स्थूल सत्य को भी मान लिया कि जाति में सभी व्यक्तियों का बौद्धिक और आध्यात्मिक विकास एक-सा नहीं होता है; किन्तु अपने निर्धारित लक्ष्य की प्राप्ति में, प्रत्येक व्यक्ति की एक-सी अभिलाषा उचित और प्रशंसनीय है। इसलिए, हिन्दूधर्म में, अपने-अपने अधिकार और योग्यता के आधार पर, धर्मपथ की विभिन्न पगडंडियाँ निर्धारित की गई अथवा मान ली गई। एक स्तर के धर्मार्थियों के लिए जहाँ मूर्त्ति की आवश्यता अनिवार्य है, वहाँ पहुँचे हुए अध्यात्मवादियों के लिए मूर्त्ति का सहारा अत्यन्त अनावश्यक है। वृक्षों की पूजा भी इसी तर्क के आधार पर एक सीमा तक स्तुत्य है। इसलिए हम भारतीय कलाओं में—जो भारतीय धर्म के रूप और आन्तरिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति का माध्यम है—इन सभी चीजों का समावेश पाते हैं। विदेशी विद्वान् भारतीय धर्म के इतिहास और इसके विभिन्न रूप का ज्ञान रखे विना भारतीय कला के मूल्यांकन करने का विफलप्रयास करते हैं और वे हास्यास्पद बनते हैं।

हिन्दू-धर्म भक्तिप्रधान धर्म हैं। भक्तिपंथ का आरम्भ और विकास विवादास्पद हैं, पर कुछ विद्वान् वेदों और उपनिषदों में ही भक्ति-सिद्धान्त का संकेत पाते हैं। भक्तिपंथ का मूल आधार है—व्यक्ति का अपने विशेष इष्टदेव पर अटूट श्रद्धा। भक्त अपने देवता को ही सर्वशक्तिमान् समझता है, और वह अपने देवता में ही सब गुणों और सभी शक्तियों का अस्तित्व मानता है। वह अपने देवता की मूर्त्ति में इसी भाव और शक्ति की प्रतिच्छाया देखना चाहता है। इस तरह भगवान् के अद्भुत रूप और अगणित पौराणिक चमत्कारों का सादृश्य प्रकट करने के प्रयास में अनेक देवी-देवताओं के अनेक रूपों की मूर्त्तियाँ बनने लगीं। अतः प्रश्न यह नहीं है कि किन्हीं मान्य सिद्धान्तों के आधार पर ये मूर्त्तियाँ बेहूदी या भद्दी करार दी जायँ, बल्कि वास्तविकता यह है कि इन मूर्त्तियों के पीछे जो भक्ति या सर्वशक्तिमान् परब्रह्म के प्रति भय या आश्चर्य की भावना है—वह व्यक्त हुई है या नहीं। चार या आठ हाथवाले देवी-देवता तथा दो, तीन, चार और पाँच सिरवाली मूर्त्तियाँ स्वभाविक नहीं हैं, इस आधार पर ही इन्हें कला की श्रेणी से बहिष्कृत कर देना कला के वास्तविक गुणों की उपेक्षा समझी जानी चाहिए। किसी भी विदेशी कला की उचित समालोचना के लिए यह आवश्यक है कि स्वदेशी और विदेशी कलाओं में क्या अन्तर है, जान लिया जाय। यह सत्य है कि मानव-समुदाय मूलतः एक है, फिर भी मानव जाति की प्रत्येक शाखा ने अपनी संस्कृति और अभिव्यक्ति के साधन और तरीकों को विभिन्न रूप में अपनाया है। भारतीय और यूनानी कला एक दूसरे से कोसों दूर है। यूनानी, रोमन या यूरोपीय कलाकार जब अपनी कलात्मक प्रवृत्ति को पृथ्वी के जीवों और पेड़-पौधों के रूप में सौहार्दपूर्ण एवं अपरिमित इच्छा से चित्रित कर संतुष्ट होता था, तब भारतीय कलाकार अपनेसे बाहर और अलभ्य विभूति को अभिव्यक्त करने में संलग्न था। भारतीय और यूरोपीय कला के इस मूल-भेद को विना समझे, एक के विरुद्ध दूसरे की कटु आलोचना अन्याय्य होगी। रेजिनल्ड-द-मे (Reginald-de-May) ने ठीक ही कहा है—"For reasons as yet unexplained, perhaps too deep for explanation, from the dawn of European history, at least from the time of beginning of Greek art and more than 2500 years ago the mental conceptions underlying western and eastern art seems to have been poles apart".[१] ।

कृष्ण और गोपियों के चित्रित दृश्यों का उचित मूल्यांकन असम्भव है, जबतक आलोचक यह न समझ ले कि आत्मा और परमात्मा के चिरमिलन की भावना इन दृश्यों की आधार-शिला ही नहीं, वरन् प्राणतत्त्व है। भावना, विचार और दर्शन ठीक है या नहीं, इसपर आलोचक को माथापच्ची करना पत्थर पर सिर मारना होगा। उसे तो किसी देश और समाज की कला की उचित आलोचना के लिए उस देश और समाज की तत्कालीन मान्यताओं, सर्वमान्य आदर्शों, निश्चित संकेतों और लक्षणों को मान कर ही आगे बढ़ना होगा।

यूरोपीय कला के आलोचक, पश्चिम में निर्धारित कला के मापदण्ड से ही, प्राचीन भारतीय कला को जाँचते हैं। उनकी सबसे बड़ी आलोचना है कि भारतीय मूर्त्तियों में

१. *Th Culture of South-East Asia, P. 19.*

स्वभाविकता और यथार्थता का अभाव है। भारतीय नारी-सौन्दर्य की अभिव्यक्ति जिन मूर्त्तियों में हुई है, उनमें उन्नत-पीन पयोधर, अत्यन्त क्षीण कटि, विस्तृत कूल्हे और मांसल जघन वास्तविकता से कोसों दूर हैं। विदेशी आलोचक, यूनानी मूर्त्तिकला के मापदण्ड पर, इन मूर्त्तियों को कलाविहीन समझते हैं। यूनानी मूर्त्तिकला की विशेषता है—प्राकृतिक सौन्दर्य का यथार्थ चित्रण। प्रसिद्ध यूनानी देवी-देवताओं की नग्न मूर्त्तियों में हम शारीरिक सौन्दर्य, सुन्दर चेहरा और पूर्ण विकसित स्वस्थ मानव-शरीर की वस्तुतः निर्दोष आकृति देखते हैं। पश्चिमी कला-मर्मज्ञ इसी मापदण्ड पर किसी भी कलात्मक कृति को सुन्दर या कुरूप करार देते हैं। हमें यूनानी कला-कृतियों के विरुद्ध कुछ नहीं कहना है। उनकी परम्परा ही अपनी है और उस दृष्टि से प्रशंसनीय है। आँखों को सुन्दर और आकर्षक लगनेवाली ये मूर्त्तियाँ इतनी वास्तविक हैं कि इनके कलाकारों की प्रशंसा करना स्वाभाविक है। पर, प्राचीन भारतीय कला के आदर्श और उसकी परम्परा दूसरी है और किसी भी कला को एक ही कसौटी पर परखना, उस कला के प्रति अन्याय है। भारतीय कलाकार याथर्थ्य और प्राकृतिक सौन्दर्य की अभिव्यक्ति-मात्र अपना इष्ट नहीं मानते थे। पुरुष, नारी या प्राकृतिक दृश्य को यथास्थित चित्रित कर देना, उनके लिए कुछ अर्थ नहीं रखता था। भारतीय कलाकार मूर्त्तियों में उस सौन्दर्य की अपेक्षा आन्तरिक भावों के सुन्दर और पवित्र प्रकाश में ही अपनी कृति की सफलता देखते हैं। चार हाथवाले विष्णु, अष्टभुजी दुर्गा, योगासन में बैठे बुद्ध की भूस्पर्श मुद्रा अथवा पृथ्वी को पाताल से अपनी दाढ़ पर निकाल लानेवाले वाराह आदि की प्रतिमाओं में, हम आन्तरिक भावों की अद्‌भुत स्पष्टता देखते हैं। इन मूर्त्तियों में विलक्षण शक्ति-प्रवाह का प्रत्यक्ष अनुभव होता है। भारतीय कला की इस अन्तर्मुखी प्रतिभा का सानी अन्यत्र नहीं मिलता है। यह ठीक है कि किसी भी उन्नत कला के श्रेष्ठतम उदाहरणों में हम आन्तरिक सौन्दर्य और भावों का संकेत पाते हैं; पर भारतीय और यूनानी कला में सबसे बड़ा भेद यह है कि यूनानी उदाहरणों में हम आन्तरिक सौन्दर्य से विलग होकर शारीरिक सौन्दर्य से चकाचौंध में पड़ जाते हैं—हमारी दृष्टि, हमारा मस्तिष्क—सभी मानव-शरीर के इस विलक्षण सादृश्य पर स्थिर हो जाते हैं। किन्तु, भारतीय मूर्त्तियों को देखने के साथ शरीर-रचना से हटकर इनमें अभिव्यक्त भावों, आदर्शों और आध्यात्मिकता पर हमारा मन स्थिर हो जाता है। आँखों की तृप्ति से अधिक हमारी आध्यात्मिक और आन्तरिक तृष्णा को निर्मल-शान्त सलिलवाला सरोवर मिल जाता है। ऐसी प्रतिमा दर्शक और भक्त को ध्यानावस्था और आत्मविषयक तत्त्वों के ज्ञान की ओर ले जाती है जब कि स्वाभाविकतापूर्ण प्रतिमा यथार्थता को ही प्रदर्शित करती है। 'मेरी' माँ की प्रतिमा में पवित्र 'मेरी' सिर्फ एक नारी दिखाई पड़ती है। सन्त जान डेमस्केनस् के शब्दों में—"By the visible aspect our thoughts must be drawn up in a spiritual flight and rise to the invisible majesty of God"[१]। बुद्ध की मूर्त्ति में आध्यात्मिक उड़ान के द्वारा ईश्वर की अगोचर महिमा का साक्षात् किया जा सकता है। आध्यात्मिकता से अनुप्राणित कला का महत्त्व देश और काल से परे है।

इस सम्बन्ध में एक बात और। भारतीय कलाकार सिर्फ यथार्थ को ही कला नहीं मानते हैं। वे यथार्थ में प्रतिभा-प्रकर्ष का रंग चढ़ाने को कला मानते हैं, जिसे पश्चिमी

१. *Art and thought—P. 11. note 12.*

कला के पुजारी कृत्रिमता समझते हैं। जिस तरह काव्य में कल्पना के उत्कर्ष द्वारा अलंकार, अभिव्यंजना, लक्षणा आदि गुणों का सम्मिश्रण का स्थान है, उसी तरह मूर्त्तियों में भी मनोविकारों का रंग चढ़ाना कला का साफल्य वे मानते थे। जिस कला से मानव के मनोविकारों में आनन्द-स्फुरण नहीं हो, वह कला नहीं है। ऐसी अतिशयोक्तिपूर्ण भारतीय मूर्त्तिकला इस सिद्धान्त की जाग्रत पोषिका है।

प्रत्येक सभ्यता विश्व के बड़े भाण्डार में अपना विशेष योगदान देती है। किसी विशेष सभ्यता की उन्नति, उत्पत्ति और स्थिति का यही कारण तथा औचित्य है। असीरिया की सभ्यता ने सैनिकवाद, यूनान ने विज्ञान और भौतिकवाद, चीन ने सामाजिक और शासकीय संगठन एवं भारतीय संस्कृति ने अध्यात्मवाद से विश्व-सभ्यता तथा संस्कृति को समृद्ध किया है। भारतीय आध्यात्मिकता भारत की एक विशेषता है। भारतीय दर्शन और साहित्य में, कला तथा सामाजिक-धार्मिक आदर्शों में हम आध्यात्मिक संचार का अनुभव करते हैं। जीवन और सुख का लक्ष्य भौतिक सभ्यता की प्राप्ति नहीं, वरन् आनन्दमय ब्रह्म में अपनेको विलीन करने की योग्यता अर्जन करना है ; क्योंकि वही शाश्वत है, वही सत्य है। वही परब्रह्म सभी पदार्थों में व्याप्त है, और सब उसी के विवर्त्त रूप हैं। इस विचार के माननेवाले भारतीय बराबर अपने-आपको अपने भीतर ही ढूँढ़ते रहे हैं। सृष्टि के कण-कण में ईश्वर की ज्योति प्रज्वलित है। भारतीय द्रष्टाओं ने इसे केवल दार्शनिक सत्य ही नहीं माना; वरन् परमात्मा के साथ तादात्म्य-भाव का अनुभव भी किया। उन्होंने आत्मा का यह उत्थान सम्भाव्य बताया, और ध्यान तथा योग के द्वारा इस सत्य की ओर जानेवाले मार्ग का भी निर्देशन किया। भारतीय आत्मा और अनुभूति की यह सचेष्ट उड़ान, काल्पनिक न रहकर अत्यन्त श्रद्धा तथा विश्वास का पात्र बन गई। इसी भावना को भारतीय कलाकारों ने अपनी तूलिका तथा छेनी से चित्रों और पत्थरों में उतार लानेवाली श्लाघनीय प्रतिभा का परिचय दिया। प्राचीन भारतीय मूर्त्तियों में, मंदिरों और स्तूपों में, हम इसी आध्यात्मिक उद्वेग की अभिव्यक्ति पाते हैं। जितनी गहराई तक यह अनुभूति प्रकट हो सकी है, उतनी ही सफलता कलाकार को अपनी कृति में मिली है। जार्ज 'कैटलिन' ने इसी आधार पर कहा है—"भारत का यह दावा है कि संसार का कोई अन्य देश उससे अधिक आध्यात्मिक देन नहीं दे सका है और पीड़ित जगत् के लिए इससे अधिक अत्यावश्यक संदेश भी दूसरा नहीं है।" भारतीय आध्यात्मिकता के महत्त्व के विषय में प्रसिद्ध यूरोपीय विद्वान् Yacques De Marquette के विचार स्मरणीय हैं— "भारत ने ललित कला और सौन्दर्य-शास्त्र के क्षेत्र की तरह ही मानव के सांस्कृतिक विकास में भी महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। मानव की श्रेष्ठतम आत्मिक अभिलाषाओं में कला का उचित स्थान क्या हो, इन गम्भीर समस्याओं की माप भारतीय ऋषियों ने बहुत गहराई तक की है।"[१]

---

१. "In aesthetics as in all other fields India has made a great contribution to the common cultural heritage of mankind. The main problem concerning the place of art in the transcendant aspiration of the human soul have been fully fathomed by the ancient sages of India". वही पृ० २३।

भारतीय कला सादृश्य के सिद्धान्त पर खरी नहीं उतरती है ; क्योंकि इस ओर भारतीय कलाकारों का विशेष ध्यान ही नहीं था। भारतीय कला प्रकृति की अनुकृति करने की अपेक्षा किसी अन्य आदर्श को मूर्त्त रूप देने में संलग्न है। यदि हम पश्चिमी और भारतीय कला में प्राकृतिक सौन्दर्य के सादृश्यवाले नमूने पाते हैं, तो उसे आकस्मिक ही कह सकते हैं। कलाकार ने यदि प्रयास और अभ्यास के कारण यथार्थ प्रकृति को चित्रित किया है, तो शुद्ध भारतीय दृष्टिकोण से उसकी कला का यह अत्यन्त नगण्य गुण है। भारतीय कलाकार आध्यात्मिक तत्त्व की खोज में योगाभ्यास द्वारा ध्यानावस्थित हो जाता है और कलात्मक कृति के निर्माण में यही सबसे महत्त्वपूर्ण क्षण है। यथार्थ-निर्मित वस्तु तो विषय की सारभूत प्रकृति की आध्यात्मिक सिद्धि के मार्ग में मिलेगी ही। गम्भीर भावमय प्रेरणा ही कलात्मक कृति का स्रोत है; पर आवेग में जो कुछ भी किया जाय, वह कला नहीं है। कला की उत्पत्ति के लिए दीर्घ काल तक मानसिक हलचल की आवश्यकता है। बलवती इच्छा और उसकी पूर्त्ति के अभ्यन्तर-काल में अनेक प्रकार की कल्पनाओं, विचारों और छवियों का मानस-पटल पर बनने-बिगड़ने का क्रम जारी रहता है, और यही उत्सुकतापूर्ण स्थिति जब चिन्तन के क्षण में शुद्ध और शान्त होकर एकाग्र होती है, तब वही कला के सर्जन के लिए उपयोगी बन जाती है। श्री अवनीन्द्रनाथ ठाकुर ने लिखा है—"the period that intervenes between seeing and expressing is peculiarly favourable to artistic activity"। क्योंकि पवित्र और धार्मिक भावना से प्रेरित ध्यानावस्था में यह स्थिति अधिक प्रेरक होती है और यही कारण है कि भारतीय कलात्मक कृतियाँ इतनी सुसंस्कृत और स्वर्गीय विभा से व्याप्त हैं। सच पूछा जाय, तो मूर्त्ति का ढाला जाना या तराशा जाना कलाकार के कार्य का अन्तिम चरण होता है। पहले कलाकार किसी विशेष भावना से अत्यन्त प्रभावित होकर आध्यात्मिक सौन्दर्य के संयोग का मस्तिष्क में ही निश्चित रूप देता था। इससे उसे आनन्द की अनुभूति होती थी और बाद में इस आध्यात्मिक सौन्दर्य को वह मूर्तरूप देता था। इस प्रकार कलाकार, महान् अनुभव के क्षण में, अपने व्यक्तित्व की छाप कला पर छोड़ जाता था। कुमारस्वामी ने कहा है—"कलाकार को पहले सौन्दर्य का दर्शन (अन्तस्तल में ही सही) करना होगा, तभी वह उसे अभिव्यक्त कर सकेगा, इसी दृष्टिकोण से ही 'क्रोसे' का भी विचार है—"सुन्दरता आध्यात्मिक शक्ति की सम्पत्ति है।"[1]

भारतीय कलाकार सर्वदा काल्पनिक आदर्श को ही आत्मसात् कर उसके सादृश्य-निर्माण में अपनेको सार्थक समझता था। यह सर्वमान्य है कि कला का मुख्य तत्त्व निर्मल मानसिक हलचल है। अतः प्राचीन भारतीय शिल्प-शास्त्र में कलाकार के लिए योगी और ध्यानी बनना आवश्यक बताया गया है। वह जितना ही अधिक बहिर्जगत् से आँखें मूँदकर ध्यानावस्थित हो, अपने इष्ट की कल्पना में खो जायगा, उतना ही अधिक उसका इष्ट के साथ आध्यात्मिक तादात्म्य होगा और उसकी कलात्मक कृतियाँ उतनी ही मात्रा में अधिक आध्यात्मिक, सुन्दर और आकर्षक हो सकेंगी। प्रसंग में 'दाँते' (Dante) की यह उक्ति—"कौन चित्र बनाता है? जो स्वयं चित्र नहीं बन जाता, वह कभी चित्र

१. "Beauty belongs to spiritual energy".

चित्रित नहीं कर सकता।"[१] "चीन में भी शिल्पी ध्यानावस्थित हो, अपने विषय को मानसिक रूप देने पर ही, स्थूल मूर्त्त रूप देता था।"[२]

कलाकारों के लिए मध्ययुग में एकाग्रचित्त होकर क्रियात्मक शक्ति का प्रयोग यूरोप में भी जरूरी समझा गया था। पर, अपने इष्टदेव के चिन्तन में इस प्रकार तल्लीन होकर आध्यात्मिक योगाभ्यास-प्रणाली में कला का निर्माण करने का नियम भारतीयों ने ही अनिवार्य-सा माना। श्रीकुमारस्वामी ने एक जगह लिखा है—"Hindu view treats the practice of art as a form of Yoga and identifies aesthetic emotion with that felt when self perceives the self.।"[३] शुक्र ने भगवान् से प्रार्थना की है कि वे स्वप्न में ही कलाकार को उसकी मनचाही कलाकृति के निर्माण करने का ज्ञान करा दें। 'अग्निपुराण' में कलाकार को अपने कार्य आरम्भ करने के पहले मन और शरीर की शुद्धि कर लेने के लिए कहा गया है। उसे अपने इष्टदेव के साथ, जिसकी मूर्त्ति का उसे सर्जन करना है, तदाकार हो जाना जरूरी है। इस अवस्था में, जब वह ध्यान-मंत्रों का उच्चारण करता है, तब उसके सामने उसके इष्टदेव एक अद्भुत चमक के साथ मानस-पटल पर आ जाते हैं। इस झाँकी को हृदयंगम कर वह निर्माण-कार्य में लग जाता है। इस प्रकार पत्थरों में उतारी जाने के पहले ही कलाकार के मानस-पटल पर मूर्त्ति बन चुकी होती है। कहते हैं, वाल्मीकि ने रामायण लिखने के पहले ही राम के चरित्र का साक्षात्कार कर लिया था। कलाकार भी मूर्त्ति गढ़ने के पहले ही अपने विषय को प्रत्यक्ष कर लेता है, भले ही स्थूल चक्षु से बाद में देखता है। वह अपनी मूर्त्ति की प्राकृतिक सुन्दरता के लिए परेशान नहीं रहता है, वह तो मानसिक जगत् के रूप का ही सादृश्य चित्रित करता है और उसकी कृति आदर्शमयी हो जाती है। अन्तरात्मा से उद्वेलित भावनाओं के प्रतीक ये मूर्त्तियाँ अत्यन्त ही प्रभावोत्पादक होती हैं। प्रसिद्ध कला-मर्मज्ञ पुलिनशील (Pulin Seal) ने ठीक कहा है—"भारत की प्रमुख विशिष्टता यही है कि उसमें प्रकृति के सौन्दर्य और अन्तरात्मा की चेष्टाओं को यथोचित और एकात्म मूर्त्त रूप देने की योग्यता है।"[४] इसी को सादृश्य कहते हैं। भारतीय कलात्मक कृतियों में आध्यात्मिक सुन्दरता और दृष्टि-अभिराम का अतुलनीय सामञ्जस्य ही सच्ची सदृश्यता मानी गई थी। इसमें अंग-प्रत्यंगों की समविभक्तता सम्मिलित है। फिर भी, भारतीय कलाकार को सभी वैयक्तिक भावनाओं को अभिव्यक्त करने की स्वतंत्रता नहीं थी। वह तो समाज में मान्य आध्यात्मिक भावनाओं और आदर्शों को ही अभिव्यक्त करने में प्रयत्नशील रहता था। इन्हें मूर्त्त रूप देने के लिए उसे किसी प्रतिमा की प्रतिकृति

१. "Who paints a figure, if he cannot be it, cannot draw it."

२. "I see the stand in my mind's eyes and then set to work.
—*Chuang Tzn*

३. *Dance of Siva. P. P.—40-41.*

४. Studies of Indian Art—*Ke. De Be Codrungton, Luzac. 1944.*
"The genius of India consists mainly in its power to transunite the beauties of Nature and the strivings of the soul".
—*Pulin Seal,*

अपने सामने नहीं रखनी होती थी। उसे तो शास्त्रीय नियमों के अनुकूल ही, कल्पना के आधार पर, आध्यात्मिक रस से आप्लुत मूर्त्ति का निर्माण करना पड़ता था। इसलिए कलाकार को योगी और पंडित होने के साथ-साथ कुशल शिल्पी होना पड़ता था, जब कि यूरोपीय कलाकार को केवल कुशल कारीगर होना ही जरूरी समझा जाता था। भारतीय कलाकार के लिए कौशल-हीन कल्पना उतनी ही अभागिनी है, जितना बिना कल्पना के कौशल अभागा होता है।[1]

प्राचीन भारतीय कला के अधिकतर उदाहरण सुन्दर हैं और आकर्षक भी। बोधगया में मिली गुप्तकालीन बुद्ध-प्रतिमा, नालन्दा से प्राप्त विशाल मूर्तियाँ, पाल-युग के स्लेट-पत्थर की बनी 'अवलोकितेश्वर' और 'मैत्रेय' की मूर्त्तियाँ (पटना-संग्रहालय) बरबस अपनी ओर दर्शक का ध्यान खींच लेती हैं। पर, इन मूर्त्तियों की सुन्दरता का स्रोत पार्थिव नहीं है, वरन् आध्यात्मिक है। यदि यूनानी कला हमें स्वर्ग से धरातल की ओर खींच लेती है, तो भारतीय कला हमें धरती की ओर से स्वर्ग की ओर—भौतिकता से आध्यात्मिकता की ओर उड़ा ले जाती है, और यही शाश्वत सौन्दर्य है। प्रसिद्ध इटालियन विद्वान् क्रोसे (Croce) ने लिखा है कि सुन्दरता वृत्तों या रंगों का कोई गुण नहीं है, वरन् आध्यात्मिक उद्वेग का निखार है। सौन्दर्य की यह पृष्ठभूमि भारतीय कलादर्श का समर्थक रही है। हिन्दू और बौद्ध देवता की प्रतिमाओं में हम शुद्ध ढलाई की कुशलता के साथ-साथ मानव का प्रयोजन ; आत्मा के अकेलापन के साथ-साथ आसुरी शक्तियों से भीषण संघर्ष ; मोहिनी नर्त्तकियों की सर्वव्यापी कोमलता के साथ-साथ पवित्रता, भाव-तन्मयता और एकलयता पाते हैं। इहलौकिक सुख और दुःख की अभिव्यक्ति के साथ-साथ आत्मा की सुदूर उड़ान भी इन अत्युत्तम रहस्यमयी कलाओं में स्पष्ट होती है। पेरिक्लिस-युग की यूनानी कला में इन गुणों का अभाव है। यूनानी कलाकार देवता अथवा मानव की मूर्त्ति में, मानव-शरीर के रचना-शास्त्र की नकल करने में ही अपनी सफलता समझता था। शारीरिक सौन्दर्य का आदर्श-चित्रण ही बराबर इन मूर्त्तियों की ओर दर्शक को आकर्षित कर सका है। भारतीय कला पश्चिमी कला की तरह प्रत्यक्ष आदर्श की प्रतिरूपता के सिद्धान्त पर नहीं, बल्कि भाव की अभिव्यक्ति के सिद्धान्त पर दृढ़ है। वह वैयक्तिक आत्मा के प्रति उदासीन है, जब कि पश्चिमी कला में व्यक्ति ही प्रधान विषय है। भारतीय कलाकार तो चराचर में रमनेवाली आत्मा और परमात्मा को अभिव्यक्त करने की ही सतत चेष्टा करता है। पूर्वी और पश्चिमी कलाओं की इन विरोधी मान्यताओं के आधार पर ही 'किपलिंग' ने कहा है—"पूरब पूरब है और पश्चिम पश्चिम। दोनों कभी नहीं मिलेंगे।"[2]

भक्ति और योग—इन दो प्रमुख धाराओं के कारण ही भारतीय कला अपनी विशिष्ट भारतीयता प्रकट कर सकती है। यूरोपीय कलाकृतियों का लक्ष्य है—मानव की सौन्दर्य-भावना और आवेग की तुष्टि। पर, भारतीय कलाकृतियाँ अपने इष्टदेव के प्रति भक्त की समर्पण-भावना की उपज हैं। श्रद्धा और भक्ति के ये उपकरण योगाभ्यास द्वारा ही सम्भव हो सके हैं। अतः इन कृतियों में सहृदय आलोचक इन भावनाओं की

---

१. Vision without technique is as unfortunate as skill without vision.

२. East is east and west is west, and never the twain shall meet.

अधिकतर अभिव्यक्ति पाते हैं। महात्मा गांधी ने, जो भारतीय आत्मा की सजीव मूर्त्ति थे, भारतीय कला के इस विशिष्ट गुण की यूरोपीय कला से तुलना करते हुए लिखा था—"मैं यह नहीं समझता कि यूरोपीय कला भारतीय कला से उत्तम है। दोनों कलाएँ दो भिन्न-भिन्न दिशाओं में विकसित हुई। भारतीय कला का आधार कल्पना है।"[१] लुईफिशर ने भी लिखा है—"यूरोपीय कला प्रकृति की नकल है। इसलिए इसे समझना आसान है, पर यह हमारा ध्यान पृथ्वी की ओर आकृष्ट करती है; जब कि भारतीय कला हमारे विचार को स्वर्ग की ओर प्रेरित करती है·······सच्ची कला आत्मा की अभिव्यक्ति है····उसे चाहिए कि आत्मा को जानने में मदद दे। ऐसी सच्ची कला सिर्फ आकृति को ही नहीं, वरन् उसके अंदर जो है, उसे भी प्रकट करने की क्षमता रखती है।"[२] लुईफिशर के इस विचार से आधुनिक पश्चिमी आलोचकों के बदलते दृष्टिकोण का प्रमाण मिलता है। जान पड़ता है, भारतीय कलात्मक कृतियों में व्याप्त आध्यात्मिकता ही ऐसे पश्चिमी कला-मर्मज्ञों को बरबस अपनी ओर खींचती है। पूर्वीय कला के उत्तम उदाहरणों के देखने से ऐसे आलोचकों की बहिरिन्द्रियों को ही आनन्द नहीं मिलता, वरन् उनकी आत्मा भी पुलकित हो जाती है—"मैं आकृति की सुन्दरता देखता हूँ; पर यह किसी विशेष प्रकार का यूरोपीय शारीरिक सौन्दर्य है और कुछ नहीं। इसमें कोई विश्वव्यापी संदेश नहीं है और न यह कला प्रकृति के अत्यन्त गम्भीर भावों को ही छूती है। पर जब मैं पूर्वीय कला के उत्तम उदाहरणों पर अपनी दृष्टि गड़ाता हूँ, तब मेरी अन्तरात्मा भी संतुष्ट दीख पड़ती है और बाह्य इन्द्रियों को भी पूर्ण तृप्ति मिलती है।"[३]

भारतीय कला का प्रयोजन प्रायः सदा धार्मिक रहा है, इसलिए इसमें आध्यात्मिकता की छाप गहरी पड़ी है। यूरोप में भी नवजागरण के युग की कला की प्रधान प्रेरणा धार्मिक ही थी। उस समय अधिकतर मूर्त्तियाँ या चित्र जो गढ़े या रँगे गये, वे धर्म-सम्बन्धी थे और गिरजाघरों की शोभा बढ़ाते थे। किन्तु, तब भी प्रभु ईसामसीह और

---

१. 'I donot think that European art is superior to Indian art. Both these arts have developed on different lines. Indian art is based entirely on imagination'.

२. 'European art is an imitation of nature. It is, therefore, easier to understand but turns our attention to the earth, whereas Indian Art, when understood, tends to direct thoughts to heaven......... True art is thus an expression of the soul. All true arts must help the soul to realise its inner self.........True art takes note not merely of form but also of what lies beyond.'

Louis Fisher : Mahatma Gandhi, P.P. 322-23

३. 'I see the beauty of the form, but it is a physical beauty of a particular European type and there it ends. There is nothing universal in appeal and it touches none of the deeper chords of the nature. But where I gaze at the finest examples of eastern art, I find that my spirit is satisfied as well as my mere superficial senses'.

—Reginald-de-May : P. 21.

कुमारी 'मेरी' की मूर्त्तियों या चित्रों में निर्मल आध्यात्मिक रस नहीं मिलता है। यहाँ 'रेजिनल्ड-द-मे' के वाक्य पुनः उद्धरणीय हैं—"मैं चेष्टा करके भी प्रभु ईसामसीह और माँ 'मेरी' की उन मूर्त्तियों में, जो इटली के गिरजाघरों की शोभा बढ़ा रही हैं, आध्यात्मिक आकर्षण नहीं अनुभव करता हूँ। मुझे आश्चर्य होता है कि कितने कलामर्मज्ञ इन मूर्त्तियों से आध्यात्मिक प्रेरणा पाते होंगे? यद्यपि ये (कुछ को छोड़कर) मूर्त्तियाँ उत्कृष्ट कला के उदाहरण हैं, तथापि इन मूर्त्तियों को देखकर न मानसिक शान्ति, न भक्ति और न आन्तरिक गर्व की भावना का अनुभव होता है। कुछ को देखकर तो मेरा मन भड़क जाता है और कुछ मूर्त्तियों को देखकर मैं पुलकित हो जाता हूँ। इस अन्तर का कारण मेरी समझ में यह है कि बौद्ध कलाकार अपने चित्र या मूर्त्ति में अपनेसे उन्नत देवपुरुष को प्रतिविम्बित करता था और उसका अभिप्राय विशुद्ध धार्मिक था, न कि कला का सचेत चित्रण। पश्चिमी कलाकार तो इटली, जर्मनी, फ्रांस और इंगलैंड के गिरजाघरों को विभूषित या अलंकृत करने के लिए नियुक्त हुए थे। वे केवल कुशल चित्रकार या शिल्पी थे, न कि आध्यात्मिक भावनाओं से अनुप्राणित। वे मात्र कलाकार थे।"[१] बुद्ध की योगासीन मूर्त्ति में आध्यात्मिक रस छलकता है। बुद्ध पैर-पर-पैर चढ़ाये (योगासन पर) बैठे हैं, गोद में उनका एक हाथ दूसरे पर पड़ा है। बुद्ध ध्यानावस्थित हैं, पीठ तनी हुई है, आँखों की पुतलियाँ नीचे झुकी हैं, मानों वे मन और इन्द्रियों को अन्तःकरण की ओर प्रेरित कर रही हैं—एक महीन वस्त्र, बायें कन्धे से होकर लटक रहा है। मूर्त्ति अपनी चौड़ाई की माप के अनुसार ही लम्बी है, जो शान्ति-भावना को व्यक्त करने में सहायक है। वह साधारण रीति से गढ़ी गई है। भरे हुए और गोलाई लिये अंग इतने तरल हैं कि एक-दूसरे से घुल-मिल गये-से दीख रहे हैं। यहाँ स्पष्ट प्रतिभासित होता है कि कलाकार का ध्येय केवल बुद्ध के पार्थिव शरीर को मूर्त्त करने का कदापि नहीं था; बल्कि यह था कि दर्शक उस मूर्त्ति से आध्यात्मिक सिद्धि की अनुभूति

---

१. "There is for me, very little spiritual appeal in the figures of our lord, and of the Madonna that adorn Italian churches inspite of an obvious attempt to endow them with such and I wonder how many of the artistic souls who admire them are filled with any spiritual inspiration. Indeed with a few notable exceptions although they may be works of great artistic merit, these figures fill my spirit with neither devotion nor peace of mind, nor do they give my inner vision any sense of glory. In some cases I feel something almost akin to repulsion, in others the reaction is more physically satisfying than is intended.........I think the difference lies in this. The Buddhist artist painted his picture or fashioned his image to represent a being far more exacted than himself purely for religious edifications and not as a conscious work of art while the western artist was chosen to adorn the churches of Italy, France, Germany and England mainly because he was an expert painter or sculptor and not because he was a man of ardent spiritual feeling who happened to be a skilled artist. वही पृ०, २२-२३,

प्राप्त करें। ऐसी मूर्त्ति शक्तिहीन शान्ति का प्रतीक नहीं, वरन् अत्युत्तम आध्यात्मिक सिद्धियों पर विजय का प्रतीक है। गार्डनर (Gardner) ने कहा है—"भाव या कल्पना का नैतिक महत्त्व रूप के मधुर सौन्दर्य और ऐश्वर्य के अनुकूल है।"[१]

भारतीय कला में यथार्थता की उपेक्षा की आलोचना, अंशतः ठीक भी है। भित्ति-चित्रों में और पत्थरों में खुदे दृश्यों में जहाँ-जहाँ पशु, वृक्ष आदि मिलते हैं, अपनी सजीवता और सादृश्य के लिए श्लाघनीय हैं। रमपुरवा ग्राम में प्राप्त साँढ़ का शिरो-भाग, बोधगया की वेष्टन-वेदिका (रेलिंग) के स्तम्भों पर उभरे पुरुष और स्त्री के प्रेममय दृश्य, राजगृह और नालन्दा में प्राप्त महीन बालू-चूने की मूर्त्तियों, वृक्ष की टहनी पकड़े सुन्दरी यक्षिणी की मूर्त्ति आदि प्राकृतिक तथा शारीरिक सौन्दर्य की दृष्टि से अत्यन्त आकर्षक हैं। भरहुत और साँची के स्तूपों की वेष्टन-वेदिका (रेलिंग) पर उत्कीर्ण चित्रों में पशुओं और वृक्षों का चित्रण भी सफल है; पर प्राचीन भारतीय कला में प्राकृतिक दृश्यों का स्वतंत्र चित्रण का अभाव है। यूरोप और आधुनिक कला की परम्परा में इस प्रकार के चित्र लोकप्रिय हैं। प्राचीन भारतीय कला के उदाहरणों में हम नर-नारी, पशु-पक्षी, जल-स्थल और वृक्ष तथा उसकी टहनियों का सुन्दर सामञ्जस्य देखते हैं। शाल-भंजिका यक्षिणी की सुडौल-कोमल बाँह, पतली उँगलियाँ, पैरों की स्निग्धता तथा शरीर की लोच आदि पतली टहनियों के लचीलेपन से बिल्कुल हिल-मिल जाती हैं। प्रकृति और जीव की इतनी सुन्दर एकरूपता कहीं अन्यत्र नहीं मिलती।[२] प्राकृतिक विषय का महत्त्व प्रधान पात्र या कहानी को समझाने के माध्यम के नाते ही माना गया। इसी मान्य सिद्धान्त के आधार पर भारतीय कलाकारों ने दृष्टि-सम्बन्धी इन्द्रजाल (optical illusions) की और किसी मुख्य स्थान से देखी जानेवाली आकृति के समुचित ज्ञान (sense of perspective) की भी उपेक्षा की है। जब हम किसी स्थान से कोई झुण्ड देखते हैं, तब आँखों से दूर के दृश्य छोटे दीखते हैं और नजदीक के बड़े। वास्तव में बात ऐसी नहीं है; यह तो दृष्टि का भ्रम है। यूरोपीय कलाकारों ने और यूनानी संगतराशों ने दृष्टि के इस इन्द्रजाल का वास्तविक चित्रण किया है। पर, भारतीय कलाकारों की दृष्टि में यदि झुण्ड के प्रत्येक सदस्य का महत्त्व एक-सा है, तो वे सभी को एक-सा ही चित्रित करने में, एक ही आकार के बनाने में, हिचकिचाहट नहीं अनुभव करते। सम्भव है, उन्हें दृष्टि के इस इन्द्रजाल का ज्ञान नहीं हो, पर उनके द्वारा इस भ्रम की उपेक्षा करना तर्क-संगत ही था। 'बराबर' पहाड़ (गया) पर लोमष ऋषि की गुफा के द्वार पर हाथियों के झुण्ड द्वारा स्तूप की पूजा करने का दृश्य उत्कीर्ण है। उसमें सभी हाथी बराबर कद के हैं। यह दृष्टि-सम्बन्धी सिद्धान्त के विरुद्ध है और वास्तविकता से परे भी। इसी प्रकार भरहुत में बोधि-वृक्ष के खुदे दृश्य में एक स्तर से दीख सकनेवाली सीमित क्षमता के ज्ञान का अभाव है।[३] इस दृश्य में बोधि-वृक्ष, वेष्टन-वेदिका (रेलिंग) और छत्र

---

१. "The moral grandeur of the concept equals the aesthetic grandeur of the form". —*Art through the Ages. P. 202*

२. चित्र-संख्या—१

३. चित्र-संख्या—२

हैं। वेष्टन-वेदिका वृक्ष को चारों ओर से घेरे हुई है, पर उसे इस प्रकार चित्रित किया गया है कि जिससे चारों दिशाएँ दीख पड़ती हैं। वृक्ष भी पूर्ण रूप से दीख पड़ता है। छत्र इस प्रकार चित्रित किया गया है, जिससे उसके अन्दर की छाया देनेवाली छतरी भी दर्शक को दीख पड़े। इस प्रकार सभी दृश्यों को पूरी तरह दर्शक के लिए खुला रखा गया है। एक ही सतह पर दृष्टि की परिमितता के प्रयोगसिद्ध सिद्धान्त की यह अवहेलना आधुनिक कला-आलोचकों को खटकती है; क्योंकि इस दृश्य में वेष्टन-वेदिका ऊपर से देखी गई है, जहाँ से चारों दिशाएँ देखी जा सकती हैं। वृक्ष को बगल से देखे जाने योग्य चित्रित किया गया है और छत्र को ऊपर की ओर देखनेवालों की आँखों के आधार पर। इस प्रकार आधुनिक वैज्ञानिक या वास्तविक कसौटी पर यह दृश्य अप्राकृतिक है। इसी तरह अन्य दृश्यों में भी जड़ या जीव पदार्थों का आकार वास्तविकता से दूर है। देवदत्त के द्वारा भेजा गया मत्त हाथी भगवान् बुद्ध के सामने निरीह ही नहीं; अपितु उसकी तुलना में आकार में भी अत्यन्त छोटा दिखाया गया है।[1] पर, जब 'माया' देवी के स्वप्न में भगवान् बुद्ध श्वेत हाथी के रूप में आते हैं, तब उस हाथी का आकार 'माया' से छोटा नहीं है।[2] कमलासना श्रीमा के दोनों ओर अभिषेक करते हुए हाथी कमलासन से अधिक बड़े नहीं दिखाये गये हैं।[3] अतः यह स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीय कलाकारों को कला के आधुनिक मान्य सिद्धान्तों की चिन्ता न थी। किन्तु, आधुनिक दृष्टिकोण से प्राचीन कला को हेय समझना नादानी होगा। भारतीय कलाकार निष्कपट भाव से अपने विषय के प्रतिपादन में दत्तचित्त थे। उनके चित्रित दृश्यों में पदार्थों का आकार और रूप प्रधान विषय तथा उसके प्रति उनके सम्बन्ध पर निर्भर थे। इस सत्य की ओर से आँखें मूँदकर इन कला-कृतियों की आलोचना निष्पक्ष नहीं है।

भारतीय और यूरोपीय कलाओं में विभिन्न प्रणालियाँ (Technique) अपनायी गई हैं। यूरोपीय कलाकार अपनी कृति में दर्शकों को उन सभी चीजों को दिखाने की चेष्टा करता है जो वह स्वयं देखता है और जिस तरह देखता है। पर भारतीय या चीनी कलाकार रेखाओं के प्रयोग में मितव्ययी थे। वे अपने विषयों को चित्रित करने में अल्प स्थान और थोड़े-से दृश्यों का सहारा लेते थे। उनका ध्यान इस ओर रहता था कि वे अपने विषय के प्रमुख अंगों को ही दर्शक के सामने रखें और दृश्य के विस्तृत विवरण दर्शक की कल्पना के जिम्मे छोड़ दें। दृश्यों के चित्रण में मितव्ययिता, चित्रों की आध्यात्मिकता और रस का मधुर प्रवाह अपने इन गुणों के कारण ही भारतीय कला सदैव से दर्शकों की अनुभूति को संतुष्ट करती रही है।

भारतीय शिल्पियों और भक्तों के लिए प्रतिमा का रहस्यमय महत्त्व था। देवता की ऐन्द्रजालिक शक्ति उसकी प्रतिमा में भी अवतरित हो, अतः प्रतिमा का, शुद्ध निर्धारित नियमों के अनुकूल, निर्माण अत्यन्त आवश्यक था। ऐसी प्रतिमा ही मंगल और अमंगल-कारक हो सकती है, ऐसा विश्वास था। यदि प्रतिमा अधूरी रह गई, तो यह अमंगलकारी

---

१. देखें—चित्र-संख्या—३

२. ,, चित्र-संख्या—४

३. ,, चित्र-संख्या—५

ही नहीं, बल्कि महान् अपराध माना जायगा। अधूरी प्रतिमा में दैवी शक्ति का निवास असम्भव है। यद्यपि दृष्टिभेद (Perspective) के सिद्धान्त पर ये चित्रित दृश्य अत्यन्त खोटी नजर आयँगे, तथापि इनके आधारभूत सिद्धान्त के दृष्टिकोण में इनका उचित मूल्यांकन होना चाहिए। यह ठीक है कि हमें ऐसे अनेक उदाहरणों में ऐसी चीजें दिखाई पड़ती हैं जो दृष्टि से साधारणतः बाहर ही रही होंगी। पर, भारतीय कलाकार की चेष्टा तो कभी ऐसी रही नहीं कि यथास्थिति ही चित्रण हो। वह तो सिद्धान्तः प्रकृति का केवल अनुकृतिकारक नहीं था, बल्कि आन्तरिक भावना और कल्पना का स्वच्छन्द संचारक था। यीने औबोयर (Yeanne Auoboyar) ने लिखा है—

"यह एक निश्चित प्रमाण है कि पश्चिमी कलाकारों की तरह भारतीय कलाकारों ने जो कुछ देखा, उसे हूबहू उतार लेने की कोशिश नहीं की। दोनों ने यद्यपि एक ही चीज देखी, तथापि अपनी आन्तरिक दृष्टि से उसकी मुख्य विशेषताओं को जैसा जाना उसका वैसा ही मूर्त्त रूप दिया या देने की चेष्टा की। क्योंकि, प्राचीन कलाकारों ने चित्रित दृश्यों को अपनी कल्पना के अनुरूप ही समझा, इसलिए उनके दृष्टि-भेद की असम्भावनाओं को कौशलहीनता के उदाहरण नहीं समझना चाहिए; जैसा कि यूरोप में 'लियोनार्ड-डि-विन्सी' के बाद प्रत्यक्ष हो जाता है।"[1] वास्तव में दोनों दृष्टिकोण ही अलग हैं। लियोनार्ड-डि-विन्सी ने यह सिद्धान्त निश्चित किया कि आँखों से सीधी (काल्पनिक) लकीरें दूर क्षितिज पर मिलती हैं, इसलिए जैसा दिखाई पड़ता है, कलाकारों ने वैसा ही चित्रित किया। पर, भारतीय कला-परम्परा या पूर्वीय परम्परा ही इसके विपरीत है। यहां तो दृश्य से ही लकीरें आँखों की ओर बढ़ती हैं और मिलती हैं। इसीलिए, जो हिस्सा आँखों से दूर है, वह निकट से अधिक बड़ा दिखाई पड़ेगा। क्योंकि, भारतीय कलाकार काल्पनिक दृश्यों को ही उतार लेने में संलग्न थे, अतः उन्हें उसी एक ही दृश्य या मूर्त्ति को अनेक लकीरों के द्वारा एक ही रचना में, दिखाने की पूर्ण स्वतंत्रता थी।

भारतीय कलाकृतियों में मानव, पशु और जड़ पदार्थों का पर्याप्त स्थान है। इन सब को चित्रित करने में कलाकार का यह प्रयास रहा है कि सृष्टि के इन सभी प्रतिनिधियों को एक सूत्र में बाँधा जाय। सृष्टि का कण-कण एक ही शक्ति से अनुप्राणित है, कोई बड़ा या छोटा नहीं है—विषय के अनुसार ही एक प्रधान और दूसरा गौण हो जाता है। भारतीय दृश्यों में सभी पदार्थ प्राणमय और स्फूर्त्तिमय दीखते हैं, वे जड़ हों या चेतन। भारतीय कलाकारों का यह निष्पक्ष आचरण और प्रबन्ध, भारतीय आत्मा की सहृदयता

---

१ "Here there is a certain proof that Indian artists unlike their western counterparts did not attempt to reproduce what they saw as they saw it but rather as they knew it to be......mental picture in which it appeared with its essential characteristics. Since the ancient artists considered pictorial representation as mental images, optical improbabilities were not the admission of a lock of skill such as they become in western art after Leonardo-de-Vinci".

Art and letters; Vol. XXII No. 1.

का ज्वलन्त प्रमाण है। इन दृश्यों में हम प्राकृतिक दृश्यों का विशेष चित्रण नहीं पाते; क्योंकि दृश्य की प्रत्येक वस्तु स्वयं प्रकृति का प्रतिनिधि है और उन सबका समुचित चित्रण हुआ है। 'कुरंगमृग' जातक के दृश्य 'भरहुत' की वेष्टन-वेदिका पर खुदे हैं। इनमें जंगल का दृश्य नहीं है—जंगल की कल्पना का संकेत किया गया है। पर, इस अभाव में दृश्य की स्वाभाविकता कमी नहीं है और न विषय-प्रतिपादन की योग्यता ही अधूरी है। सिन्धु-घाटी की प्राचीन कला में वृक्ष, पशु और मनुष्य को एक साथ चित्रित किया गया है और यही परम्परा आगे चलकर भारतीय कला की विशेषता बन गई है। पत्थरों पर कोरे दृश्यों में या भित्ति-चित्रों में—पशु, मानव और जड़ पदार्थ परस्पर भिन्न नहीं, वरन् अभिन्न सम्बन्ध स्थापित किये हुए दिखाये गये हैं। ब्राह्मण और बौद्ध—दोनों धर्मों के विश्व-साहचर्य और मानव तथा प्रकृति में तदात्मीयता की भावनावाले विचार से भारतीय कला सदैव प्रेरणा लेती रही है। सभी चेतन और जड़ पदार्थों को सृष्टि-जगत् में सदियों से पूर्ण हिस्सा लेते हुए दिखाया गया है। भारतीय वातावरण और समृद्धि में नाना प्रकार के फूल-फल, जीव-जन्तु, पेड़-पौधे जनमते हैं, बढ़ते हैं और साथ-साथ हिलते-मिलते हैं। इसी की छाया भारतीय कला पर भी पड़ी है। देवी-देवताओं के झुण्ड के साथ-साथ पशु-पक्षी और घनी वनानी को भारतीय धर्मप्रधान मूर्त्तियों में अंकित किया गया है। स्वर्ग, धरातल और पाताल के सभी प्राणी एक ही रसार्द्रपूर्ण आध्यात्मिक उल्लास से अनुप्राणित और साथ-साथ बँधे हैं। भारतीय कला में विषयासक्त आकर्षण और जीवन की परिपूर्णता को दीर्घसूत्री व्यवस्था में अभिव्यक्त किया गया है। संसार की कला के इतिहास में नारी-शरीर के स्निग्ध और निर्मल सौन्दर्य को शान्त पत्थर में ढालने में ऐसी सफलता कदाचित् ही मिलती है। अन्य वस्तुओं पर मानव का प्रभुत्व यूरोपीय कलाकारों ने अपनी कलाकृतियों में मान लिया है और उनकी कला में इस भावना की पूर्णरूपेण अभिव्यक्ति भी हुई है। पर, भारतीय दर्शन और कला ने इस सिद्धान्त की प्रधानता नहीं दी है। भारतीय कला में मानव श्रेष्ठ नहीं है, वरन् सृष्टि का एक अंग है। प्रकृति की गोद में सब हिले-मिले हैं। सृष्टि के सभी जड़ और चेतन पदार्थों के साथ भाई-चारे का सम्बन्ध है। इसलिए, इनकी कला में दृश्य के सभी अंगों का चित्रण एक ही प्रकार की एकाग्रभावना और ईमानदारी से किया गया है और इनमें प्राणों का प्रवाह दिखाया गया है। चित्र का प्रत्येक भाग सजीव-सा लगता है और सब एक-दूसरे के सहयोगी तथा प्रधान विषय की कहानी कहते दिखाई पड़ते हैं। दृश्य में कोई वस्तु व्यर्थ नहीं है। इसके सभी अंग प्रधान विषय की पूर्णता पहुँचाने में, सहायक के तौर पर, अपनी सीमा में ही हैं। भारतीय कला का यह गुण अत्यन्त प्रशंसनीय है।

विश्व-साहचर्य की इस भावना से प्रेरित हो भारतीय कलाकार अपने चित्रों को अत्यन्त घना बनाते थे। यूरोपीय कलाकार स्थान की रिक्तता पर जोर देते हैं, पर प्राचीन भारतीय कलाकार अपनी कलाकृतियों को—प्रकृति की समृद्धि व्यक्त करने में—पशु, वृक्ष, मानव, फूल इत्यादि से भर देते हैं। जीवन के घनत्व और विभिन्न उपकरण चित्रों में अत्यन्त प्राणमय और शक्ति से संचरित लगते हैं। जीवन की इस रहस्यमय

लय की, लम्बे कमल-नाल के माध्यम से, सुन्दर अभिव्यक्ति की गई है। कमल सृष्टि का प्रतीक माना गया है। भरहुत, साँची तथा बोधगया की वेष्टन-वेदिका (रेलिंग) पर उभरे दृश्यों में या कथाचित्रों में हम कमल-नाल को, एक छोर से दूसरे छोर तक, समूचे दृश्य को लपेटे देखते हैं। इन विभिन्न दृश्यों में जीवन का एक ही प्रवाह उद्वेलित है और इस भावना का चमत्कार पूर्णतया स्पष्ट है।[1] जीवन का उतार-चढ़ाव और मृत्यु से जीवन की ओर सृष्टि के निरन्तर बहाव की अभिव्यक्ति कमल-नाल की कली तथा कली से विकसित फूल के रूप में की गई है। यही कारण है कि भारतीय कलाकृतियों में हम निरन्तर स्फूर्त्ति पाते हैं। ठोस पत्थरों पर उत्कीर्ण इन दृश्यों में इतनी स्फूर्त्ति और गति देना उच्चतम कलाकारों के लिए ही सम्भव था।

भारतीय मूर्त्तियों या चित्रित दृश्यों के आदर्श या तो काल्पनिक होते थे या अन्तर्ज्ञान-संभूत थे। इसीलिए, वैयक्तिक प्रतिभा के विकास का पूर्ण अवसर प्राप्त था। पर, भारतीय कला तो वैयक्तिक आनन्द या आर्थिक लाभ की वस्तु थी ही नहीं। वह तो धर्म और दर्शन के व्यक्तीकरण का साधनमात्र थी, अतः अनुभव और परम्परा के आधार पर कलाकारों के लिए कुछ निर्धारित नियमों का पालन करना अनिवार्य होता था। जब भारतीय धर्मों में अनेक देवी-देवताओं और उनके सम्बन्ध की पौराणिक कथाओं तथा अद्भुत अमानवीय कार्यों का प्रचार हुआ, तब भारतीय कला को इन प्रवृत्तियों, मान्यताओं एवं कथाओं के चित्रण करने में अनेक बंधन स्वीकार करने पड़े। भगवान् बुद्ध की प्रतिमा को अपेक्षित मुद्रा में, किस प्रकार दिखाया जाय; चतुर्भुज विष्णु और अष्टभुजी दुर्गा के हाथों में कौन-कौन-से आयुध रखे जायँ; बौद्ध देवी तारा की भंगिमा कैसी हो--इन सभी विस्तृत एवं वर्णित नियमों का पालन करना कलाकारों के लिए अनिवार्य हो गया। शिल्प-शास्त्रों और मूर्त्ति-विज्ञान-सम्बन्धी नियमों की बाढ़-सी आ गई। इन नियमों का उल्लंघन एक कलाकार के लिए पाप ही नहीं होता, वरन् उसकी कृति कौड़ी के मोल हो जाती थी। इन जटिल और विस्तृत निर्धारित नियमों के बन्धन से जकड़ा हुआ भारतीय कलाकार अपनी स्वतंत्रता तो जरूर खो बैठा--और मध्ययुग की कुछ मूर्त्तियों में हम इन बन्धनों का कुप्रभाव भी पाते हैं जिससे इन मूर्त्तियों में जीवन के तत्त्व और सौकुमार्य नियमनिष्ठता के प्रभाव में दब गये हैं—पर इसकी श्रेष्ठता का इससे अच्छा उदाहरण क्या मिलेगा कि इन नियमों का निष्ठापूर्वक पालन करते हुए भी उसने अपनी अनेक सुन्दर कृतियों में कोमलता और जीवन-शक्ति का प्रवाह, गति और स्पन्दन का अद्भुत सामञ्जस्य स्थापित किया और इस प्रकार अपनी क्रियात्मक प्रतिभा को कुंठित नहीं होने दिया। भगवान् बुद्ध की खड़ी मूर्त्ति में भी हाथों की विभिन्न मुद्राओं के मुखमंडल पर व्याप्त तेज, ओठों पर करुणा एवं आनन्दमय आत्मिक मुस्कान के द्वारा कलाकार ने संयत रूप में एक अद्भुत गति प्रवाहित कर दी है। यह वैशिष्ट्य सभी श्रेष्ठ कृतियों में पाया जाता है। पाल-युग में जब मूर्त्ति-विज्ञान अत्यन्त ही जटिल हो गया था; क्योंकि उसके नियम कठोर और विस्तृत हो गये थे, तब कलाकारों ने मूर्त्तियों में अनेक प्रकार की लोच के द्वारा शक्ति और गति प्रदर्शित की है।

१, देखें—चित्र-संख्या ६

यूनानी मूर्त्तिकार देवी-देवताओं की मूर्त्ति, मानव के स्वस्थ और निर्दोष शरीर के आदर्श पर, गढ़ते थे। इस प्रयास में स्वाभाविकता का जितना अधिक संबल लिया जाता था, कृति उतनी ही उत्कृष्ट समझी जाती थी। शरीर-रचना-विज्ञान पर पूरा ध्यान दिया जाता था। शारीरिक सौन्दर्य की अनुपम अभिव्यक्ति इन प्राचीन यूनानी मूर्त्तियों में स्पष्ट है। पर, भारतीय मूर्त्तिकार वास्तविकता के बन्धन से स्वतंत्र थे। उन्होंने अपने इष्टदेव की प्रतिमा में मानव-शरीर का आदर्श प्रतिविम्बित नहीं किया। बल्कि, वे अपने काल्पनिक सौन्दर्य को पत्थरों पर उतार लेने के प्रयास में लगे रहे। वे अपने इस गुण के कारण ही यूनानी कलाकारों से बाजी मार ले गये। 'हेवेल' ने इन दोनों कलाओं की तुलना करते हुए कहा है—"यूरोपीय कला में मानों सुन्दरता के पंख ही काट डाले गये हों। वह सिर्फ पृथ्वी पर व्याप्त सुन्दरता को ही जानती है। भारतीय कला अपनी ऊँची उड़ान में निरन्तर ही स्वर्गीय सौन्दर्य को धरातल पर उतार लाने में सचेष्ट है।"[१]

अपने देवता या देवी के लिए भारतीय कलाकारों ने सिर्फ आदर्श पुरुष-सौन्दर्य या नारी-रूप की कल्पना का ही केवल सहारा नहीं लिया। पशु, वृक्ष, उनकी टहनी, फूल-फल—यानी सभी से, इन्होंने अपने इष्टदेव के शरीर-सौन्दर्य के निखार के लिए, कुछ-न-कुछ लिया। इन बहुतेरे विशिष्ट गुणों और आकृतियों को एकत्र कर एक अमानवीय, पर अत्यन्त सुन्दर और आकर्षक मूर्त्ति का निर्माण किया। इस कारण भगवान् बुद्ध, विष्णु, नटराज शिव, अवलोकितेश्वर, तारा, दुर्गा तथा यक्षिणी की प्रतिमा में, इनके भिन्न-भिन्न अंगों में, प्रकृति के अनेक गुणों का सामञ्जस्य मिलेगा। इन यक्षिणियों, शालभंजिकाओं और अन्य देवियों की सुन्दर तथा आकर्षक मूर्त्तियों के आदर्श 'नारी' नहीं रही है; बल्कि समृद्ध प्रकृति के प्रांगण से कोमल कुसुम चुने गये हैं, जिन्हें यथाविधि सजाकर सुन्दर और स्वस्थ मूर्त्तियाँ बनाई जा सकी हैं। भौंहें अनंग-देव की प्रत्यंचा हैं, अरुण अधर आम्र-किसलय या पके बिम्बफल हैं; केशपाश सावन की काली घटा, स्तन ताजे पुष्पों के पुष्ट गुच्छे अथवा चक्रवाल युगल हैं, नितम्ब नदी का विस्तृत कूल है, और क्षीण कटि केहरि-कटि। अंगयष्टि लहराती लता है, तथा पादयुगल अरुण कोकनद। उसकी चाल-गयंद अथवा मराल की तरह मस्त है। यहीं हमें सृष्टि की विविधता में एकरूपता की अनुभूति पूर्णरूपेण होती है। 'हेवेल' साहब के मत में लम्बी बाँहें प्रारम्भिक आखेट-प्रिय पूर्वजों से ली गई हैं, यद्यपि इसका बहुलांश हाथी की सूँड़-सा लगता है। चौड़ी छाती और पतली कमर वनराज सिंह के गुण हैं, सुडौल, किन्तु पतले पैर द्रुतगामी मृग से लिये गये हैं। यक्षिणी की सुडौल बाँहों की सुकुमारता शिरीष-पुष्प से और जाँघों की स्निग्धता और बनावट कदली-स्तम्भ से मेल खाती है। बुद्ध और विष्णु की आँखें कमल के समान हैं। अनुभव और शिल्पशास्त्र के विकास के साथ-साथ आचार्यों ने महापुरुष के लक्षणों

१. "European art, as it were, its beauty clipped; it knows only the beauty of the earthly things. Indian art soaring into the highest expression is ever trying to bring down the earth something of the beauty of the things above."

की व्याख्या कर डाली। पुरुष और नारी-सौन्दर्य के अपेक्षित गुणों की एक सूची बन गई। कलाकार इन काल्पनिक आदर्शों को ही मूर्त्तिमान् करने में अपनी योग्यता का परिचय देता था। बुद्ध और विष्णु की प्रतिमाएँ महापुरुष के निर्धारित लक्षणों के आधार पर ही गढ़ी गईं। उनके विचार से मनुष्य की आन्तरिक भावना की अभिव्यक्ति कला का उचित क्षेत्र था। इसलिए, उन्होंने काल्पनिक आदर्श पुरुष और नारी के लावण्य को प्रतिविम्बित किया। जब देवी-देवताओं के मानव-रूप की कल्पना की गई, तब कलाकारों ने, शास्त्रीय नियमों के अनुसार, प्रतिमा का सौन्दर्य मानव की सुन्दर आकृति से उच्च स्तर पर अधिक सुन्दर और अद्भुत प्रकट करने की कोशिश की। मूर्त्ति ईश्वर या इष्टदेवता की प्रतिच्छाया का संचार है, उसकी ही पूजा की जाती है! इसलिए स्वाभाविक था कि पूज्य की प्रतिमा में अपने से अधिक सौकुमार्य और सौन्दर्य का निर्माण हो। भारतीय कलाकार को किसी विशेष देवी या देवता की प्रतिमा में उस देवता के विशिष्ट गुण और रूप को ही अभिव्यक्त नहीं करना था; बल्कि अपनी संगतराशी के द्वारा मूर्त्ति की अत्यन्त रहस्यमयी मुद्राओं का और देवता की उन विभिन्न भावनाओं का—रौद्र, हास्य, करुण, चिन्तन प्रभृति जिन रूपों में देवता अपने भक्त की आँखों के सामने दीख पड़ सकते थे, इन सबका —मूर्त्ति में प्रदर्शन करना था। इसके मानी हुए कि कलाकार को अपनी कला की पृष्ठभूमि में मनोविज्ञान का भी सहारा लेना आवश्यक था। किस भाव में मूर्त्ति का रूप कैसा रहना स्वाभाविक है, इस गुण को भारतीय कलाकार से अधिक शायद ही किसी अन्य देश का कलाकार अपनी कृति में प्रदर्शित कर सका हो।

प्राचीन मूर्त्तियों या भवनों के अवशेष धार्मिक महत्त्व के हैं। उनका लक्ष्य है धर्म और दर्शन के सिद्धान्तों को स्पष्ट करना। इसमें वे जितना सफल रहे हैं, उनकी उतनी ही उच्चकोटि की कला मानी गई है। इसलिए, इन कृतियों की आलोचना और प्रशंसा करनेवालों को भारतीय धर्म और उसकी परम्परा से अवगत होना अत्यावश्यक है। इस सिद्धान्त को न जाननेवाले आलोचक ही भारतीय मूर्त्तियों और मंदिरों की वास्तु-कला में अत्यधिक अस्तव्यस्तता देखते हैं। प्राचीन चीन में पूजा और यज्ञ के काम में आनेवाले काँसे के बरतनों में तरह-तरह की अद्भुत नक्काशी की गई है—विभिन्न पशुओं और अप्राकृतिक जीवों की आकृति ढाली गई है। विदेशी आलोचकों के लिए ये बेमतलब की हैं और विद्रूप तथा अनाकर्षक होने के कारण कला-विहीन भी हैं। पर ऐसे विचार गलत हैं; क्योंकि जो हमें निरर्थक और विद्रूप लगता है, वही उनके लिए स्पष्ट मानी रखता होगा। अपनी विशेष परम्परा और मान्य सिद्धान्तों के आधार पर विदेशी कला का मूल्यांकन करना—विशेषकर जब उस प्राचीन जाति के धर्म और भावनाओं से हम अपरिचित हैं—सरासर अन्याय है। हमें इन अद्भुत कलाकृतियों की जाँच इस कसौटी पर करनी है कि कलात्मक दृष्टि से ये कैसी उतरी हैं, इनके निर्माण की कला कितनी विकसित है। इसी तरह भारतीय कला की आलोचना भी इस कसौटी पर होनी चाहिए कि उसमें जिन भावों को मूर्त्तरूप देने की चेष्टा की गई है, वे ठीक उतरे हैं या नहीं, उसकी इस दृष्टिकोण से भी जाँच करना भारी भूल होगा कि निश्चित भाव और मान्य सिद्धान्त के अनुकूल हैं या प्रतिकूल। हर्बर्ट रीड (Herbert Read) ने लिखा है—"हमें यह मानना

ही पड़ेगा कि कला किसी विशेष भावना और कल्पना की ही अभिव्यक्ति नहीं है। यह किसी भी ऐसी भावना की अभिव्यक्ति हो सकती है जिसे कलाकार मूर्त्तरूप देने में सफल हो सका हो।"[1] चतुर्मुख या अष्टभुजी मूर्त्तियों के पीछे उनकी भावना का ज्ञान जरूरी है। भारतीय शिल्पियों ने देवताओं की अवर्णनीय शक्ति और सामर्थ्य की अभिव्यक्ति अमानवीय आकृति देकर की है। तीन मुखवाली मूर्त्तियाँ त्रिमूर्त्ति की भावना का स्थूल प्रतिनिधित्व करती हैं। विष्णु के नरसिंह के रूप में उनकी अपरिमित शक्ति और संहारक गुण की झाँकी मिलती है। इसी तरह कलात्मक दृष्टिकोण से आठ हाथ और अनेक सिरोंवाली मूर्त्तियाँ बड़ी ही प्रभावोत्पादक हैं। उदाहरण के लिए, महिषासुरमर्दिनी अष्टभुजी दुर्गा की प्राचीन मूर्त्ति को लें। आठ हाथोंवाली दुर्गा या चार हाथोंवाले विष्णु की प्रतिमाओं में हाथों को इतनी सुघड़ता से बनाया गया है कि एक दूसरे पर हावी नहीं होता और सब में जाति का एक अनुभव होता है तथा सामञ्जस्य का इनमें अनुरूप प्रतिपादन है। कलात्मक शैली के सिद्धान्त पर यह सफलता का पूर्ण प्रमाण है।

भारतीय शिल्प-कला की एक विशेषता यह भी है कि मूर्त्ति अत्यन्त ही कोमल और तरल लगती है। ठोस पत्थर की मूर्त्ति में इतनी कोमलता और तरलता का अनुभव होना अत्यन्त ही हृदयग्राही है। किसी भी सुन्दर प्रतिमा की ओर देखेंगे, तो आँखें बरबस मूर्त्ति के ऊपर के भाग से नीचे की ओर फिसल जायँगी। ऐसा लगता है जैसे चिकनाहट से आँखें फिसलती जाती हैं। यहाँ तक कि जब देवी या देवता दानव का हनन करते दिखाये गये हैं, तब भी देवता के मुख पर तरल करुणा का भाव अंकित है तथा पराजित अत्यन्त दीन और कृपाकांक्षी-सा लगता है।

भारतीय कला के विभिन्न प्रकारों में रस का समावेश भी एक अत्यावश्यक और सर्वव्यापक अंग रहा है। ब्रह्म को ही रस-स्वरूप माना गया है—'रसो वै सः'। इन प्रतिमाओं का उद्देश्य ही था—भक्त और उसके इष्टदेव की दूरी कम कर उन्हें एक-दूसरे के अत्यन्त निकट लाना। किसी कला-कृति की उत्कृष्टता की कसौटी यही है कि उसे देखकर दर्शक के चित्त और मस्तिष्क पर किस हद तक रसानुभूति होती है। क्योंकि, मनुष्यों की प्रवृत्ति और विचार भिन्न-भिन्न होते हैं। इसलिए, स्वाभाविक था कि कलाकार और प्रतिमा-लक्षणकार आचार्य विभिन्न प्रवृत्तियों के अनुकूल प्रतिमाएँ रचें, जिनमें विभिन्न रसों का समावेश हो। यदि इस तरह की किसी प्रतिमा में हम एक से अधिक रसों की अनुभूति पाते हैं तो उसमें किस रस की प्रधानता है, इस पर ध्यान देना होगा। स्थूल पत्थर और ठोस धातु-पदार्थ में कलाकारों ने विभिन्न रसों का संचार किया है। दर्शक अपनी प्रवृत्ति के अनुकूल जब अपने इष्टदेव की प्रतिमा में रसों की अनुभूति पाता है, तब उसपर प्रतिमा का मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ता है, वह देवता में आत्मसात्-सा हो जाता है और अपने इष्टदेव के प्रति अत्यन्त सामीप्य और पूर्ण विश्वास की भावना से उद्वेलित हो

---

१. "Art we must admit is not the expression of any one particular idea. It is the expression of any ideal which the artist can realise in plastic form."

—*The meaning of Art*, p. 23.

जाता है। प्रतिमा के भक्त और पुजारियों में ऐसी स्थिति पैदा करने की योग्यता रखनेवाला अत्यन्त ही उच्चश्रेणी का मूर्त्तिकार माना जायगा। मूर्त्तिकार किसी प्रतियोगिता में इनाम पाने के लिए ऐसी प्रतिमा का प्रदर्शन नहीं करता है। उसने तो स्वयं ही धार्मिक भावना और सच्ची निष्ठा से प्रेरित हो प्रतिमा का निर्माण किया कि मेरे द्वारा निर्मित और प्रतिष्ठित प्रतिमा अपने भक्तों की प्रार्थना सुन सके। उसका ऐसा विश्वास कि जब भक्त के चित्र, अनुभव और स्वभाव मेरे द्वारा निर्मित देव-विशेष के चित्र, स्वभाव और अनुभव से मेल खायँगे, तभी भक्तों को प्रार्थना की सिद्धि मिलेगी, उसकी सफलता ही कुंजी थी। इसी कारण हम हिन्दू या बौद्ध प्रतिमाओं में विशिष्ट भाव और मुद्राओं का प्रत्यक्षीकरण पाते हैं। रस से ओत-प्रोत इन भारतीय मूर्त्तियों के दर्शन से हम आनन्दविभोर हो जाते हैं। अत्यन्तानन्द और रोमांच का रसास्वादन करते हुए भी हम असंयत और मानसिक विषय-वासना की ओर पतनोन्मुख नहीं होते। इस अलौकिक सरसता के कारण हम इन मूर्त्तियों के माध्यम से निषिद्ध फल को आंशिक रूप में ग्रहण करके भी स्वर्ग से वंचित नहीं होते हैं।[१]

कला-मर्मज्ञ अपने सुर, लय और ताल की तरह ही चराचर जगत् से भी सुर, लय और ताल की झंकार सुनता है। इसी तदात्मीयता की भावना से प्रेरित हो वह अपनी कला में इसी सर्वव्यापी सुर को भरने की कोशिश करता है। जीवन ही सुरमय है, इसी सत्य को वह मूर्त्ति में अनेक प्रकार से अभिव्यक्त करता है। यह 'सुर' सर्जन की कुञ्जी है, और इसके सृष्टि के कण-कण में व्याप्त रहने का अनुभव करता हुआ वह अपनी कृति में इसी एकलयता को प्रकट करता है। भारतीय कला के उत्तम उदाहरणों में इस अनन्त सर्जन-शक्ति (एकताल) की अनुभूति मूर्त्ति की भाव-भंगिमा में उसके अंगों की बनावट और मुद्राओं में, उसके साथ की वन्यलताओं अथवा कमल-नाल में या पशु-पक्षी एवं अन्य परिचारिकाओं की छवि में स्पष्ट है। मूर्त्ति इस गुण के कारण ही अत्यन्त प्रभावोत्पादक बन जाती है। आत्मा का सुर ही तो प्रकृति की चढ़ती-उतरती धारा में व्याप्त है। भारतीय मूर्त्तियाँ आत्मा के इस भाव को ही प्रकट करती हैं। मैक्स बीरबोह्म (Max Beerbohm) का विचार उद्धरणीय है—"शिल्पी का क्षेत्र आत्मा है। मूर्त्तिकला सबसे ठोस रहने पर भी सब कलाओं से अधिक आध्यात्मिक है।"[२]

इस कोमलता और तरलता की तह में मूर्त्ति का आध्यात्मिक गुण है। भारतीय कला के नमूने कभी अश्लील और घृणित भावनाओं को उकसानेवाले नहीं हैं। सभी में एक पवित्र लावण्य और निर्मल धारा प्रवाहित दीखती है। यही कारण है कि जब नारी का चित्रण हुआ है, तब उसे कुमारी युवती के रूप में नहीं, वरन् स्त्री और अधिकतर माँ के रूप में चित्रित किया गया है। मौर्यकालीन यक्षिणी की प्रस्तर-प्रतिमा या भरहुत

---

१. "Art enables us to participate in forbidden fruit without loosing the garden of Eden".

—*R. K. Mukerjee. op. cit, p. 99.*

२. "Sculpture's province is the soul. The most concrete, it is also the most spiritual of the arts". —वही, पृष्ठ, २१६।

और बोधगया की शालभंजिका के पूर्ण विकसित स्तन इस दृश्य के उदाहरण हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि प्राचीन शिल्पी योगी या संन्यासी थे और मनुष्य की साधारण भावनाओं की बिलकुल उपेक्षा करते थे। स्त्री-पुरुष का प्रेमपूर्ण सम्बन्ध और स्नेहालिंगन का अत्यन्त ही सुन्दर चित्रण बोधगया के रेलिंग-स्तम्भों पर हुआ है। यक्षिणी की सुन्दर मूर्त्तियाँ या शालभंजिका की मूर्त्तियाँ नारी-सौन्दर्य की अभिव्यक्ति में कुछ कसर नहीं रखती हैं। भारतीय कला में मानव-प्रकृति की सुकुमार और सुप्त भावनाओं का निष्कपट और स्वस्थ चित्रण ही नहीं हुआ है ; बल्कि आध्यात्मिक निर्मलता की भी अभिव्यक्ति हुई है। बौद्ध और ब्राह्मण-धर्मप्रधान दृश्यों में यह धारणा स्पष्ट करने की कोशिश की गई है कि संसार के सुखों और नाना ऐश्वर्यों के स्वामी बोधिसत्त्व को विषय-वासना की सामग्रियाँ लुभाने में असमर्थ रही हैं। वे परम ज्ञान की खोज में लीन हैं। खुली आँखें और गम्भीर तथा प्रसन्न वदन इन संसारी प्रलोभनों से विमुख हो अन्तस्तल की ओर ध्यानावस्थित हैं। भारतीय कला का यह मूल-मंत्र रहा है कि संपूर्ण विश्व एक सनातन संज्ञा से सुरभित है और उससे ही भिन्न-भिन्न आकृतियाँ पानी के बुलबुले की तरह सामने आती हैं तथा फिर दृष्टि से ओझल हो जाती हैं। अतः भारतीय कला में प्रकृति के विभिन्न दृश्यों को उसी सनातन तत्त्व-से अनुप्राणित दिखाया गया है। इसी कारण इन दृश्यों में प्रकृति की स्थूल नकल नहीं की गई है ; बल्कि उसी सुर या ताल की अभिव्यक्ति हुई है जो एकमात्र सत्ता में व्याप्त है।

भारतीय कला में शारीरिक सौन्दर्य आत्मा के आनन्दविभोर रूप की प्रतिच्छाया है। सुसंस्कृत यूनानी कला की मानव-मूर्त्तियाँ स्वाभाविक सौन्दर्य के आदर्श रही हैं; पर बुद्ध, बोधिसत्त्व, विष्णु और शिव की मूर्त्तियों में ज्योतिर्मय सौन्दर्य का ईश्वरीय गुण से रहस्य-मय गठबंधन है। मूर्त्ति में मानव-शरीर-रचना की नकल करने का प्रयास तक नहीं किया गया है। प्रतिमा में शारीरिक अंगों—विशेषकर हाथ, पैर और मुख—का इस प्रकार चित्रण हुआ है कि शरीर के आध्यात्मिक और दैवी अभिप्राय को सहज में ही ग्राह्य किया जा सके।

भारतीय संस्कृति में मानवोचित प्राकृतिक भावनाओं को भी कुंठित नहीं किया गया, है और न वास्तविक जीवन के प्रति उदासीनता ही दिखाई गई है। फिर भी, उनका महत्त्व इसी आधार पर है कि ऐसे दृश्य प्रधान विषय की अभिव्यक्ति में उचित हाथ बटाते हैं। यदि संस्कृति का कर्त्तव्य है कि वह मानव-जीवन को समृद्ध और विस्तृत करे, तो साथ ही उसका यह भी कर्त्तव्य है कि वह इन प्रारम्भिक शक्तियों को सीमाबद्ध रखे और मनुष्य की आध्यात्मिक अभिव्यक्ति का पथ-प्रदर्शन करे। बोधगया की वेष्टन-वेदिका पर, मणियार-मठ की दीवारों पर तथा साँची और भरहुत की वेष्टन-वेदिकाओं पर के उत्कीर्ण दृश्य अत्यन्त सजीव एवं प्रेममय जीवन के आवेगपूर्ण चित्र हैं। जनसाधारण के जीवन-सम्बन्धी घरेलू चित्र भी इतने प्रभावोत्पादक और आकर्षक हैं तथा उनका चित्रण भी इतनी रसपूर्ण तन्मयता से हुआ है कि मानों कलाकार ने सांसारिक सुख एवं शारीरिक आनन्द में आध्यात्मिक तत्त्वान्वेषण से कम दिलचस्पी नहीं ली है। डा० वशम् ने लिखा है—"इन सब रूपों में 'भय' का नामोनिशान नहीं है और एक ऐसी प्राण-शक्ति तथा चेतना है

जो हमें इस दुनिया की, न केवल परलोक की, याद दिलाती है" ।[1] भारतीय कलाकार जीवन की अभिव्यक्ति का आदर करते थे। जीवन के राग और आध्यात्मिक रसास्वादन—दोनों ही पहलुओं का भारतीय धर्म और कला में उचित स्थान दिया गया है, और इस आधारभूत सिद्धान्त की अवहेलना कर ही आलोचक भारतीय कला में मुक्त जीवन के सरस चित्र की अभिव्यक्ति से चकित हो जाते हैं और इसमें भारतीय आध्यात्मिकता का विरोधाभास देखते हैं। पर भारतीय धर्म, दर्शन और कला में विरोधी भावों के विरोधी तत्त्वों के सामञ्जस्य पर बराबर जोर डाला गया है; क्योंकि सृष्टि ही इन विरोधी तत्त्वों, आत्मविरोधी भावनाओं, का पुञ्ज है। आधुनिक मनोविज्ञान इसे प्रमाणित भी कर चुका है। भारतीय दार्शनिकों और कलाकारों ने इस गूढ़ सत्य को जान लिया था और इसीलिए उन्होंने जीवन की सरसता तथा पवित्र आध्यात्मिकता में विरोध नहीं; पर वास्तविक एकीकरण समझा था।

भारतीय वातावरण में स्त्री-पुरुष का प्रेम, आँखों के मिलन से दो प्राणों और दो शरीरों के एकीकरण तक, आध्यात्मिक महत्त्व का माना गया है। इसी कारण धार्मिक विषयों के संकेतों में भी यौन-सम्बन्धी कल्पनाओं का आश्रय लिया गया है। शिव-पार्वती, कृष्ण-राधा और गोपियाँ अथवा दम्पती के दृश्यों में सृष्टि के अनवरत सर्जन, आत्म-विलयन आदि गूढ़ धार्मिक और दार्शनिक भावनाओं को ही व्यक्त करने की चेष्टा की गई है। इसीलिए मिथुन और प्रेममय दृश्यों की मूर्त्तियों में भावावेश के साथ-साथ संयत भावना मुखरित मिलती है। मानव की मूल भावनाओं और सत्त्व का चित्रण करते हुए भी भारतीय कलाकार अपनी कृति में अद्‌भुत गौरव और गरिमा को प्रतिष्ठित करने में अत्यन्त सफल हुआ है। उमा-महेश्वर या मिथुन-मूर्त्तियों में दाम्पत्य-प्रेम और आनन्द आध्यात्मिक परमानन्द में विलीन-से लगते हैं। शिव-पार्वती या नाग-नागिनी के प्रत्येक अंग की चेष्टा से तथा उनके पारस्परिक हाव-भाव से दर्शक की आँखों में और दृश्य में स्वर्गीय सुख की अनुभूति छलकने लगती है।

भारतीय मूर्त्ति-कला की आध्यात्मिकता अति सुसंस्कृत यूरोपीय कला में भी नहीं मिलती। माइकल एंजेलो की मूर्त्ति (Pieta)—जिसमें एक अत्यन्त महिमामयी महिला शिशु ईसामसीह को लिये हुई है—माँ मेरी और ईसामसीह आदर्श सुन्दर मनुष्य के रूप में चित्रित हैं। यह आध्यात्मिक चित्र दर्शकों पर आध्यात्मिक प्रभाव आप-ही-आप नहीं डाल सकता है। किन्तु, इस तरह के भारतीय चित्र से कोई भी सहृदय व्यक्ति, चाहे वह विदेशी ही क्यों न हो, आध्यात्मिक प्रभाव से वंचित नहीं रह सकता। इस प्रसंग में एक अँगरेज विद्वान् रेजिनाल्ड-ल-मे के उद्‌गारों का उल्लेख करना अप्रासंगिक नहीं होगा—"मैं स्वयं बौद्ध-कला के उत्तम उदाहरणों से अत्यन्त आध्यात्मिक अनुभूति अनुभव करता हूँ, यद्यपि मैं बौद्ध नहीं हूँ। ऐसी अत्युत्तम कलात्मक कृति का एक असंस्कृत अँगरेज महिला पर भी क्या प्रभाव पड़ सकता है, यह कैम्ब्रिज-स्थित मेरी गृहस्वामिनी की कहानी

---

१. "In all these phases there is a *horror vacui* and an intense vitality which reminds us rather of this world than of the next".
—*Wonder that was India*, p. 349

से स्पष्ट हो जायगा। आश्चर्य तो यह है कि मैंने उससे बौद्ध-कला के विषय पर कभी बातचीत नहीं की थी। एक दिन जब मैं जलपान कर रहा था, तब उसने मेरे टेबुल पर रखे बुद्ध के सिर की ओर इशारा करके कहा कि 'मैं हर प्रातःकाल इसीसे आज्ञा माँगती हूँ।' मैंने चकित होकर पूछा—आखिर क्यों? कुछ ठहर कर उसने सीधा-सा जवाब दिया कि 'यह सब-कुछ जानता है।' किसी भी कलात्मक कृति के लिए इससे अच्छी श्रद्धाञ्जलि मैंने स्वयं कभी नहीं सुनी है।"[१]

सुकुमारता और तरलता को व्यक्त करने में भारतीय कलाकारों ने मूर्त्तियों में मांस-पेशी या पुट्ठे के उभार (Muscle) की एकदम उपेक्षा की है। भुजाओं और घुटनों में मांस-पेशी की अनुपस्थिति शरीर-रचना के वास्तविक ज्ञान की अनभिज्ञता या उल्लंघन सिद्ध करती है। पर इस अप्राकृतिक चित्रण का भी एक गूढ़ अभिप्राय था। प्रकृति के विभिन्न अंगों से मानव-शरीर के अंगों की आत्मीयता के लिए यह अपेक्षित था; क्योंकि इन प्रायः बेजोड़ और अत्यन्त लचीले अंगों में आन्तरिक आध्यात्मिक शक्ति बिना रुकावट के प्रवाहित हो सकी है। इन मूर्त्तियों में इस आध्यात्मिक रस का संचार इतना उमड़ता दीख पड़ता है कि मानों वह पत्थर को छेदकर फूट पड़ेगा। भारतीय मूर्त्तियों का रसवन्त होना एक विशेष गुण है। सहृदय दर्शक इस रस का स्पष्ट अनुभव करता है। धार्मिक और शिल्पकला की लम्बी परम्परा और मूर्त्तिशास्त्र की जटिल नियमावली को सहर्ष स्वीकार करते हुए भी कलाकार ने अपनी कल्पना में मूर्त्त-भावना को, ऐसे ठोस पदार्थ में भी इतने संयत रूप से प्रकाशित किया कि दर्शक उसके अनुभव और कल्पना का साझीदार बन जाता है। इसी आत्म-विसर्जन-भाव का प्रमाण है कि भारतीय कलाकार अपनेको बराबर अज्ञात (गुमनाम) रखता है। भारतीय शिल्प-कला, चित्र-कला और वास्तुकला के अनेक उत्कृष्ट उदाहरण हैं; पर हम उनके निर्माता के नाम नहीं जानते। कलाकार को अपनी कला के अतिरिक्त अपने व्यक्तित्व की कतई चिन्ता नहीं थी। उसकी कृति तो उसकी नहीं, बल्कि भगवत्-कृपा का प्रसाद है—उसके इष्टदेव को पूर्णरूपेण समर्पित है। उसकी मूर्त्ति तो वस्तुतः उसकी योग-मुद्रा में एवं ध्यानावस्था में ही बन चुकी थी। अब वह

---

१. "I personally derive a strong spiritual feeling from the best creation of the Buddhist art though I am not a Buddhist and the effect that a master-piece can have, even on an untrained English mind, is well illustrated by the story of my Cambridge landlady (with whom I did not discuss Buddhist Art) saying to me one day at breakfast, as she pointed to a Mon-head of Buddha, which was standing on a cabinet in my rooms, 'Every morning I ask him for orders' and when I most astonished, asked why? She thought for some moments and then said quite simply, 'He knows every thing'. This is the greatest tribute paid to a work of art that I personally have ever heard".

—*The Culture of South-east Asia : p. 18 by Reginald-De-May, London 1954.*

अपनेको और अपने अहं को अन्तरात्मा की पुकार पर आदि-शक्ति में विसर्जित कर चुका था। अतः उसे अपनी कला में इसी आध्यात्मिक अभिव्यक्ति की कामना थी—उसे अपने नाम या मान की आकांक्षा नहीं थी। यही कारण है कि प्राचीन भारतीय कलाकारों में, जिन्होंने बिहार को अपना कार्य-क्षेत्र चुना, हम 'धीमान्' और 'वित्तपाल' नामक शिल्पियों के ही नाम जान सके और यह भी तिब्बती विद्वान् तारनाथ की कृपा से, जिन्होंने पाल-युग के इन महान् कलाकारों का परिचय दिया।

भारतीय कला जीवन के अत्यन्त निकट पड़ती है। इसमें केवल देवी-देवताओं का ही चित्रण नहीं, वरन् प्रकृति का अक्षय्य भाण्डार कलाकारों के लिए ही खुला है। भारतीय कलाकार प्रकृति के सादृश्य की इतनी परवा नहीं करता, जितनी प्रकृति को समझने और समझाने की चेष्टा करने में। क्योंकि, उसका विषय विस्तृत और अनन्त प्रकृति है, जिससे भारतीय कला कभी शिथिल और जीर्ण नहीं दीखती। बराबर उसमें ताजगी और नवीनता का अनुभव होता है। वह कभी रुका नहीं, उसका मार्ग कभी अवरुद्ध नहीं हुआ। समृद्ध प्रकृति के प्रांगण में कलाकार को बराबर नये भाव और नई संज्ञा से भेंट होती रही। प्रकृति के प्रत्येक रूप में कलाकार ने एक सुर और लय का अनुभव किया, और अपनी कलाकृतियों में उसने इसी एक लय को प्रभावोत्पादक रूप से व्यक्त किया। भरहुत की रेलिंग पर खुदे प्रकृति के नाना प्रकार के दृश्य एक ही पवित्र और शान्त वातावरण लपेटे हुए हैं। जीवन का यह शाश्वत मंत्र व्यापक कमल-नाल से स्पष्ट है।

इस दृष्टिकोण से भारतीय कला को सांकेतिक अथवा लाक्षणिक भी कह सकते हैं। पत्थरों पर खुदे दृश्य और ढाली हुई मूर्त्तियाँ प्रत्यक्ष को नहीं कहकर अव्यक्त की ओर संकेत करती हैं। त्रिमूर्त्ति तीन मूर्त्तियों का जोड़ नहीं, वरन् परब्रह्म की सर्जक, पालक और संहारक शक्तियों की अभिव्यक्ति है। इसी प्रकार अनेक हाथवाली या सिरवाली मूर्त्तियाँ लाक्षणिक हैं। माया ही तो कला है जिसकी मदद से माया-पति संसार के विभिन्न जीवों या पदार्थों का सर्जन करते हैं। माया के बल पर ही देवता अनेक प्रकार के रूप धारण करते हैं, और फिर देवता भी तो अपनेसे अधिक शक्तिशाली माया से ही पैदा हुए हैं। इस प्रकार माया ही जीवन है, स्थिति है, इसी में हम सब पैदा लेते हैं, बढ़ते हैं और फिर इसी में विलीन हो जाते हैं। फिर भी माया को, एक दृष्टिकोण से सर्जन और विसर्जन की शक्ति भी समझना चाहिए। यह सर्वशक्तिमती शक्ति है जो सारे विश्व को सचेत और सक्रिय रखती है। इस प्रकार यह कारण और परिणाम दोनों है। इसलिए, इसे शक्ति माना जाता है और इसे स्त्री की संज्ञा दी गई है। भारतीय कला में इसे सर्वोपरि मातृ-रूप में चित्रित किया गया है। वात्सल्य और करुणा-भाव से ओतप्रोत इन नारी-मूर्त्तियों के प्रति आदर और भक्ति के साथ-साथ अत्यन्त अपनापन का भाव रखना मूर्त्तिकार और भक्त के लिए स्वाभाविक हो जाता है। पर माया तो जीवन के रस और आनन्द की जननी है, अतः भारतीय कला में नारी-मूर्त्ति को अत्यन्त कोमल और आनन्दविभोर दिखाया गया है। शालभंजिका या मणियार-मठ की नागिन की मूर्त्तियों में हम इसी भाव की अभिव्यक्ति देखते हैं। बौद्ध-स्मारकों में हम वृक्षदेवी शालभंजिका का चित्रण पाते हैं, जिसमें अत्यन्त सुन्दर, स्वस्थ और आनन्दविभोर मदभरी युवती नारी एक हाथ से अशोक-वृक्ष के धड़ को लपेटे हुई है,

और दूसरे हाथ से वृक्ष की एक टहनी को झुका रही है। वह अपने एक चंचल चरण-कमल से धड़ की जड़ के समीप आहिस्ते से आघात कर रही है।[1] इसकी पृष्ठभूमि में एक प्राचीन अंधविश्वास था कि प्रकृत की सर्जन-शक्ति (Fecundity) को मनुष्य के द्वारा उत्तेजित करने और उसकाने की आवश्यकता थी।

वज्रयान की देवी-मूर्त्तियों में भी मातृ-रूप के साथ-साथ नारी के सहज और मुग्ध रूप के आकर्षण की झाँकी मिलती है। उमा, लक्ष्मी, और प्रज्ञापारमिता इसी भाव की प्रतिमूर्त्तियाँ हैं। इस प्रकार माया की सर्जन-विसर्जन की शक्ति का रूप हमें अनेक हिन्दू और बौद्ध देवियों की मूर्त्तियों में दृष्टिगोचर होता है, जिनमें काली की प्रतिच्छवि प्रमुख है। इन विरोधी गुणों से युक्त जगज्जननी और संहारिका मातृरूपी देवी, जिसे माया भी कहते हैं, के गुणों को ही भारतीय नारी-मूर्त्तियों में अभिव्यक्त किया गया है। इन मूर्त्तियों की लाक्षणिक विशेषता (Symbolical characteristic) को भूलकर उचित अभिप्राय हम नहीं समझ सकते और न मूल्यांकन ही कर सकते हैं। इसी प्रकार मूर्त्तियों में नाग का चित्रण है, जो शिव के गले में सर्प की माला के रूप में है और विष्णु की शय्या के रूप में भी अवस्थित है। इन सभी का यही संकेत है कि नाग परमेश्वर का एक प्रतिरूप है। यह अनन्त है, यह शेष है, जो बराबर स्थित रहता है।

भारतीय कला में हंस का चित्रण भी हुआ है। स्वयं हंस परमेश्वर का प्रतीक है। 'मत्स्यपुराण' में भगवान् अपनेको हंस कहते हैं। जीव जो परमात्मा का अंश माना जाता है, उसे भी हंस कहा गया है। जिस प्रकार जीव पृथ्वी पर अवस्थित होने पर भी संसार से बँधा नहीं है और न पृथ्वी से जुड़ा ही है, उसी प्रकार जल में विहार करनेवाला हंस भी सरोवर से बँधा नहीं है। जल को छोड़कर भी वह अपने पवित्र और स्वच्छ डैनों के सहारे मुक्त आकाश में विचरण कर सकता है। वह जल और आकाश—दोनों में एक प्रकार के अपनापन का अनुभव करता है। इसी प्रकार जीव-हंस ईश्वरीय गुण को प्रतिबिम्बित करता है, जो व्यक्ति में रहकर भी उससे परे है। हंस का रंग श्वेत है और माया-रहित जीव के सत्त्व गुण का रंग भी शुभ्र माना गया है। भारतीय कला के हंस में सिर्फ हंस पक्षी के स्वाभाविक चित्रण के गुण-अवगुण पर टीका-टीप्पणी न कर उसके रहस्यमय आधार का ज्ञान रखना चाहिए। 'धम्मपद' में हंसों की निश्छल गति की प्रशंसा की गई है। बौद्ध-साहित्य में यह कथा प्रचलित है कि 'कल्कि' नाग ने जब बुद्ध को ज्ञान प्राप्त होने की सूचना दे दी, तब उसने यह भी कहा कि उड़ते हुए पक्षियों की कतारों से उन्हें इसका अनुमान होगा। उस समय हंस और मयूर बुद्ध को घेरे हुए थे। बुद्ध के चारों ओर प्रदक्षिणा करते हुए सात या आठ हंसों की पंक्ति एक चौखट पर उत्कीर्ण नागार्जुनी कोण्डा में मिली है। कई जातकों में (५०२, ५३३, ५३४) हंस को सर्वगुण-सम्पन्न दिखाया गया है। जातक में तो बोधिसत्त्व का ही हंस के रूप में पुनर्जन्म लेने का उल्लेख है। मौर्य-कला में भी हंस उत्कीर्ण किये गये हैं। लौरिया-नन्दनगढ़ के शिला-स्तम्भ पर हंसों की पंक्ति उत्कीर्ण है। रामपुरवा (चम्पारन)

---

१ चित्र-संख्या—४

के सिंह-शिरा के चौखट पर बारह हंसों की पंक्ति उत्कीर्ण है। बोधगया में मिले वज्रासन के किनारों पर भी हंस उत्कीर्ण हैं। 'वुगेल' (Vogel) के विचार में मौर्य-काल के इन उदाहरणों में इसका अत्यन्त स्वाभाविक और प्राकृतिक चित्रण हुआ है।[1] हंस का बौद्ध और हिन्दू—दोनों कलाओं में समुचित प्रतिनिधित्व है। ब्रह्मा का वाहन हंस है। सरस्वती के साथ हंस का सहयोग सर्वविदित है।

कमल के चित्रण में भी महान् रहस्य है। कमल नारायण की नाभि से निकला और ब्रह्मा ने उसपर आसीन जन्म-ग्रहण किया और सृष्टि-कार्य आरंभ किया। यह कमल पृथ्वी-माँ का प्रतिरूप है ; क्योंकि पृथ्वी से ही ऊँचे-ऊँचे पहाड़, कलकल करती हुई नदियाँ तथा सुदूर तक फैली अरण्यानी प्रादुर्भूत हुईं और तब विविध रूप-रंग के प्राणी अवतीर्ण हुए। इसलिए, सृष्टिकर्त्ता विष्णु के हाथ में कमल दिखाया गया है और स्वयं कमल की प्रतिमूर्त्ति लक्ष्मी कमलासीन चित्रित हुई है। कमल मातृदेवी का मूर्त्त प्रतिरूप है, जिसके माध्यम से परमेश्वर सर्जन-कार्य में व्यस्त हो जाते हैं। ब्रह्मा का एक नाम 'कमलयोनि' भी है। इसमें कमल का मातृत्व-रूप स्पष्ट व्यक्त होता है। इस तरह जब सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा की उत्पत्ति कमल से हुई तब कमल का जगज्जननी होना निश्चित है। लक्ष्मी को भी पद्मसम्भवा, पद्मरुहा, पद्माक्षी आदि कहा गया है। जगत्-पिता विष्णु की प्रिया जो जगज्जनयित्री लक्ष्मी है, वह भी कमलासीन पद्मसम्भवा ही है। इस प्रकार भी कमल सृष्टि का कारण है। बौद्ध-स्मारकों में श्रीमा को कमलासीन और राज्यभिषिक्त दिखाया गया है। प्रज्ञापारमिता और अवलोकितेश्वर के हाथ में कमल दिये गये हैं। कमल हिन्दू और बौद्ध देवताओं का साधारण आसन है। अशोक के स्तम्भ-शिरों पर अधोमुख कमल उत्कीर्ण हैं। बसाढ़ (वैशाली) में, मिट्टी के एक ठीकरे पर, कमलादेवी का चित्र अंकित है। वह कमलासन पर खड़ी है और उनके दोनों ओर कमल और दो पत्ती हैं, तथा देवी को पंख है। 'जिम्मर' साहब के विचार में यह कृति तीसरी सदी ईसवी-पूर्व की है।[2] पर, अधिकतर विद्वान् इसका समय पहली सदी के बाद का मानते हैं और यूनानी कला-प्रभाव का एक उदाहरण समझते हैं। पूर्ण कमल बोधगया के रेलिंग-स्तम्भों पर भी उत्कीर्ण है। कमल-नाल से गुँथे हुए कमलों की पंक्ति, उतार-चढ़ाव के साथ, जीवन के रहस्य को ही इंगित करती है।

इसी प्रकार हाथी, सिंह और साँढ़ के चित्रण का भी सांकेतिक महत्त्व है। ये दिग्पालों का प्रतिनिधित्व करते हैं। श्वेत हाथी इन्द्र का वाहन है। 'माया देवी' के गर्भ में बुद्धदेव ने श्वेत हाथी के रूप में प्रवेश किया था, जब वह स्वप्नावस्था में थीं। 'ऐरावत' शब्द का निर्माण 'इरावती' शब्द से हुआ है, जिसे बर्मा की 'इरावदी' नदी माना जा सकता है। 'इरा' कहते हैं जल को और उससे युक्त 'इरावदी' एक नदी का नाम है। इससे क्षीर-सागर का भी बोध हो सकता है, जिसमें निवास करते हुए विष्णु सृष्टि करते हैं। इस प्रकार हाथी के चित्रण के द्वारा सृष्टि का रहस्य प्रकट किया गया है। इन्द्र का ऐरावत, इन्द्र-धनुष और विद्युत् से सम्बन्ध है, जिनके विना चल-अचल सभी नष्ट हो

---

१. *Art and letters : XXVII 1953., p., 23*

२. *Zimmer : op. cit. pp., 92—93.*

आयेगा। पुराणों के अनुसार दसों दिशाओं को दस दिग्गज ही धारण किये हुए हैं, जिनके 'अमर-कोष' में अलग-अलग नाम भी हैं।[१] इन्हीं दिग्गजों से पृथ्वी स्थित है और सृष्टि का अस्तित्व रक्षित है। यह भी एक धारणा है कि स्वर्गीय हाथी की सूँड़ ही समुद्र से पानी ले जाती है और तब वर्षा होती है। इस प्रकार हाथी के चित्रण के द्वारा कलाकार सृष्टि के रहस्य को ही समझाने की चेष्टा करता है।

मिथुन-दृश्यों में शिव-उमा और यब-युब (Yab-yub) मूर्त्तियों के द्वारा विरोधी गुणों का पारस्परिक सहयोग की चेष्टा की अभिव्यक्ति की गई है। सृष्टि के सर्जन और संहार में तथा जीवन के मूल में विरोधी गुणों (सत्त्व, रजस्, तमस्) का पारस्परिक सहयोग की भावना छिपी है। विष्णु, शिव और मातृदेवी के चित्रण में इन विरोधी गुणों को मूर्त्त-रूप दिया गया है। अवढरदानी शिव महाकाल और भैरव के रूप में भी आते हैं। उमा-महेश्वर की मूर्त्तियों में शिव और उमा की प्रेम-विभोर भावनाओं को कलाकारों ने सर्वशक्तिमान् पिता और जगज्जननी माता के रूप में जो चित्रण किया है, वह दो विभिन्न नहीं, वरन् सृष्टि के लिए एक का ही दो हो जाने की ओर संकेत है। बौद्ध-मूर्त्ति-विज्ञान में वज्रधर का स्त्री के साथ प्रेमालिंगन उपर्युक्त भावना का ही प्रतीक है। इसी प्रकार नटराज शिव की मूर्त्ति में नृत्य-कला की ही उत्कृष्ट चेष्टा नहीं है; बल्कि सृष्टि के सर्जन और संहार में, एक साथ ही व्यस्त होते हुए, परमपिता महेश्वर के मुख पर कोई इसके प्रति मोह का चिह्न नहीं, वरन् स्मित हास्य के द्वारा शाश्वत आनन्द ही प्रकट होता है। अपस्मार के शरीर पर शिव का तांडव करने का अभिप्राय है—अंधकार और अज्ञान पर विजय का संकेत। बौद्ध देवता वज्र-हुंकार या त्रैलोक्य-विजय की मूर्त्तियों में भी यही भाव प्रदर्शित है।

भारतीय धर्म और कला-परम्परा की अनुभूति के बिना इन कला-कृतियों की आलोचना करना कोई मानी नहीं रखता। फिर अप्राकृतिक कही जानेवाली कला-कृतियाँ सिर्फ भारत की ही निजी सम्पत्ति नहीं हैं। प्राचीन सुमेर के नगर-राज्य लगश् के राजा गुडा (Guda) के समय, पानी पीने के एक पात्र में, चील पक्षी का एक जोड़ा, दानव के रूप में, अस्वाभाविक रूप से चित्रित है। इनके पंजे तन कर खड़े हैं और उसके आगे के हिस्से सिंह के पंजे के समान हैं। प्राचीन सुमेर के दानव (Monster) का चित्रण कम बीभत्स और भयंकर नहीं है।[२] पंखयुक्त देवी, पंखयुक्त साँड़, पंखयुक्त दानव आदि सुमेर और असीरया की धार्मिक-कला के साधारण उदाहरण हैं। ये चित्र भी तो स्वाभाविक और प्राकृतिक नहीं ही कहे जा सकते हैं। इसी प्रकार 'मिलोस' में पाँचवीं सदी की मिली मिट्टी की मूर्त्तियों में पंख जुटे हैं।[3] यूनानी मूर्त्ति-विज्ञान में भी पंखवाले देव या देवी का चित्रण हुआ है। अमानवीय दानवों की मूर्त्तियाँ भी हैं। 'माया'-सभ्यता में भी ऐसी मूर्त्तियाँ मिली हैं। इन प्राचीन मूर्त्तियों के द्वारा पौराणिक कथाओं को, कला के माध्यम से, व्यक्त किया गया है। साथ ही इस प्रकार भिन्न-भिन्न जाति की सुप्त और अचेत

१. अमरकोष, प्रथम काण्ड, दिग्वर्ग—५—६।

२. *The art and architecture of ancient orient.*, *p. 10*

३. *Terracotta in the British Museum (by Higgins); Fig. No. 612, 614*

[चित्र-संख्या—८]

भावनाओं को, जो जाति की संगृहीत कल्पनाओं की उपज हैं, इन देवी-देवताओं के मूर्त्ति-लक्षण तथा चेष्टाओं में प्रकट किया गया है। प्राचीन मिस्र और असीरिया में देवताओं को पंख दिया गया था। भारत में पंखों की जगह हाथ दिये गये और कलात्मक दृष्टि से कलाकार के लिए यह अधिक कठिन कार्य था; क्योंकि मनुष्य और पशु की आकृति में डैने जोड़ना तो आसान था, पर अनेक हाथों के चित्रण में कलाकार को अंगों का उचित सम्बन्ध और संयोग-समविभक्तता का ध्यान दक्षता के साथ रखना पड़ता था। प्रत्येक बाँह और हाथ की मुद्रा भिन्न है और उनमें भिन्न-भिन्न आयुध हैं; किन्तु इन सबमें एक ही दैवी शक्ति प्रवाहित है। प्रत्येक अंग और भाव, प्रधान भावना की अभिव्यक्ति में, अपनेको खोये-से लगते हैं। जब नटराज शिव नृत्य करते हैं, तब सिर्फ बाधाहीन और अनित्य शक्ति से अनुप्राणित हो उनका शरीर ही नहीं नृत्य करता है, बल्कि शरीर के अलग-अलग अंग—बाँह, हाथ, जाँघ, छाती, आँख आदि—नृत्य के स्वयं भाग बन जाते हैं। नटराज शिव की सुन्दर मूर्त्तियों में इस भावना का उत्कृष्ट प्रकाश हुआ है। इस प्रकार भारतीय मूर्त्तियों में विभिन्न मुद्राओं, अंगों के झुकाव और साधारण चेष्टा से उस देवता और उसके विशिष्ट गुणों का संकेत मिलता है। फिर भी, इनमें विलक्षणता, कोमलता, मंगल-मयता, भावुकता आदि व्याप्त हैं, जो आध्यात्मिक भावों और प्रवृत्तियों की प्रतिच्छाया हैं। भारतीय मूर्त्तियों के विभिन्न अंग जीव-विद्या-सम्बन्धी नियमों के अनुसार परस्पर-सम्बद्ध नहीं हैं और न उनका मानव-शरीर की प्राकृतिक रचना से कोई अभिन्न सम्बन्ध ही है। पर, वे आदर्श-रूप से परस्पर-सम्बन्धी हैं; क्योंकि वे एक निर्धारित आध्यात्मिक क्रिया की अभिव्यक्ति के यंत्र हैं। इन अंगों के कार्य भी इन्द्रिय-कार्य-सम्बन्धी नहीं हैं, बल्कि इनका पारस्परिक सम्बन्ध भावनात्मक तथा आन्तरिक है।

लियोनार्डो के कथनानुसार—"वही चित्र प्रशंसनीय है जो अपनी क्रिया के द्वारा उस भावना की अभिव्यक्ति करता है जो भावना उस चित्र को जीवन-शक्ति देती है।"[१] 'शिए-हो' का निश्चित मत है कि "कलाकृति में आत्मा के सुर और जीवधारी मनुष्यों में एकरूपता अभिव्यक्त हो।"[२] भारतीय कला-कृतियाँ अस्वाभाविकता के दोष से युक्त होते हुए भी इन गुणों से विभूषित हैं। शरीर की सुन्दरता यथार्थ नहीं है, यथार्थ में तो आत्मा ही सुन्दर हो सकती है। इसी सिद्धान्त को भारतीय कलाकारों ने अपने सामने रखा। परिणाम-स्वरूप निर्मल आत्मा की अभिव्यक्ति के साथ-साथ सुन्दर आकृति भी अधिकतर उदाहरणों में निखर आई; पर सौन्दर्य की यह अभिव्यक्ति उनके लिए गौण थी। इसी कारण उन्होंने देवता की मूर्त्ति के लिए मानव के स्वस्थ शरीर का आदर्श अपने सामने नहीं रखा। उन लोगों ने काल्पनिक और मानव से कुछ ऊपर के महापुरुषों का आदर्श ध्यान में रखा। 'हैवेल' साहब ने कहा है—"भारतीय कला प्रधानतः आदर्शवादी, रहस्यमय, सांकेतिक और सर्वातिरिक्त है।"[३] भारतीय कला से आध्यात्मिकता की उपेक्षा

१. *Dance of Siva by A. K. Coomarswamy ; p. 97*
२. वही।
३. "Indian art is essentially idealistic, mystic, symbolic and transcendents."

—*E. B. Havell—'India : Sculpture and painting' ; p. 1o.*

सम्भव नहीं है। इन्हीं विशिष्ट गुणों के कारण इसकी, औरों से भिन्न, भारतीयता बिल्कुल स्पष्ट है। इसीलिए इसके नमूने जहाँ भी रहे हैं, उन्हें भारतीय बताने में साधारण दर्शक को भी कठिनाई नहीं होती है। भारतीयता की यह अमिट छाप भारतीय आत्मा के विकास का प्रमाण है।

प्राचीन भारतीय कला की एक विशेषता यह भी है कि साधारणतः यह राजकीय नहीं रही। तुर्क-अफगान और मुगल-काल में कला प्रधानतः राजकीय थी। यह राज-दरबार की आब-हवा में पली और फूली-फली। प्राचीन मिस्र की कला भी मुख्यतः सम्राटों की प्रेरणा से और राजकीय आधार पर विकसित हुई। रोमन कला के विषय में यही विचार संगत है; पर भारतीय कला मौर्य-काल के अतिरिक्त, अपने लम्बे जीवन में कभी राजकीय कला नहीं बनी। वह तो सच्चे अर्थ में जन-साधारण की ही सम्पत्ति रही और उसके पथ राज्याज्ञा के द्वारा निर्धारित नहीं किये गये। भारतीय शिल्पी संघों में संगठित थे और इन संघों के द्वारा ही कला के आदर्श, रूप और आन्दोलन नियन्त्रित थे। अत्यन्त प्राचीन काल से ही ये संघ भारत की सम्पत्ति रहे हैं तथा इन्हें बहुत दूर तक स्वशासन के अधिकार उपलब्ध थे। इन संघों के नियन्त्रण में भारतीय कलाकार प्राचीन परम्पराओं की मर्यादा की रक्षा करते थे। वे अपने वैयक्तिक स्वार्थ तथा रुचि को अथवा किसी अन्य के मनोविलास को संतुष्ट करने के विचारमात्र से भी साधना को दूषित नहीं कर सकते थे; क्योंकि संघ के द्वारा निश्चित मर्यादाओं के उल्लंघन करने का दुस्साहस, उनके सामर्थ्य के बाहर था। इन संघों की ऐसी आह्लादपूर्ण छाया में ही शिल्प और कला के सुकुमार पौधे पनप सके।

भारतीय कला परम्परागत (Traditional) है और इसके लिए हम इन प्राचीन और दीर्घजीवी शिल्पी-संघों के अत्यंत ऋणी हैं। यह ठीक है कि भारतीय कला के अध्ययन-मनन से कला की इस प्रगति का ज्ञान हमें हो जाता है, फिर भी यह ध्यान रखने की बात है कि इन नये गुणों और आकृतियों को प्राचीन परम्पराओं में दूध और पानी की तरह मिला लिया गया है। यद्यपि प्राचीन भारतीय शिल्पियों ने अपने समय के प्रचलित नियमों के अनुसार ही मूर्त्तियों या मंदिरों का निर्माण किया, तथापि वे अपने पूर्वजों से प्राप्त आदर्शों और चेष्टाओं को भी अत्यन्त निष्ठापूर्वक अपनाये रहे। भारतीय कला की आलोचना में यह भी कहा जाता है कि यह मन, बुद्धि और आँखों को अत्यन्त ही थकानेवाली है। इसकी एकस्वरता से दर्शक ऊब जाता है। एक ही विषय सैकड़ों या सहस्रों कला-कृतियों का प्रधान आधार है और कला की यह एकरूपता उसकी सबसे बड़ी कमजोरी है। पर, ऐसे आलोचकों को जानना चाहिए कि यद्यपि कला के विषय या प्रेरणा मूलतः समान हैं तथा विषयों या प्रसंगों की पुनरावृत्ति स्पष्ट है, तथापि प्रत्येक कलाकृति में विषय या प्रसंगों की इतनी भक्तिपूर्ण एवं ओजपूर्ण अभिव्यक्ति हुई है कि विषय स्वस्थ और प्राणमय हो उठते हैं। विषय नये हैं या पुराने, यह प्रश्न यथार्थ में कला की आलोचना के लिए निरर्थक है। यदि मूर्त्ति-कला किसी भी संस्कृति की आत्मकथा है तो वास्तुकला या स्थापत्य-कला उसका हस्तलेख है। विक्टर ह्यूगो ने कहा

है—"गत छः हजार वर्षों के बीच स्थापत्य-कला मानव-जाति का महान् हस्तलेख थी। यह प्रत्येक धर्म का यथोचित प्रतीक ही नहीं है, वरन् प्रत्येक मानव-विचार इस महान् कृति के अनेक पृष्ठ होकर कीर्त्ति-स्तम्भ के रूप में अवस्थित है।"[१]

१. "During the past six thousand years of the world, architecture was the great handwriting of the human race. Not only every religious symbol but every human thought has its pages and monument in this immense work".

द्वितीय अध्याय

मौर्यकाल के पूर्व की कला

भारतीय शिल्प और वास्तुकला का इतिहास सिन्धु-घाटी की हरप्पा-संस्कृति से आरंभ होता है। आज से करीब साढ़े चार या पाँच हजार वर्ष पहले, हरप्पा और मोहन्जदड़ो में, अत्यन्त विकसित नागरिक सभ्यता के अवशेष मिले हैं। इनकी नगर-योजना कई दृष्टिकोण से आज भी अनुकरणीय है। मकान पक्की ईंटों के बने थे और इसकी वास्तुकला व्यावहारिक और उपयोगिया के सिद्धान्त पर विकसित थी। अन्य कलाओं का भी अच्छा विकास हुआ था। यहाँ भी धर्म की सहचरी कला थी। मिट्टी की मुहरों पर जानवरों के खुदे चित्र धार्मिक महत्त्व के ही थे। इन पशुओं में ब्राह्मी साँढ़ की आकृति अत्यन्त ही स्वाभाविक, ओजपूर्ण और गौरवपूर्ण है। हरप्पा-संस्कृति के कतिपय धार्मिक विश्वास बाद में भारतीय धर्म के भी अंग बन गये। वृक्षों की पूजा, लिंग-पूजा, पशुओं का धार्मिक महत्त्व, मातृदेवी की पूजा, शिव के समान योगी पुरुषदेव की पूजा और बलि-प्रथा हरप्पा और हिन्दू—दोनों धर्मों में पाई जाती है। अतः यह अनुमान गलत नहीं होगा कि आर्यों ने, कुछ समय बाद, आर्येतर धर्म और परम्पराओं को बहुत दूर तक अपना लिया था। इससे आर्य-संस्कृति की विलक्षण क्षमता ही नहीं, वरन् अनार्यों की संस्कृति और परम्परा की शक्ति भी सिद्ध होती है, जिसका अनादर आर्य-संस्कृति न कर सकी। सिन्धु-घाटी की प्राचीन कला में भी हम कुछ ऐसे गुणों की उपस्थिति देखते हैं, जो दो हजार वर्ष बाद की कलात्मक कृतियों के विशिष्ट गुण माने गये हैं। सिन्धु-घाटी में प्राप्त मुहरों पर अंकित स्वाभाविक और प्रतापी साँढ़ की आकृति मौर्यकालीन रमपुरवा के साँढ़ का आदर्श है। योगासन पर बैठे, और अधखुली आँखों को नासिका की ओर स्थिर किये, तीन सिरवाले पुरुष देव[१] भारतीय योगी-मूर्त्तियों के पूर्वज हो सकते हैं। योगमुद्रा भारतीय संस्कृति की अपनी विशेषता है। सिन्धु-घाटी में जब हम एक और मूर्त्ति को योगमुद्रा में देखते हैं, तब हमारा यह विश्वास दृढ हो जाता है कि योग इस समय प्रचलित था। सिन्धु-घाटी में बलुए पत्थर की बनी तृतीय आयाम की मूर्त्तियों के धड़ भी मिले हैं[२] जिनमें एक नर्तक का धड़ है। इन मूर्त्तियों में हम स्वाभाविकता तो पाते ही हैं, कोमलता,

---

१. चित्र-संख्या—६

२. चित्र-संख्या—१०

नवनीतता और गतिशीलता भी स्पष्ट देखते हैं जो बाद में भारतीय मूर्त्तिकला की विशेषताएँ मानी गईं।

सिन्धु-घाटी की सभ्यता की कलात्मक कृतियों के बाद जो हमें कलात्मक कृतियाँ उपलब्ध होती हैं; वे मौर्यकालीन कृतियाँ हैं। दो हजार वर्ष की इस विशाल खाई को पाटना आज कठिन है। प्रश्न है कि मौर्यकालीन और उसके बाद की मूर्त्ति-कलाओं में तथा हरप्पा-मूर्त्ति-कला में क्या कोई सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है? पुरातत्त्व के प्रमाणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सिन्धु-घाटी की सभ्यता के बाद भारतीय कला का अन्धकार-युग ही सामने आता है, और मौर्यकाल के आरम्भ से ही कला के पुनः पूर्ण विकसित रूप का परिचय मिलता है। हरप्पा-परम्परा की कड़ी छिन्न-भिन्न दिखाई पड़ती है। अतः भारत के ऐतिहासिक युग—मौर्य एवं शुंग—की कला का नाता सुदूर पूर्वकालीन हरप्पा-कला से जोड़ना तर्कहीन-सा लगता है। इसी आधार पर कुछ प्रसिद्ध भारतीय और विदेशी विद्वान् मौर्यकालीन शिल्प-कला का स्रोत, भारत से बाहर, पश्चिम एशिया में ढूँढ़ते हैं। वे मौर्यकला को समकालीन या तत्कालपूर्व इरानी अथवा यूनानी परम्परा की देन समझते हैं। इसपर आगे विस्तारपूर्वक विचार किया जायगा। फिर भी, अभी यह बता देना असंगत न होगा कि जब हम भारतीय धार्मिक विश्वासों और परम्पराओं में हरप्पा के धर्म और आचार-विचार को ढूँढ़ते हैं, तब कला को भी क्यों नहीं सिन्धु-घाटी की कला का ऋणी मानें?

भारतीय कला के इतिहास में जो अंधकार मालूम पड़ता है, उससे भारतीय कला की अवरुद्धता या अभाव नहीं, वरन् हमारे ज्ञान की परिमितता माननी चाहिए। पुरातत्त्व-दृष्टिकोण से भारत के प्राचीन अवशेषों और खँड़हरों की वैज्ञानिक और व्यापक रूप से खुदाई और पैमाइश नहीं हुई है। इसलिए मौर्यकाल के पूर्व की कलात्मक कृतियों की वर्त्तमान अनुपस्थिति में हम एक कलाविहीन युग की स्थिति प्रमाणित नहीं कर सकते हैं। सिन्धु-घाटी के गौरवमय अवशेष भी तो तीस-पैंतीस वर्ष पहले बिल्कुल अज्ञात थे। जबतक पुरातत्त्व-विज्ञान इस लम्बी अवधि पर पूर्ण प्रकाश नहीं डालता, हमें भारत के प्राचीन साहित्य से ही मौर्य-काल के पूर्व की कला का अनुमान करना होगा। यह आधार बिल्कुल विश्वसनीय नहीं होगा, पर ठोस स्मारक चिह्नों के अभाव में इस आधार की नितान्त उपेक्षा भी हम नहीं कर सकते। यह ध्यान में रखने की बात है कि पूर्व-वैदिक युग में मगध की भर्त्सना की गई है; क्योंकि मगध वैदिक-आर्य सभ्यता से एक अलग आर्येतर सभ्यता का केन्द्र था, तथा आर्यीकरण का विरोध करता था। इस कारण मगध में आर्येतर सभ्यता का जोर बना रहा और ऐतिहासिक युग में भी अवैदिक परम्पराएँ—विशेषकर धार्मिक और कला-सम्बन्धी—यहाँ मान्य रहीं। मगध के प्राचीन अवशेषों में सप्तमातृका की पूजा, देवी की पूजा, वृक्षों और श्मशानों की पूजा प्रचलित रही। आर्येतर और आर्य-संस्कृतियों का सम्मिश्रण मगध में पीछे पूरी तरह हुआ तथा मगध की कला भी आर्य और अनार्य जातियों की परम्पराओं पर विकसित हुई। मगध-कला की

१. चित्र-संख्या ११

अपनी अलग विशेषता का यह भी एक प्रधान कारण है। मगध की कलात्मक धार्मिक परम्पराओं, अंधविश्वासों और सामाजिक व्यवहारों में अभी भी अनार्य-प्रभाव स्पष्ट है।

सारगर्भित संगीतमय क्रियाओं के स्रष्टा वैदिक आर्यों को कलाविहीन समझना असंभव है। वैदिक आर्य जब अध्यात्मवाद, गणित, औषध-विज्ञान, दर्शन और कविता में अप्रत्याशित उन्नति कर चुके थे, तब निश्चित है कि उनके जीवन में कला का प्रर्याप्त समावेश होगा ही, भले उसका स्वरूप भिन्न हो। आर्य बनजारे नहीं थे, वरन् स्थिर जीवन व्यतीत करते थे। उन्होंने अपनी और अपने पशुधन की रक्षा एवं सुविधा के लिए गृहों तथा गोशालाओं का निर्माण किया था। आर्य-संस्कृति का विस्तार अछूरी धरा पर नहीं हुआ था। आर्यों के आने के पहले ही भारत में अत्यन्त उच्चकोटि की सभ्यता फैली थी, यह सर्वविदित है। सिन्धु-घाटी की सभ्यता का विस्तार पूर्व में कहाँ तक था, यह अभी कहना मुश्किल है। किन्तु, पुरातत्त्व-विभाग के द्वारा हाल में की गई खुदाइयों से इस दिशा में कुछ रोशनी पड़ी है। सिन्धु-घाटी की सभ्यता नदी-तट की सभ्यता थी और उसकी भौगोलिक स्थिति इस विकास में सहायक रही। यदि नील-घाटी में, दजला-फुरात काँठे में और सिन्धु-घाटी या ह्वांग-हो-घाटी में प्राचीनतम सभ्यताएँ फूली-फलीं, तो गंगा-तट-प्रदेश में भी विकसित नागरिक सभ्यता के अवशेष मिलने की आशा निर्मूल नहीं है। वैदिक साहित्य में ही अनार्यों की संस्कृति के अनेक संकेत मिलते हैं। वैदिक साहित्य में विरोधी भावना का आधार मगध को आर्येतर संस्कृति का प्रभावशाली गढ़ होना ही माना जा सकता है। कतिपय विद्वान् बौद्ध-युग में मगध की धार्मिक भावनाओं और रीतियों में अनार्यों की परम्पराओं का अनुकरण देखते हैं। इन संकेतों के आधार पर वैदिक और बौद्ध-युग में स्वदेशीय संस्कृति की स्थिति मगध में मानी जा सकती है, जो हिन्दू और बौद्ध-धर्मों का तथा कला का अंग बन गई। स्वर्गीय डाक्टर 'पारजिटर' ने सिन्धु-घाटी की सभ्यता का पता लगने के पहले ही लिखा था कि स्वतंत्र अनुसंधान से यह अनुमान होता है कि आर्य जब भारत में आये, तब उन्होंने यहाँ कतिपय क्षेत्रों में ऐसी सभ्यता देखी, जो उनकी सभ्यता से अधिक सम्पन्न नहीं तो कम भी नहीं थी—विशेषकर अवध और उत्तर बिहार में[१]। बिहार के प्रतिष्ठित इतिहासकार स्वर्गीय डा० सरकार के कई अनुमान हरप्पा और मोहेञ्जोदड़ो की खुदाई से प्रमाणित हो चुके हैं। उन्हीं का विचार है—"समय दूर नहीं, जब यह स्वीकार कर लिया जायगा कि वैदिक और आर्येतर सभ्यताएँ गंगा-घाटी के निचले प्रदेश में जन्मीं और यहीं से पश्चिम की ओर फैलीं।"[२] डा० सरकार ने वेदों के अध्ययन के आधार पर यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि मध्यदेश में वास्तुकला का विकास कठघरे (Railing), तोरण (Gateway) आदि के रूप में हुआ ; पर पूर्व भारत में जलवायु के प्रभाव के कारण छत के रूप में ही ध्यान दिया गया। आर्य-सामन्तों के पुर और अनार्यों के दुर्गों के भी उल्लेख हुए हैं। शतभुजी, अश्ममयी, आयसी, पुर इत्यादि शब्दों के व्यवहार से स्पष्ट हो जाता है कि

---

१. *Some Aspects of the Earliest Social History of India, foreword.*

२. वहीं, लेखक की भूमिका।

वैदिक कालीन आर्य सिर्फ मामूली झोपड़ियों से ही अवगत नहीं थे। उन्होंने ठोस, मजबूत विशाल और पेचीले भवनों और पुरों की कल्पना की है। मकानों और दुर्गों के निर्माण में ईंटों के व्यवहार के साथ लकड़ी का व्यवहार अधिक होता था। अयस् शब्द के अर्थ के विषय में मतभेद है। कुछ लोग इसका अर्थ लोहा कहते हैं और कुछ लोग ताँबा। बहुत सम्भव है कि उस समय मकानों या किलों के लकड़ीवाले दरवाजों को वे ताँबा का पत्तर देकर मजबूत बनाते हों। लकड़ी के बने पुर, चरिष्णुरथों पर, इधर-से-उधर खीमे की तरह, खिसकाये जाते थे। 'देही' शब्द का प्रयोग अनार्यों के रक्षात्मक किलेबन्दी के लिए हुआ है। आज भी बिहार-बंगाल में 'डीह' शब्द से ऊँची जगह पर स्थित गाँव का बोध होता है। अथर्व वेद में वर्णित मकानों के भिन्न-भिन्न अंगों से बिहार-बंगाल की तत्कालीन स्थापत्य-कला का आभास मिलता है। उपमित, प्रतिमित और परिमित शब्दों से लकड़ी के बने बल्ले या शहतीर की भिन्न-भिन्न स्थिति का पता चलता है, जैसे—खड़ी, पड़ी या तिरछी। छप्पर बाँस का बना होता था, जिसमें फटे या पतले बाँस को चटाईनुमा हल्के तौर पर बाँधा जाता था। उसे एक केन्द्रीय स्थून या लकड़ी के स्तम्भ पर अवस्थित किया जाता था। छत पर पुआल या सूखा तृण बिछाया जाता था। फिर रस्सी के द्वारा इसे बाँस के बने ढाँचे से कस दिया जाता था। अथर्व वेद में व्यवहृत 'पलाव' शब्द इसी 'पुआल' के लिए आया है। दीवार या गच कच्ची ईंटों से या पतली मिट्टी से पाट दी जाती थी। 'ईंटा' से अभी भी बिहार में कच्ची और पक्की ईंट का बोध होता है। मकानों में लकड़ी का भी व्यवहार होता था। स्तम्भ, स्थाणु या स्थून लकड़ी के ही होते थे। बिहार के खुंभ या खुंभी शब्द 'स्थून' से ही बने हैं। इन स्तम्भों के निर्माण में धातु का भी प्रयोग होता था; क्योंकि 'अयःस्थून' का उल्लेख मिलता है। परिघ शब्द से भी धातु के बने कब्जों का बोध होता है। वेद धर्म-ग्रन्थ हैं, इसलिए स्वभावतः उनमें वास्तुविद्या के धर्म-सम्बन्धी उपकरणों का ही उल्लेख अधिकतर मिलेगा। यज्ञ के समय यूप खड़ा किया जाता था और मन्त्रों द्वारा इसकी पूजा की जाती थी। इससे यूप के स्वरूप का संकेत मिलता है। अत्यन्त सावधानी से इसे तैयार किया जाता था। इसकी चोटी पर फूलों की माला रक्खी जाती थी। जब एक से अधिक यूपों की आवश्यकता होती थी, तब इन्हें कतारों में खड़ा किया जाता था। ब्राह्मण-ग्रन्थों से पता चलता है कि यूप अठपहल (Octagonal) भी होते थे। यूप के ऊपरी भाग पर 'चम्बाल' स्थिति किया जाता था और इसी ने आगे चलकर स्तम्भों की शिरा का रूप धारण किया। चौकोर यूप का भी उल्लेख है। यह मार्के की बात है कि ऐतिहासिक युग के स्तम्भ अधिकतर अठपहल या चौकोर मिले हैं। वैदिक और ब्राह्मण युग में ये यूप लकड़ी के थे। पीपल, देवदार इत्यादि प्रमुख पवित्र वृक्षों के धड़ के ही यूप बनाये जाते थे; किन्तु बाद को स्वतंत्र रूप में सीधे-खड़े पाषाण-स्तम्भ के रूप में यूप बनने लगे थे। इसके बीज तो हम ऋग्वेद के समय के यूपों में ही ढूँढ़ सकते हैं। इसी प्रकार मृतकों के लिए श्मशान में यूप खड़े किये जाते थे। 'शतपथ ब्राह्मण' में प्राच्यवासियों के श्मशान बनाने की विधि की निन्दा की गई है। पता चलता है कि इनके श्मशान पृथ्वी से सटे न होकर ऊँचे चबूतरे पर बनते थे। इनका आकार गोलाकार अंडे की आकृति का

होता था और इनके चारों ओर कठघरे (रेलिंग) दिये जाते थे। बहुत विद्वानों का खयाल है कि श्मशान और इनके कठघरे पत्थर के बनते थे। 'वेवर साहब' 'श्मशान' शब्द को अश्म-शयन से बना मानते हैं।[१] बौद्धकालीन स्तूप का रूप प्राच्य श्मशान से बहुत भिन्न नहीं है। ऋग्वेद में स्तूप शब्द का प्रयोग कतिपय ऋचाओं में हुआ है[२] ; किन्तु वैदिक विद्वान् इस शब्द का अर्थ स्तूप के साधारण अर्थ से भिन्न बताते हैं। आश्चर्य नहीं कि वैदिक ऋषियों के सामने अनार्यों के स्तूप भी रहे होंगे।[३] ऋग्वेद में आर्यों की समाधि का एक रूप मृण्मय-गृह का भी था।[४] शायद यह एक मकबरा था जिसमें कब्र के ऊपर या नजदीक कई कमरे बने थे। मृण्मय गृह परिधिमय था। अतः स्वभावतः यह वर्तुलाकार रेलिंग से घिरा हुआ था। एक दूसरे प्रकार की समाधि पर्वताकार होती थी। मृतक के अवशेष पर मिट्टी का पहाड़-सा ढेर लगा दिया जाता था, और एक 'लौग' (लग्गा) इसपर खड़ा कर दिया जाता था। शायद पृथ्वी की मूर्त्ति भी इस कब्र में रख दी जाती थी। भाव यह था कि पृथ्वी पर उत्पन्न जीव फिर पृथ्वी माँ की गोद में वापस चला गया और मृतक की आत्मा पृथ्वी के संरक्षण में रहे। यही उसके जीवित सम्बन्धियों की प्रार्थना थी। नन्दनगढ़ (चम्पारन) में डॉ० ब्लौक् ने शायद ऐसी ही एक समाधि का पता पाया था। एक मिट्टी के टीले की खुदाई में उन्हें कई लकड़ी के खम्भे मिले और मिट्टी की भिन्न-भिन्न तहों में मनुष्य की हड्डियाँ मिलीं। एक स्वर्ण-पत्र पर स्त्री की अंकित भद्दी मूर्त्ति भी मिली।[५] बिहार की प्राचीन समाधियों में अभी तक लौरिया-नन्दनगढ़ की यही समाधि प्राप्त हुई है। सभी विद्वान् ब्लौक् के इस विचार से सहमत नहीं हैं। पर, वैदिककालीन समाधियों के उल्लेख से यह तो स्पष्ट है कि परिधि से घिरी हुई अर्द्धवर्तुलाकार या अंडाकार समाधियाँ बाद में आनेवाले स्तूप या उसकी रेलिंग और उसके निकट अवस्थित स्तम्भ से मिलती-जुलती हैं। इसी प्रकार यज्ञ-वेदी की रचना में हेवेल् साहब मन्दिरों के गर्भ-गृह और शिखर का बीज पाते हैं। यह कभी-कभी बहुत दिनों तक चलता था। यज्ञ-कुंड में अग्नि बराबर प्रज्वलित रहती थी। राजा भी प्रायः यज्ञों में प्रत्यक्ष भाग लेता था। धूप, पानी तथा वायु से बचने के लिए दर्शकों और याचकों के वास्ते बैठने आदि का प्रबन्ध किया जाता था। पर, यह भी आवश्यक था कि यज्ञ-कुंड की प्रज्वलित अग्नि का धुआँ आसानी से बाहर निकले। इसलिए झोपड़ी की छत चिमनी-नुमा बनाई जाती थी। लम्बे बाँसों को एक सिलसिलेवार ढंग से खड़ा कर दिया जाता था और ऊपर से बाँधकर चिमनीनुमा ढाँचा तैयार कर लिया जाता था। फिर लकड़ी या बाँस को हल्के तौर पर बाँध कर ऊपर से फूस डालकर छत तैयार कर ली जाती थी। दीवार भी फूस या मिट्टी की ही रहती थी तथा यज्ञ-वेदी वर्गाकार होती थी। इसी आधार पर हिन्दू-मन्दिर का शिखर और गर्भगृह का विकास हुआ, ऐसा हेवेल् साहब का अनुमान है।

---

१. वही पृष्ठ ४४।

२. ऋग्वेद १—२४—२७।

३. *A study in Vastuvidya : pp 20—21*

४. *R. V. X. 18* ५. *Archeological Survey of India : Annual Reports. 1906—7 ; pp. 119 FT.*

धर्म और मृत्यु-सम्बन्धी स्थापत्य के अतिरिक्त साधारण गृह, राजमहल और नगरों के विषय में भी वैदिक साहित्य में यत्र-तत्र उल्लेख है। 'हर्म्य' शब्द से बड़े-बड़े ऊँचे मकान का, जिनमें बालकनी या छज्जा भी होता था, बोध होता है। मकानों की छतें स्तम्भों पर टिकी थीं। स्तम्भों के लिए जो शब्द व्यवहृत हुए हैं, उनमें स्थून, खम्भ, विष्खम्भ और स्तम्भ शब्द का प्रयोग हुआ है। वरुण के सहस्र स्तम्भवाले भवन का उल्लेख मिलता है। 'शुभ्र' भवनों से संकेत मिलता है कि दीवारों पर सफेदी होती थी।

एक अत्यन्त विवादास्पद प्रश्न यह है कि वैदिककालीन भवन-निर्माण में पाषाणों का व्यवहार होता था या नहीं। यह तो सर्वमान्य है ही कि मकानों के निर्माण में अधिकतर लकड़ी, बाँस मिट्टी, कच्ची ईंट, पुआल और तृण का व्यवहार होता था। पर भवनों के लिए 'दृढ' और ऐसे अनेक विशेषण मिलते हैं जिनके प्रयोग से प्रतीत होता है कि मकान मजबूत होते थे। बहुत सम्भव है कि दुर्गों की रक्षापंक्ति पत्थरों की बनी होती हो। ऋग्वेद में एक जगह पत्थर के बने सौ नगरों का उल्लेख है (अश्ममयसि)।[१] यदि इसका भाव लिया जाय कि यह असुरों के काल्पनिक दुर्गों का वर्णन है, तो इस कल्पना का भी तो ठोस आधार होना ही चाहिए। शायद 'पुर' नगर नहीं, वरन् नगर की रक्षा-परिधि को कहते हों जो पत्थरों की बनी होती हो। 'शतभुजी' का उल्लेख आया है जो सैकड़ों परकोटेवाले नगर का बोधक है।[२] यदि इसे अत्युक्ति भी कहें तो सुदृढ और ठोस किलेबन्दी की ओर तो संकेत स्पष्ट है। बहुत सम्भव है कि रक्षा की ये दीवारें और उनकी पंक्तियाँ रौंदी हुई मिट्टी की हों जिनमें ईंटों के पुट्ठे दिये गये हों। इसका पता हरप्पा की किलेबन्दी से चलता है। श्मशान भी मिट्टी या ईंटों का बना होता था। शायद इसी कारण इनके अवशेष प्रायः नहीं मिलते हैं। पर किलेबन्दी या श्मशान के निर्माण में पत्थरों के व्यवहार की सम्भावना को बिल्कुल अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। राजगृह के प्राचीन नगर की किलेबन्दी चारों ओर पाषाण की बड़ी-बड़ी चट्टानों को एक-पर-एक रखकर की गई थी। पत्थरों के जोड़ने में किसी तरह का मसाला नहीं लगाया गया था।[3] यह रक्षा-पंक्ति अभी भी दस फीट ऊँची और १६ फीट चौड़ी है। राजगृह के पाँचो पहाड़ों को घेरती हुई यह दीवार मीलों लम्बी थी। दीवार के ऊपर छोटे-छोटे पत्थरों और ईंटों की एक इमारत ही खड़ी कर दी गई थी। दीवार को और भी सुदृढ़ और सुरक्षित रखने के लिए निश्चित दूरी पर बड़े-बड़े बुर्ज (bastions) बने थे। ये बुर्ज चतुर्भुजाकार थे। इनके ऊपर चढ़ने के लिए सीढ़ियाँ बनी थीं। रक्षा-पंक्ति की रखवाली के लिए ऊँची मीनारें बनाई गई थीं। बनगंगा नदी के समीप के पहाड़ों पर एक ऐसी मीनार का अवशेष है—भग्नावशेष है। विना किसी प्रकार के गारे का व्यवहार किये पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति का सहारा लेकर, बड़ी-बड़ी चट्टानों को एक-पर-एक सिलसिलेवार रखकर सुदृढ़ किलेबन्दी करना प्राचीन सभ्य जातियों का अपना एक तरीका रहा है। यूनान में माइकिन शहर के बड़े-बड़े दरवाजे इसी नियम

१. ऋग्वेद ४.३०.२०.
२. ऋग्वेद १-१६६-८ ; ७-१५-१४.
३. चित्र-संख्या—१२

से बने हैं। राजगृह की यह पाषाण-किलाबन्दी वैदिक युग की तो नहीं है, पर भारत के प्राचीनतम अवशेषों में, सिन्धु-घाटी की सभ्यता के बाद की अवश्य है। इसका समय ८००-६०० ई० पू० माना जा सकता है। यदि यह अनुमान सत्य है तो वैदिक और ब्राह्मण-युग में भी पाषाणों का सीमित प्रयोग निश्चित रूप से होता होगा।

वैदिककाल में भी स्थापत्य-कला का विकास तो अवश्य हो चुका था ; पर मूर्त्ति-कला का उचित विकास सम्भव नहीं था। वैदिक आर्य मूर्त्ति-पूजक नहीं थे। यद्यपि ऋग्वेद में एक जगह इन्द्र की सुवर्ण-मूर्त्ति का उल्लेख आया है ; क्योंकि यज्ञ में हिरण्य-पुरुष की आवश्यकता होती थी। एक प्राचीन कब्र से स्वर्ण-पत्र पर खुदी स्त्री की मूर्त्ति मिली है, तथापि कलात्मक दृष्टि-कला से ये नगण्य हैं। इन भद्दी या कुरूप मूर्त्तियों से इनके आधार पर विकसित मूर्त्तिकला का अनुमान नहीं लगाया जा सकता है। किन्तु, मगध ऋग्वैदिक सभ्यता के प्रबल प्रभाव में बहुत समय तक नहीं आया, इसलिए सम्भव है कि यहाँ की आर्येतर जातियाँ, सिन्धु-घाटी की जाति की तरह, देवी, माया, भूदेवी की पूजा करती हों, और बहुत संभव है कि उनके यहाँ ये मूर्त्तियाँ मिट्टी की ही बनती हों। यह उल्लेखनीय है कि सभी प्राचीनतम आर्येतर जातियाँ देवी-माँ की पूजा करती थीं। भू-देवी और देवी-माँ की प्राचीन मूर्त्तियाँ सीरिया, मेसोपोटेमिया, मिस्र, क्रीट और एशियामाइनर के प्राचीन स्थलों में मिली हैं। बौद्ध-साहित्य से यह प्रत्यक्ष हो जाता है कि बिहार में बौद्ध-काल में चैत्यों और यक्षों की पूजा साधारणतः प्रचलित थी। यह भी सत्य है कि वैदिककालीन स्थापत्य और मूर्त्तिकला के नमूने अधिकतर उपलब्ध नहीं हुए हैं। बहुत सम्भव है कि ये सब लकड़ी या मिट्टी के बने हों, जिससे इनका अस्तित्व समाप्त हो गया। हेवेल साहब का कहना है कि वैदिक आर्य अपनी यज्ञ-वेदियाँ, यूप और श्मशान जल्द ही नष्ट होनेवाले पदार्थों से बनाते थे। वे नहीं चाहते थे कि उनकी ये पवित्र और धार्मिक रचनाएँ किसी अनधिकारी के द्वारा अपवित्र की जायँ।

इसी वैदिककालीन परम्परा को ध्यान में रखते हुए पूर्व-बौद्ध-काल की कला का अध्ययन करना चाहिए। बौद्ध-युग के आरम्भ में बिहार में ही लिच्छवी, मगध और अंग-राज्य अत्यन्त प्रभावशाली थे। अन्त में मगध ने अपनी राजनीतिक सत्ता उत्तरभारत के बड़े भू-भाग पर स्थापित कर लिया। दृढ़ और सम्पन्न साम्राज्य के उदय के साथ-साथ—संस्कृति के विभिन्न पहलुओं का विकास स्वाभाविक था। जातकों और बौद्ध-धर्म के प्रारंभिक ग्रन्थों में ही मगध और लिच्छवी-राज्य की भौतिक समृद्धि का वर्णन मिलता है। बिम्बिसार की राजधानी कुशाग्रपुर (राजगृह) की किलेबन्दी और कई उच्च अट्टालिकाओं से सज्जित महलों का वर्णन हुआ है। साँची-रेलिंग पर अजातशत्रु का बुद्ध से मिलने के लिए जाने का दृश्य उत्कीर्ण है। इस दृश्य में स्तम्भों पर टिकी अट्टालिकाएँ हैं, जिनकी बालारेज से स्त्री-पुरुष जुलूस को देख रहे हैं। स्तम्भ अठपहल हैं। और उनपर पशु-शिर हैं। इस चित्र से मगध के तत्कालीन स्थापत्य का कुछ ज्ञान हो जाता है।[1] जातकों में प्रासाद और विमान का उल्लेख है, जिनसे विशाल और अलंकृत भवनों का बोध होता है।

---

१. चित्र-संख्या–१३।

पुरों के दुर्ग, प्राकार (चहारदीवारी) और परिखा (खाई) के उल्लेख से नगर-योजना का आभास मिलता है। दीवारों में द्वार और उनपर बुर्ज बने थे। जातक-संख्या ५४६ से यह पता चलता है कि जमीन के भीतर गहरी सुरंग खोदी गई थी, और उसके अन्दर बड़े-बड़े भवन बने थे। सुरंग के अन्दर जाने का द्वार १८ हाथ ऊँचा था। इसके सभी दरवाजे एक यांत्रिक विधि से बन्द होते थे। इस प्रकार की यांत्रिक प्रक्रिया द्वारा राजमहल के कोषागार की रक्षा का उल्लेख कौटिल्य ने भी किया है। सुरंग के दोनों किनारों पर ईंट की दीवारें बनी थीं, जिनके आलाओं (ताखों) में चूने और मिट्टी की मूर्त्तियाँ सजाई गई थीं। सब मिलाकर ८० बड़े और ६० छोटे द्वार थे। दोनों ओर १०१ सैनिकों के लिए १०१ कमरे बने थे। प्रत्येक कमरे में एक सुन्दर नारी-मूर्त्ति थी और सुरंग के अन्दर की दीवार पर सुन्दर चित्र थे। इस समय भवन-निर्माण-कला अत्यन्त सुसंस्कृत थी, यह स्पष्ट है। पर इनके निर्माण में अधिकतर लकड़ी, मिट्टी और ईंट का व्यवहार होता था। दीवारों, स्तम्भों, चौखटों आदि को सोने-चाँदी से अलंकृत किया जाता था। राइज डेविड्स साहब का यह निश्चित मत है कि मकान के ऊपरवाले भाग लकड़ी या ईंटों के बने थे।[1] चुल्लवग्ग से पता चलता है कि बुद्ध ने अपने शिष्यों को भी महल, सीढ़ियों और प्रासादों की छत में ईंटों के व्यवहार की अनुमति दे दी थी। पत्थर के प्रयोग के उदाहरण प्रमाणतया नहीं ही मिलते हैं। राइज डेविड्स का कहना है कि जातकों में सिर्फ एक जगह पाषाण-प्रासाद का उल्लेख है, पर वह भी काल्पनिक जगत् में ही (५४५ प्रासाद एत्थ शिलामया)। साथ ही, ये यह भी कहते हैं कि स्तम्भों और सीढ़ियों के वर्णन में जो 'शिलास्थम्भत्' (४७६) शब्द का प्रयोग आया है, उससे पत्थर के प्रयोग का भी पता चलता है। राजगीर में पीपल-गृह[2] वैभारगिरि पर स्थित है। पहाड़ की चट्टानों को एक-पर-एक सिलसिलेवार रखकर ऊँचा चबूतरा बनाया गया है। इसमें किसी प्रकार की जोड़ाई का चिह्न नहीं है। इसके नीचे चारों ओर छोटे-छोटे कमरे बनाये गये हैं, जो प्राकृतिक गुफा-से लगते हैं। राजगीर की पहाड़ियों पर पत्थरों की रक्षा-पंक्ति का उल्लेख पहले किया जा चुका है। इसके अवशेष अब भी वर्त्तमान हैं। अतः यह स्पष्ट है कि स्थापत्य-कला में पत्थरों का प्रयोग, सीमित ही सही, होता था। जातकों में वर्णित सुसज्जित भवनों और दुर्ग-सहित नगरों से मौर्यकालीन नगरों की तुलना हर तरह से आवश्यक है। यद्यपि मौर्यकाल में पाषाणों का प्रयोग बड़े पैमाने पर हुआ है, तथापि पूर्व-बौद्ध युग में ही स्थापत्य-कला के रूप में इसका प्रयोग स्वीकृत हो चुका था।[3]

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि भारत की सबसे प्राचीन सभ्यता में वृक्षों की पूजा प्रचलित थी। सिन्धु-घाटी की मुहरों पर पीपल के वृक्ष और उसके चारों ओर एक घेरा-सा चित्रित है। वृक्षों के मध्य में वृक्ष-देवी खड़ी दीखती हैं। बौद्ध-युग में तथा उसके पहले और बाद में भी वृक्षों की पूजा बिहार में होती आई है। बौद्ध-साहित्य, जैन-साहित्य और विदेशी यात्रियों के वर्णन में भी चैत्यों की पूजा के उल्लेख भरे-पड़े हैं। कुछ लोग

---

१. *Buddhist India.*

२. चित्र-संख्या–१४ ।

३. *A Study on Vastuvidya, pp.—58-59.*

इसे मंदिर समझते हैं; पर, बौद्ध-धर्म के अनुसार यहाँ यक्षों या यक्षिणियों की पूजा होती थी। यह किसी मूर्त्ति की नहीं, वरन् वृक्ष की पूजा थी, जिसमें देव या देवी की स्थिति का विश्वास किया जाता था। प्राचीन चम्पा (भागलपुर के समीप) नगर के बाहर 'पुन्नभद्द' नामक एक देवगृह का उल्लेख प्राचीन जैनागम-ग्रन्थ औपपातिक सूत्र में किया गया है। डाक्टर 'वार्नेट्' ने 'अंतःकृतदशांग' में इसका अनुवाद किया है। इस धर्मस्थान में कई छत्र, झंडे और घंटे लगे थे, यहाँ मंच बना था जिसे गोबर से अच्छी तरह लीप दिया गया था। इसपर चन्दन की पाँचों उँगलियों की छाप दी गई थी, जो विभिन्न प्रकार की थी। यहाँ पूजा में काम आनेवाले घड़ों का अंबार लगा था। इसके दरवाजे पर भी कलश रखे गये थे और दरवाजा मेहराबदार था। मंच पर और उसके नीचे मालाओं का ढेर लगा था। पुन्नभद्द चैत्यवन के मध्य में था और वहाँ एक विशाल अशोक वृक्ष था। उसकी जड़ के निकट मिट्टी का एक बड़ा मंच बना था, जो अठपहल था। वह दर्पण की तरह चिकना और स्वच्छ था। इसपर विभिन्न पशुओं, और पक्षियों—साँढ़, मृग, सर्प, अश्व, बैल, हाथी आदि—के चित्र बने थे। वन्य लताओं और कमल-नाल के भी चित्र बने थे। पूजा की वस्तु कोई मूर्त्ति नहीं थी, वरन् अशोक-वृक्ष की पूजा होती थी और उसके निकट का मंच मानव-मूर्त्तियों से अलंकृत नहीं था। इस विवरण से भरहुत और साँची की रेलिंग पर खुदे चित्रों की तुलना की जा सकती है।[१]

वैशाली में अनेक चैत्य थे जिनकी पूजा की जाती थी। इन चैत्यों का आदर और इनकी रक्षा भगवान् बुद्ध के विचार में वज्जिसंघ की सुदृढ़ स्थिति के लिए जरूरी थी।[२] उस समय के प्राचीन चैत्यों में उदेन चैत्य, गोतमक चैत्य, सत्तम्बक चैत्य, बहुपुत्रक चैत्य, सारदन्द चैत्य प्रभृति उल्लेखनीय हैं। इन सब चैत्यों में अधिकतर यक्षों की पूजा होती थी। ये बड़े सुन्दर ढंग से सजाये जाते थे। भगवान् बुद्ध ने मुक्तकण्ठ से इन चैत्यों की रमणीयता की प्रशंसा की थी। वैशाली के प्राचीन स्तूपों और संघारामों का उल्लेख चीनी यात्रियों ने किया है। फाहियान के अनुसार वैशाली-नगर के उत्तर में महावन था, जिसमें एक दो-महला संघाराम स्थित था। भगवान् बुद्ध ने इस विहार में एक बार विश्राम किया था। आनन्द के पवित्र अवशेष पर यहाँ एक ऊँचा स्तूप भी बना था। नगर के दक्षिण में अम्बपाली का दान किया हुआ आम्रवन था और अम्बपाली के द्वारा निर्मित ऊँचे स्तूप के अवशेषों को फाहियान ने देखा था।[३] वैशाली में केवल चैत्य और स्तूप ही उल्लेखनीय नहीं हैं। वहाँ की ऊँची अट्टालिकाओं, ऊँचे प्रासादों और नगर की सुदृढ़ चहारदीवारी के अवशेषों को भी चीनी यात्री ह्वेनसंग ने देखा था। प्राचीन बौद्ध तिब्बती 'विनय-ग्रन्थ' में वैशाली के एक महल्ले में सात-सात हजार सतमंजिले मकानों

---

१. *R. P. Chanda—Mediaeval Sculpture in Eastern India, Journal of Department of Letters, III; pp. 234—35.*

२. महापरिनिर्वाणसूत्तम्

३. *The Pilgrimage of Fahien from French Edition of M. M. Ramusat and others, 1848. p. 240,*

का वर्णन है। इन मकानों के गुम्बज सोने से मढ़े थे।[१] दूसरे महल्ले में चौदह हजार मकान थे, जिनके गुम्बज चाँदी से मढ़े थे और तीसरे महल्ले में इक्कीस हजार मकान थे, जिनके गुम्बज ताँबे से मढ़े थे। इस प्रकार वैशाली के समाज के वर्गीकरण के साथ ही तत्कालीन ऐश्वर्य और स्थापत्य-कला का भी अनुमान हो जाता है। इसी प्रकार ह्वेनसंग ने द्वितीय बौद्ध-संगीति के स्मारक स्तूप के निकट श्वेतपुर-विहार का उल्लेख किया है, जिसमें अनेक चमकीले रंगों से सुशोभित बड़े-बड़े कमरे थे।[२]

मौर्य-काल के पूर्व गया और राजगृह के चैत्यों और स्तूपों के भी विवरण मिलते हैं। सुजाता वृक्षदेव की पूजा करने चली थी, पर उसने वट-वृक्ष के नीचे भगवान् बुद्ध को, साक्षात् देवता ही समझकर, खीर भेंट की थी। प्राचीन बौद्ध-साहित्य में गया-क्षेत्र एक प्रमुख धार्मिक केन्द्र माना गया है और फल्गु नदी तथा ब्रह्म-सरोवर में स्नान करना पवित्र समझा जाता था। प्राचीन बौद्ध-ग्रन्थों में ब्रह्म-सरोवर के तीर पर एक मंच का होना बताया गया है। इस मंच में एक यक्ष वास करता था, ऐसा उल्लेख है। यह मंच एक ऊँचा चबूतरा था, जिसे 'टमकिट्मंच' के नाम से पुकारा जाता था। भाषा-विशेषज्ञों ने इसका मतलब लगाया है कि यह पत्थर का बना हुआ था, तथा 'सूचिलोम' नामक यक्ष का निवास-स्थान था। इसके बाहर 'खड़' नामक यक्ष रहा करता था। यह अनार्यकाल का ही विश्वास रहा होगा। किन्तु, जब ब्राह्मणों ने गया-क्षेत्र पर अपना अधिकार कर लिया, तब इस सरोवर को ब्रह्मसर और इस पाषाण-कृति को ब्रह्मयूप नाम दे दिया। महाभारत में गया के ब्रह्मसर और उसके निकट के ब्रह्मयूप का वर्णन है। पालि-साहित्य से पता चलता है कि गया-शिरस् (ब्रह्मयोनि) पहाड़ी पर एक ऊँची और चौड़ी चट्टान थी, जिस पर एक हजार आदमी बैठ सकते थे। सूत्रनिपात-भाष्य में सूचिलोम यक्ष का वास-स्थान पाषाण-बुर्ज के निकट बताया गया है। यह एक चौड़ा चबूतरा था और इसे एक वेष्टनवेदिका से घेरा गया था। रेलिंग के मध्य में ऊँचे बुर्जवाले द्वार थे जिनके ऊपर के भाग में घंटियाँ टँगी थीं। कहना मुश्किल है कि इस प्रकार का मन्दिर कब बना। पर, ध्यान देने की बात यह है कि गया में बौद्ध-परम्परा के पहले ही यक्षों और वृक्षों की पूजा प्रचलित थी और शायद यक्षों के वास-स्थान का निर्माण हो चुका था। बुद्ध के समय गया में जटिल नामक तपस्वियों का अखाड़ा था। वे सब अग्नि-कुंड प्रज्वलित कर यज्ञ करते थे। इन अग्निकुंडों की रक्षा एक भयंकर विषधर नागराज करता था।[3] बौद्ध-दन्त-कथाओं से पता चलता है कि वृक्ष के नीचे एक ध्यानावस्थित बुद्ध को 'मुचलिन्द' नामक नागराज ने अपने फनों को फैलाकर वर्षा से बचाया था। इस कथा का चित्रण बोधगया की रेलिंग पर किया गया है। 'सूत्रनिपात' के अनुसार पत्थर का बना एक चैत्य-मन्दिर 'पाषाणक-चैत्य' गया और राजगृह के बीच में स्थित था। शायद यह चैत्य 'कौआडोल' या 'बराबर' पहाड़ पर रहा हो।[४] बौद्ध-साहित्य से ही पता चलता है कि अजातशत्रु ने नया राज-

१. वैशाली-अभिनन्दन-ग्रन्थ, पृ० १२.

२. *Watters on yuan Chwang, Vol 11, p-79*

३. *Gaya and Bodh-Gaya, Vol. 1 pp, 60—117 F.*

४. वही, पृ० १४०

गृह बसाया। इस नई राजधानी की चहारदीवारी, जो मिट्टी और पत्थरों की बनी थी, काफी ऊँची रही होगी। भरहुत और साँची में चित्रित दृश्यों से ज्ञात होता है कि साधारणतः नगर की चहारदीवारी के बाद चारों ओर गहरी खाई रहती थी। वैशाली नगर ऐसा ही बना था। पहाड़ों के बीच बसा राजगृह को शायद खाइयों की आवश्यकता नहीं थी। राजगृह की रक्षा के लिए अजातशत्रु ने जो किलाबन्दी की थी, उसके अवशेष तो आज भी हैं। अजातशत्रु ने भगवान् बुद्ध के अवशेष पर स्तूप भी बनवाया था। यह शायद मिट्टी और ईंटों का ही बना था। वैभारगिरि पर ही सप्तपर्णी गुफा थी, जिसके सामने सैकड़ों फुट लम्बा पाषाण—बरामदा बना था। इसमें हजारों बौद्ध-भिक्षु बैठ सकते थे। सम्भवतः इस बरामदे का ऊपरी भाग छत था और छत पाषाण-स्तम्भों पर ही टिकी थी। अब भी इस गुफा और चबूतरों के भग्नावशेष सुरक्षित हैं।

चैत्य और स्तूपों की पूजा भी बौद्धधर्म के उदय के पहले से ही चली आती है, यह निश्चित है। 'परिनिर्वाण-सूत्र' से ज्ञात होता है कि बुद्ध ने अपने अवशेषों पर वैसा स्तूप बनाने की अनुमति दी थी जैसा कि चक्रवर्त्ती राजा या महान् सन्तों के अवशेष बनाये जाते थे। चैत्य और स्तूपों का रेलिंग से घेरा जाना भी मौर्य-काल से पहले की परिपाटी है। कुछ आहत मुद्राओं (Punch-marked) पर रेलिंग के अन्दर वृक्ष चित्रित हैं। बहुत सम्भव है कि रेलिंग-स्तूप अथवा चैत्य-मंदिरों के निर्माण में लकड़ी का ही अधिक व्यवहार होता हो। निर्धन आदिमवासियों के धर्म के ये अंग थे, इसलिए खर्चीले साधनों का व्यवहार असंभव था। मिट्टी और लकड़ी से ही काम चलता रहा। किन्तु, लकड़ी पर काम करने की कला का उचित विकास हुआ। पश्चात् जब बौद्ध-धर्म ने इन विश्वासों को निश्चित स्थान दिया, और यह धर्म राजाओं तथा सेठों का धर्म बना, तब इन स्तूपों और रेलिंगों की स्थापत्य-कला पूर्ण पल्लवित हुई, जिसका बीज पहले बोया जा चुका था। यद्यपि पत्थर का व्यवहार अबतक साधारणतया नहीं हुआ था, तथापि मौर्य-स्थापत्य-कला के उचित मूल्यांकन के लिए उसके पूर्व की स्थापत्य-परम्परा का अनुमान करना जरूरी है। क्योंकि, मौर्यकालीन धार्मिक और राजकीय स्थापत्य-कला इसी आधार पर विकसित हुई। जब चैत्य की रेलिंग और स्तूप पत्थर के बनने लगे तब लकड़ी पर की गई कला की नकल पत्थर पर भी की जाने लगी।

पूर्व-मौर्यकाल की मूर्त्ति-कला की परम्परा का अध्ययन भी आवश्यक है। अंग, विदेह और मगध में ब्राह्मण धर्म से भिन्न धर्म और विश्वास का परिचलन भी हमें प्राप्त होता है। यक्ष—यक्षिणी, मातृदेवी, चैत्य, वृक्ष और सर्प की पूजा के वातावरण में मूर्त्तिकला का विकास सहज हो गया था। पाणिनि के सूत्रों में मूर्त्ति बनाने का उल्लेख है। पतञ्जलि ने महाभाष्य में मौर्यों के द्वारा मूर्त्ति बेचकर धन पैदा करने की बात कही है। पर महाभाष्यकार ने दूसरे प्रकार की प्रतिमाओं का भी संकेत किया है, अर्थात् ऐसी मूर्त्तियाँ, जिनकी पूजा होती हो, बेची न जाती हों। बक्सर से प्राप्त स्त्री की एक मूर्त्ति से हम उस समय की वेशभूषा का अनुमान कर सकते हैं—विशेषकर केश-विन्यास का।[1]

१. चित्र-संख्या—१५

इस प्रकार मौर्य-काल की अत्यन्त उन्नत कला की पृष्ठभूमि वस्तुतः पहले से तैयार थी। फिर भी, मूर्त्ति-कला का उचित विकास इसलिए न हो सका; चूँकि मूर्त्तिपूजा वस्तुतः पिछड़ी जातियों में प्रचलित थी।[१] समृद्ध और सभ्य वर्ग के लोग इन अन्धविश्वासों में आस्था नहीं रखते थे। वस्तुतः मिट्टी और लकड़ी की मूर्त्तियों की परम्परा में ही शिल्पकला का विकास संम्भव था।

१. *Mediaeval Sculptures in Eastern India, R. P. chaada J. L. D. III, pp. 235.*

तृतीय अध्याय

मौर्यकालीन कला

(३२३-१८७ ई० पू०)

मौर्य-युग बिहार के लिए ही नहीं, वरन् भारतवर्ष के लिए स्वर्णयुग है। अशोक के समय में प्रायः समूचा देश (सुदूर दक्षिण-प्रदेश को छोड़) एक राजनीतिक सूत्र में बँधा था, और पाटलिपुत्र से ही इस विशाल देश का शासन होता था। धर्म, राजनीतिशास्त्र, शासन-प्रबन्ध, आर्थिक विकास और अन्तरराष्ट्रीय नीति के क्षेत्र में इस युग ने अप्रत्याशित योगदान दिया। पर, मौर्य-सम्राटों के निजी संरक्षण में विकसित भारतीय स्थापत्य और मूर्त्तिकला इतनी उच्च कोटि की है कि आलोचक दंग रह जाते हैं। मौर्यकालीन समृद्धि, आत्मविश्वास और प्रभावशाली राजसत्ता की प्रतिच्छाया मौर्य-कला में मुखरित हो उठी है। मौर्यकला की विशेषताओं की ओर नीचे ध्यान दिया जायगा, पर इस काल के स्मारकों में एक गुण स्मरणीय है और वह है मौर्यकालीन पाषाण-स्मारकों पर की गई आईना-सी साफ पालिश। इसी चमकीली पालिश के आधार पर हम मौर्यकालीन कृतियों को अन्य युग की कृतियों से अलग कर सकते हैं। मौर्य-काल की सभी कृतियों में चाहे स्तम्भ हों, या मूर्त्ति, अथवा पहाड़ में खुदी गुफाओं की दीवाल—यह चमकीली पालिश बरकरार है और आज २२०० वर्ष बाद भी वर्त्तमान है। इस प्रकार की चमक हम अन्य युगों की कला-कृतियों में नहीं पाते हैं। मौर्य-काल में स्थापत्य और शिल्पकला की इतनी जबरदस्त तरक्की का कारण क्या हो सकता है, इसपर पीछे विचार किया जायगा, पर अभी इन स्मारकों से परिचय करना आवश्यक है।

स्थापत्य—

यूनानी दूत मेगास्थनीज ने चन्द्रगुप्त मौर्य की राजधानी पाटलिपुत्र (Palimbothra) का वर्णन अपनी पुस्तक 'इण्डिका' में किया है। यद्यपि उसकी पुस्तक अप्राप्य है; पर उस पुस्तक के कुछ उद्धरण यूनानी विद्वानों ने अपनी पुस्तकों और लेखों में दिया है। मिस्टर एल० ए० वैडेल साहब ने अत्यन्त प्रामाणिक आधारों पर यह सिद्ध कर दिया है कि पटना ही प्राचीन पाटलिपुत्र है। पाटलिपुत्र नगर का वर्णन मेगास्थनीज ने इस प्रकार किया है—"पाटलिपुत्र (Palimbothra) भारत का सबसे बड़ा नगर है। यह गंगा और एक अन्य नदी के संगम पर बसा है। यह ८० स्टाडिआ (करीब नौ मील) लम्बा और १५ स्टाडिया करीब डेढ़ मील चौड़ा है। इसका आकार समानान्तर चतुर्भुज का है और यह

लकड़ी की दीवारों से चारों ओर घिरा है। दीवारों में जहाँ-तहाँ छेद हैं, जिनमें से तीर छोड़े जाते थे। चहारदीवारी के चारों ओर एक गहरी खाई है, जो रक्षा के काम में आती थी और जिससे शहर की गन्दगी भी बह जाती थी।"[१]

मेगास्थनीज की गवाही देते हुए एरियन (Arrian) लिखता है कि यह खाई ६०० फीट चौड़ी और ४५ फीट गहरी थी। इन्हीं से यह भी मालूम होता है कि गंगा के अलावा दूसरी नदी, जिसके संगम पर पाटलिपुत्र बसा था, का नाम हिरण्यबाहु या सोनभद्र था।[२] शहर की चहारदीवारी में ६४ द्वार थे और ५७० बुर्ज।[३] नगर के बीच में राजभवन स्थित था। राजभवन में अनेक विशाल सभा-भवन थे, जिनके स्तम्भ लकड़ी के थे और उन पर चाँदी और सोने की बनी चिड़ियाँ, फूलों के गुच्छे और अंगूर की लताएँ मण्डित थीं। सूसा और एकबताना के आलीशान और सुन्दर महलों से चन्द्रगुप्त का राजभवन अधिक समृद्ध और अलंकृत था।[४] चीनी यात्री फाहियान करीब साढ़े छह सौ वर्ष बाद चतुर्थ शताब्दी में आया था और पाटलिपुत्र में अशोक के बनाये महलों को देखकर चकित हो गया था। नगर की चहारदीवारी के भीतर अशोक का राजमहल पत्थर का बना था। वह इतना सुन्दर था कि लोग उसे अमानवीय शिल्पियों का बनाया समझते थे। राजभवन सुन्दर पाषाण-मूर्त्तियों से सुशोभित था।[५] मौर्य-स्थापत्य-कला की इतनी बड़ी प्रशंसा ही उसकी श्रेष्ठता का पूर्ण प्रमाण है।

नगर सुव्यवस्थित ढंग से बसाया गया था। कौटिल्य-अर्थशास्त्र—जो मौर्यकालीन ग्रन्थ माना जाता है—के द्वारा नगर-योजना पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। प्रत्येक वर्ग के लिए नगर के विभिन्न भाग निश्चित किये गये थे। राजभवन के उत्तर में राजगुरु, पुरोहित, यज्ञवेदी और मन्त्रियों के रहने का प्रबन्ध था। राजा का रसोईघर, हाथीखाना और भांडार-घर दक्षिण में था। व्यापारी और क्षत्रिय पूर्व में बसे हुए थे। कोषागार और आय-व्यय-निरीक्षक दक्षिण-पूर्व में स्थित थे। इसी प्रकार चारों दिशाओं और आठों कोणों में प्रत्येक वर्ग और शासन-विभाग के लिए स्थान निश्चित थे।[६] कुछ सड़कें चौड़ी थीं और उनके कई प्रकार थे।[७] कोषगृह (खजाना) के बनाने में अत्यन्त सावधानी और कुशलता से काम लिया जाता था। कोषागार के लिए कौटिल्य के अनुसार एक वर्गाकार कुआँ खोदना चाहिए और उसकी सतह और दीवार पत्थर की पट्टियों से पाटी जानी चाहिए। उस कुएँ में मजबूत लकड़ी का एक पिंजड़ानुमा तीनमहला कमरा बने, जिसकी सबसे ऊँची छत जमीन की सतह से मिल जाय। जमीन के अन्दर बने इन कमरों में पत्थर की गच की जानी चाहिए। इसमें सिर्फ एक ही द्वार हों और एक स्थान पर सीढ़ी

---

१. *Macrindle ; Ancient India ; p. 65*

२. *Asiatic Researches IV. p. 10.*

३. *Macrindle—Ancient India, p. 67*

४. *Percy Brown, Hindu and Buddhist Architecture,—p. 6*

५. *The Pilgrimage of Fahien (Trans) p. 253.*

६. कौटिल्य अर्थशास्त्र, द्वितीय अधिकरण, चतुर्थ अध्याय।

७. वही।

बनी रहे, जिससे नीचे के कमरों में जाया जा सके।[1] निश्चित है कि चन्द्रगुप्त के कोषागार के अनुसार ही कौटिल्य ने इसका विधान बनाया है। इसी प्रकार राजा का निजी महल भी रक्षात्मक दृष्टि से बनाया जाता था। राजा का अन्तर्महल कई भवनों का सम्मिलित विशाल महल था जिसके चारों ओर खाई थी और मजबूत चहारदीवारी से वह सुरक्षित था। राजा का शयनागार 'मोहनगृह' के मध्य में स्थित था। इसे इस तरह बनाया गया था कि अग्निकांड का भय न रहे और न विषधर सर्प ही इसमें प्रवेश पा सके। दीवारों में अनेक गुप्तद्वार थे और जमीन के अन्दर भी महल थे, जिनमें अन्दर-अन्दर ही आने-जाने की सुरंग थी। देवी-देवताओं की मूर्त्तियाँ और चैत्यों के नक्शे लकड़ी के बने किवाड़ों पर बनाये जाते थे। सारा महल इस तरह बनाया जाता था कि यन्त्रों के द्वारा पूरे महल को, आवश्यकतानुसार, गिरा देना सम्भव हो।[2] यदि कौटिल्य के विचार, अंशतः ही सही, उसके शिष्य चन्द्रगुप्त के द्वारा कार्य-रूप में परिणत किये गये थे, तो मौर्य-काल की स्थापत्य-कला का अत्यन्त विकसित और पेचीला रूप स्वयंसिद्ध है। कौटिल्य-अर्थशास्त्र के अनुसार राजमहल और नगर के निर्माण में पत्थरों का साधारणतया व्यवहार हुआ था। मिट्टी, ईंट और लकड़ी का प्रयोग तो आवश्यकतानुसार होता ही था।

नगर की किलेबन्दी के विषय में भी कौटिल्य के विचार उल्लेखनीय हैं। किले के चारों ओर छह फीट के अन्तर में तीन खाइयाँ नहर के पानी से भरी हों। ये खाइयाँ कम-से-कम छह फीट और अधिक-से-अधिक ८४ फीट चौड़ी और काफी गहरी हों। खाई का किनारा पत्थर या ईंटों से पक्का बनाया जाय। दुर्ग की निकटतम खाई (परिखा) की चौबीस फीट की दूरी पर ३६ फीट ऊँचा और ७२ फीट चौड़ा विष्कम्भ (Rampart) का घेरा हो और इसपर अनेक समानान्तर प्राकार, एक-दूसरे से १२ से २४ हाथ की दूरी पर, होने चाहिए। ये प्राकार ईंटों के बने हों और चौड़ाई से दुगुनी ऊँचाई हो। इनपर रथों के चलने लायक चौड़ी सड़कें बनाई जायँ। सड़क पत्थर की पट्टियों की बनी हो या ताल-वृक्ष के धड़ों की। इन्हीं प्राकारों पर मीनारें बनाई जायँ, और जहाँ-तहाँ इन्द्रकोष बनाया जाय। इन्द्रकोष लकड़ी के तख्तों का बना हो, जिस पर तीन धनुर्धारी सैनिकों के बैठने की जगह हो। नगर की रक्षा के निमित्त विष्कम्भ के बाहर-भीतर आने के रास्ते में कई तरह की अड़चनों का प्रबन्ध होना चाहिए। जैसे—मिट्टी का टीला, गड्ढा, काँटों के ढेर और जहाँ-तहाँ पानी से भरे गड्ढे आदि।[3] इस प्रकार नगर को दुश्मनों के आक्रमण से सुरक्षित बनाने में पूर्ण सतर्कता दिखाई गई थी। मेगास्थनीज के वर्णन और कौटिल्य के निर्देशों में साधारण समानता है। खाई, प्राकार, मीनार या गुम्बज, धनुर्धारियों के लिए आक्रमणकारियों पर आक्रमण करने की सुविधा आदि मेगास्थनीज और कौटिल्य दोनों बताते हैं। किन्तु, मेगास्थनीज एक खाई का उल्लेख करता है और कौटिल्य तीन खाइयों का। सबसे बड़ा अन्तर तो यह है

---

१. पंचम, अध्याय

२. वही, अधिकरण १, अध्याय २०

३. वही, द्वितीय अधिकरण; तृतीय अध्याय

कि कौटिल्य दुर्ग-निर्माण में अधिकतर ईंटों और पत्थरों के व्यवहार का आदेश देते हैं और मेगास्थनीज पाटलिपुत्र की किलाबन्दी मजबूत लकड़ी की बताता है। पर, हम जानते हैं कि अशोक के समय में पत्थरों का व्यवहार बड़े पैमाने पर हुआ था। फाहियान ने भी अशोक के राजमहल को पत्थरों का बना देखा था। बौद्ध-साहित्य के अनुसार अशोक ने अपने बौद्धभिक्षु पुत्र महेन्द्र के लिए पाटलिपुत्र में ही पत्थर की चिकनी शिलाओं का नकली पहाड़ बनवाया था, और इसके नीचे स्तम्भों पर खड़ा एक विशाल कमरा भी बना था। फाहियान ने नगर के दक्षिण में अशोक का बनाया एक विशाल स्तूप देखा था। उसके समीप ही भगवान् बुद्ध के पद-चिह्न-युक्त शिला पर मन्दिर भी बनाया गया था।[१] ह्वेनसांग के समय में यह स्तूप नष्टप्राय था; पर इस यात्री ने स्तूप के ऊपर का मुकुटमणि देखा था। यह पत्थर का बना था, जिस पर नक्काशी की गई थी। चारों ओर कठघरे से यह स्तूप घिरा था।[२] फाहियान ने कई विहारों और अन्य स्तूपों को, जिनमें पंच-स्तूप उल्लेखनीय हैं, देखा था। पर, आज इनके अवशेष निर्मूल हो गये हैं। वैड्डेल साहब ने इन प्राचीन स्थानों की स्थिति निश्चित करने की कोशिश की है। उनके विचार में, बाँकीपुर में स्थित भिखनापहाड़ी, अगमकुँआ से दक्षिण छोटी पहाड़ी और उससे भी दक्षिण पंच-पहाड़ी, क्रमशः महेन्द्र का शिला-विहार, अशोक का सबसे विशाल स्तूप, और पंचस्तूप प्राचीन स्थल हैं।

पाटलिपुत्र की खुदाई से नगर की प्राचीन किलेबन्दी के अवशेष मिले हैं, जिनसे मेगास्थनीज के वर्णन की प्रधानतया पुष्टि होती है। शाल लकड़ी के बड़े-बड़े खम्भों और चौड़े तख्तों की बनी पुष्ट चहारदीवारी का प्रमाण हमें कुम्हरार के समीप बुलन्दीबाग की खुदाई से प्राप्त होता है। यहाँ शाल लकड़ी के मजबूत खम्भे की दो कतारें खड़ी मिलीं। ये खम्भे १८ फीट लम्बे और एक फीट मोटे हैं।[३] 'स्पूनर' साहब ने ४५० फुट लम्बी मौर्य-कालीन किलेबन्दी के अवशेष का पता लगाया था। ये खम्भे मजबूत शाल लकड़ी के ही तख्तों पर आमने-सामने समानान्तर पंक्तियों में खड़े हैं। इनके बीच की दूरी साढ़े चौदह फुट है। तख्तों की अनेक तहें थीं। तख्ते स्वयं ही पिटी हुई मिट्टी की नींव पर बिछाये गये थे। स्तम्भ सतह से पाँच फीट नीचे तक घुसा था। चौड़े तख्तों से बने सूराखों में घुसाकर उसे स्थिर किया गया था। दोनों ओर खड़े स्तम्भों की दूरी को मजबूत और मोटे तख्तों से पाट दिया गया था। समानान्तर पंक्तियों में ये तख्ते १२-१३ फीट लम्बे थे। कुछ ऊँचाई तक लकड़ी की यह दीवार मिट्टी से भर दी गई थी।[४] बाकी खोखली जमीन शायद आने-जाने के लिए सुरंग का काम करती हो।[५] वैड्डेल साहब ने इस लकड़ी की किलेबन्दी के अन्य अवशेष भी पाये थे। पटना सिटी में मैंगल्स-तालाब

---

१. *Pilgrimage of Fahien; p. 255*

२. *L. A. Waddel*—Report on the Excavation at *Pataliputra; p. 47*

३. चित्र-संख्या—१४

४. *Archaeological Survey of India; Annual Reports,*

५. वही, १९२६–२७, पृ० १३७

(गांधी-सरोवर) की खुदाई में भी खम्भों की पंक्ति मिली, जो एक तरफ ढालुआ थी। महाराजखंदा में भी ऐसे खम्भों के अवशेष मिले थे। यह अगमकुँआ से २०० गज उत्तर की ओर है। यहाँ तुलसी-मंडी ग्राम की पश्चिमी सीमा पर करीब ३० से अधिक शहतीरें मिली थीं। कुम्हरार के उत्तर-पश्चिम और छोटी पहाड़ी से ३/४ मील पूर्व भी ऐसे ही मजबूत और लकड़ी के मोटे कुन्दे मिले थे। अतः यह स्पष्ट है कि पाटलिपुत्र नगर की किलेबन्दी के अवशेष हमें जहाँ-तहाँ मिले हैं।[1] लकड़ी के खम्भों की बनी यह रक्षा-पंक्ति शायद सोन नदी के तीर पर या मेगास्थनीज के द्वारा उल्लिखित खाई के किनारे बनी थी। बुलन्दीबाग में ही अन्दर बहते हुए एक नाले का भी पता चला है, जो रक्षा-पंक्ति की खाई के अन्दर नहर में गिरता था।[2] लकड़ी के खम्भों की इस दृढ़ किलेबन्दी से यह प्रमाणित हो जाता है कि लकड़ी पर आधारित वास्तुकला में मौर्य-काल में श्लाघनीय उन्नति हुई थी।

मौर्यकाल के स्थापत्य के नमूनों में कुम्हरार में प्राप्त मौर्य-सभा-भवन के अवशेष मुख्य हैं। 'स्पूनर' साहब ने कुम्हरार की खुदाई में पाषाण-स्तम्भों के बने हुए एक विशाल हॉल का पता लगाया। पन्द्रह फीट की दूरी पर एक-एक स्तम्भ खड़ा था, जिसके अवशेष मिले हैं। ऐसे स्तम्भों की आठ पंक्तियाँ थीं, और प्रत्येक पंक्ति में दस स्तम्भ थे। इन स्तम्भों में एक स्तम्भ पूरा-का-पूरा मिला है।[3] एक ही पत्थर के बने इस स्तम्भ पर ऊपर से नीचे तक वही दीप्तिमान् चमक है, जो हम मौर्यकाल के सभी स्मारकों पर पाते हैं, कुम्हरार की खुदाई से यह पता चलता है कि मौर्यकालीन हॉल के स्तम्भ मजबूत और स्थायी आधार पर टिके थे। छह फुट गहरी नींव खोदी गई थी। यह गड्ढा छह फुट लम्बा और छह फुट चौड़ा था। इसमें छह इंच मोटी नीली मिट्टी दी गई थी, जो वस्तुतः आजकल की सीरमिट का काम करती थी। इसपर शाल लकड़ी के कुन्दों का चौसल्ला बनाया गया था, जिस पर विशाल स्तम्भ खड़ा किया गया था। यह अत्यन्त ही स्थायी और दृढ़ आधार सिद्ध हुआ। अब भी इन स्तम्भों की जो नींव मिली है, वह भारी बसाल्ट पत्थर के एक स्तम्भ का भार सह सकती है। नीली मिट्टी का गुण था कि वह बड़ी मजबूती के साथ जमीन से चिपक जाती थी। इसलिए, भारी-से-भारी स्तम्भ उसके अन्दर धँस नहीं सकते थे। फिर शाल के मजबूत कुन्दों से भी स्तम्भों को कस दिया गया था। समझ में नहीं आता कि किस तरह ये स्तम्भ धरती में सैकड़ों फुट अन्दर धँस गये हैं। सम्भवतः यह विशाल सभा-भवन दूसरी सदी ईसा से पूर्व ही बरबाद कर दिया गया था। आग से लकड़ी की छत झुलस गई होगी और स्तम्भ आग और जल-वायु के लगातार प्रहार से टूट गये होंगे। इन स्तम्भों के टुकड़े शुंगकालीन गड्ढों (Trenches) में (कुम्हरार की खुदाई में प्राप्त) मिले हैं। ये स्तंभ ३१ फीट ऊँचे हैं। पर, आश्चर्य है कि सम्पूर्ण स्तंभ पर, ऊपर से नीचे तक पालिश की गई है। स्तम्भ जब

१. *Report on the Excavation at Pataliputra, p. 1903*

२. *Archaeological Survey of India; Annual Reports—1926-27; p. 138*

३. *Journal of Royal Asiatic Society,—1920 ; p. 63*

१० फीट सतह से नीचे गाड़ा हुआ था, तब फिर उस भाग पर पालिश की क्या आवश्यकता थी ? ज्ञात होता है, अभियन्ताओं के सामने पाषाण-स्तम्भ पर टिके विशाल हॉल का अनुभव अलग था। वे निश्चय नहीं कर सके, कि स्तम्भ का कितना हिस्सा सतह से नीचे रक्खा जायगा। ऐसी अवस्था में कलाकारों ने समूचे स्तम्भ पर पालिश की होगी। यह भी सम्भव है कि यह एक नगर-हॉल (Town-Hall) रहा हो। इसकी खुदाई से पता चलता है कि इस सभा-भवन के दक्षिण में सटे हुए ही एक नहर बहती थी, जो सम्भवतः सोन नदी से निकाली गई थी। इसी के द्वारा ये स्तम्भ चुनार से गंगा नदी होकर सोन में लाये गये हों और वहाँ से इस नहर के जरिये यहाँ उतारे गये हों। दक्षिण में ही इस सभा-भवन का प्रवेश-द्वार था, इससे भी कुछ संकेत मिले हैं। ऊपर की छत सम्भवतः लकड़ी की होगी। इसी स्थान पर, स्तम्भों की पंक्ति के अन्त में, दक्षिण-पूर्व दिशा में शाल के पटरों के मंच का एक हिस्सा भी पाया गया है। शायद यह हॉल में पहुँचने के लिए पोर्टिको की जमीन (Floor) हो। इस मंच का स्तर स्तम्भों के अवशेषों की सतह से नीचा है; इसलिए इसका अभिप्राय मालूम नहीं पड़ता। इस हॉल को चन्द्रगुप्त मौर्य्य का राज-सभा-भवन माना गया है। पर सन् १९५२–५४ ई० की खुदाई से पता चला कि यह हॉल पूर्व, पश्चिम और दक्षिण की ओर विस्तृत नहीं था और न मौर्यकालीन सभा-भवन के समीप रहनेवाले अन्य राजकीय भवनों के अवशेष ही मिले हैं, 'स्पूनर' साहब ने इसपर काफी जोर दिया था कि यह हॉल चन्द्रगुप्त मौर्य के समय का ही है, अशोक के समय का नहीं। पर, मेगास्थनीज ने स्पष्ट लिखा है कि चन्द्रगुप्त के राज-भवन के स्तम्भ लकड़ी के थे। ऐसा भी हो सकता है कि अशोक ने चन्द्रगुप्त के बनाये राज-भवन में कुछ परिवर्त्तन किया हो, और लकड़ी के स्तम्भों की जगह पाषाण-स्तम्भ खड़े कराये हों। फिर भी इस प्रश्न का उचित उत्तर नहीं मिलता है कि राज-सभा के आस-पास राजभवन के अन्य भवनों के अवशेष क्यों नहीं मिलते ? संभव है कि अशोक ने नया राज-भवन बनाया हो और चन्द्रगुप्त के बनाये राजभवन का दूसरे कामों में व्यवहार किया हो। भारतीय इतिहास में अनेक उदाहरण हैं कि प्रतापी सम्राटों ने अपने लिए अलग राज-भवन बनवाये हैं। दिल्ली में ही तुगलकाबाद और शाहजहाँबाद उल्लेखनीय हैं। सन् १९५३ ई० की खुदाई में कुम्हरार में ही इस मौर्यकालीन हॉल के दक्षिण गुप्तकालीन आरोग्य-विहार का पता चला है। इस मौर्य-सभा-भवन के सटे हुए टीले पर एक जीर्ण मस्जिद खड़ी है। ऐसी परम्परा रही है कि धर्म-स्थान बराबर से धर्म-स्थान रहा है। इन सभी चीजों पर ध्यान देते हुए मेरा निजी विचार है कि कुम्हरार में स्थित यह पाषाण-स्तभोंवाला सभा-भवन अशोक के समय में बौद्ध-सभा-मडंप रहा हो। अशोक के राजमहल के अवशेष शायद और पूरब में मिलें। हाल ही में पटना-सिटी स्थित सदर गली की खुदाई से अशोक के समय के अवशेष मिले हैं जिनमें पाषाण-सतम्भ साँड़-शिरा के भग्नावशेष उल्लेखनीय हैं।

भारतीय स्थापत्य के इतिहास में कुम्हरार का यह मौर्य-सभा-भवन अभूतपूर्व है। मोहेनजोदड़ो में स्तम्भों पर आधारित एक बड़े हॉल के अवशेष मिले हैं। पर, ये स्तम्भ ईंट के ही बने थे। यह कहा जा चुका है कि वैदिक और जातक-साहित्यों में स्तम्भों

से सुशोभित भवनों का उल्लेख है। पर ये उल्लिखित स्तम्भ साधारणतः लकड़ी के थे। इसलिए पाषाण-स्तम्भों से सुशोभित यह मौर्य-सभाभवन, भारतीय पुरातत्त्व की दृष्टि से, सबसे प्राचीन है। इसके स्तम्भ अत्यन्त सुन्दर, सुडौल, सुस्निग्ध और गोलाकार हैं। भारतीय स्थापत्य-कला मौर्य-काल में ही कितनी ऊँची थी, इस सभा-भवन के अवशेषों से इसका अनुमान किया जा सकता है।

मौर्य-काल के पहले लकड़ी का व्यवहार व्यापक पैमाने पर होता था; पर, मौर्य-काल में—विशेषकर अशोक के समय में—पाषाणों का व्यवहार होने लगा। इस पाषाण-स्थापत्य और शिल्प-कला की उन्नत दशा देखकर दाँतों-तले उँगली दबानी पड़ती है। पर, यह ध्यान रखना चाहिए कि मौर्य-काल के पहले और मौर्य-काल के प्रथम प्रहर में भी स्थापत्य-कला अत्यन्त विकसित कला थी। इस काल के अवशेषों की अनुपस्थिति में यह अनुमान गलत होगा कि मौर्य-काल के पूर्व की कला आरम्भिक स्थिति में थी। मध्ययुग के यूरोप में जब पत्थर का भवनों के निर्माण में व्यवहार होने लगा, तब स्थापत्य-कला की उन्नति नहीं, अवनति के चिह्न दृष्टिगोचर हुए। मगध में मौर्य अशोक के समय के पहले साधारणतया लकड़ी का ही व्यवहार हुआ; क्योंकि इस प्रदेश में लकड़ी आसानी से मिलती थी और पत्थर मुश्किल से। जब सभ्यता की प्रगति के साथ जंगल तीव्रगति से कटने लगे, तब पत्थर का व्यवहार भी साधारणतया होने लगा। ऐसे तो पहले भी पत्थर का व्यवहार ज्ञात था, यद्यपि बहुत कम पैमाने पर इसका व्यवहार होता था।

इसी युग में वास्तुकला ने दूसरी दिशा में भी मार्ग-प्रदर्शन किया। गया जिले में स्थित नागार्जुनी और 'बराबर' पहाड़ पर पत्थरों को काटकर सुन्दर गुफाएँ बनाई गईं। कुछ गुफाओं में सम्राट् अशोक और उसके पौत्र दशरथ के अभिलेख भी मिले हैं। कमरों की भीतरी दीवारों पर मौर्यकाल की कान्तिपूर्ण चमक वर्त्तमान है, जिससे सिद्ध होता है कि ये सभी स्मारक मौर्यकाल के हैं। तीन नागार्जुनी गुफाएँ और चार अन्य गुफाएँ बराबर पहाड़ (गया) पर हैं। जीवित चट्टानों को काटकर गुफा बनाने का यह प्रथम उदाहरण है। इनकी रचना में लकड़ी के काम की नकल स्पष्ट है। गुफाओं के द्वारों, कमरों और हॉलों की छतें इस प्रकार की हैं कि वे फूस की झोपड़ीवाले और लकड़ी के शहतीरों पर टिके छप्परों की याद दिलाती हैं। गुफाओं के द्वार भी लकड़ी के बने द्वारों-से लगते हैं। इन गुफाओं में सबसे प्राचीन सुदामा-गुफा है, जिसमें अशोक का अभिलेख है। इससे पता चलता है कि अपने राज्याभिषेक के बारहवें वर्ष में सम्राट् अशोक ने आजीविक भिक्षुओं को यह गुफा समर्पित की थी। बौद्ध सम्राट् अशोक की धार्मिक सहनशीलता और निरपेक्षता का यह व्यावहारिक प्रमाण बिहार-राज्य में ही स्थित है। सुदामा-गुफा दो कमरों की है। एक बड़ा चतुर्भुजाकार कमरा है जिसकी छत बेलन (Barrel) के आकार की है। बाहर के कमरे के एक द्वार से अन्दर के वृत्ताकार कमरे में जाया जा सकता है। बाहर से इस गोलाकार कमरे की छत उसी प्रकार दिखाई पड़ती है, जिस प्रकार फूस की झोपड़ी का छप्पर। इस गुफा का मुख्य द्वार, लकड़ी के बने द्वार की तरह, दो ढालुए स्तम्भों पर टिका लगता है। यही विशेषता लोमश

ऋषि-गुफा के मुख्य द्वार में और भी स्पष्टतया देखी जाती है। यह गुफा सबसे अच्छी है। यद्यपि इसमें कोई अभिलेख नहीं है, तथापि भीतरी दीवारों की दर्पण-सी चमक मौर्यकालीन ही है। मुख्यतः यह गुफा भी सुदामा-गुफा की तरह ही है; पर अन्दर की कोठरी गोलाकार न होकर अंडाकार बनी है। यहाँ लोमश ऋषि-गुफा की सबसे मुख्य विशेषता यह है कि इसका प्रवेश-द्वार एक लकड़ी के बने प्रवेश-द्वार की हू-ब-हू नकल है।[1] अन्दर की ओर कुछ झुके-से लगनेवाले स्तम्भ और नुकीले मेहराब इसके उदाहरण हैं। इस प्रवेश-द्वार पर हाथियों के द्वारा स्तूप की पूजा का जो दृश्य उत्कीर्ण है, वह प्रशंसनीय है। हाथी सजीव और भक्ति-भावपूर्ण दिखाये गये हैं। इस शिल्प-कला में आत्मिक वास्तविकता का पूर्ण पुट है, जो सिन्धु-घाटी में प्राप्त मुहरों पर अंकित हाथी के चित्र की याद दिलाती है। मेहराब में जालीदार नक्काशी भी है। लकड़ी पर काम करनेवाले अभ्यस्त और निपुण कलाकारों ने अपनी कला को पत्थर पर उतारकर भारतीय शिल्पकला के गौरव में चार चाँद लगा दिये हैं। पश्चिम और पूर्व भारत में पश्चात् जो बौद्ध चैत्य और विहार विभिन्न पहाड़ों में बनाये गये, उनपर मौर्यकालीन गुफाओं की वास्तुकला का प्रभाव सर्वमान्य है। यदि लोमश ऋषि और सुदामा-गुफा के दो कमरों को मिला दिया जाय तथा बीच की दीवार और द्वार हटा दिये जायँ तो पश्चिम भारत के अर्द्धवृत्ताकार (Apsidal) चैत्य का रूप स्पष्ट हो जाता है। पश्चिम भारत के गुफा-चैत्य के प्रवेश-द्वार की बनावट में लकड़ी के काम की छाप प्रत्यक्ष है।

मौर्यकालीन स्थापत्य का अध्ययन अशोक के बनाये हुए बोधगया के प्रथम मंदिर के उल्लेख के विना अधूरा रहेगा। दन्तकथाओं के अनुसार अशोक ने ८४००० स्तूप और बौद्ध-मंदिर बनवाये थे। उनमें अधिकांश का पता नहीं है। इतनी बड़ी संख्या तो अवश्य ही बहुत बढ़ा-चढ़ाकर बताई गई है। पर, अशोक के बनवाये कुछ विहारों और स्तूपों को चीनी यात्रियों ने भी देखा था। साँची-स्तूप पहले अशोक के समय में बना था। अशोक के शिला-स्तम्भ भी वहाँ मिले हैं। बाद में अशोक के अपने धर्म-लेखों में भी बौद्ध-तीर्थ-स्थानों के भ्रमण का उल्लेख आया है। इनमें सम्बोधि, अर्थात् बोधगया का स्थान सर्वोपरि है। नेपाल की तराई में जिस अशोक ने गौतम बुद्ध के पूर्व के बुद्ध कोनागमान का स्तूप बड़ा किया, वह बोधगया को कैसे भूल सकता था? भगवान् बुद्ध ने भी अपने शिष्यों को चार स्थानों की तीर्थ-यात्रा करने का आदेश दिया था, जिनमें बोधगया का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था।[2] कलिंग-बोधि जातक से पता चलता है कि आनन्द ने जब बुद्ध से पूजा के लिए किसी प्रत्यक्ष साधन के विषय में पूछा, तब भगवान् ने मूर्त्ति-पूजा को उत्साहित न कर बोधि-वृक्ष की ओर ध्यान आकर्षित किया। उन्होंने बताया कि मैं इस वृक्ष में निरन्तर उपस्थित रहूँगा। अपनी मृत्यु-शय्या पर भी उन्होंने बोधिवृक्ष का स्मरण किया था। इसी पवित्र वृक्ष का बीज जेतवन-विहार में, उनके जीवन-काल में ही, लाया गया था।[3] अशोक ने बोधगया की तीर्थयात्रा की, पर

१. चित्र-संख्या—१६

२. *Beginning of Buddhist Art—Foucher, pp. 11-12.*

३. *Gaya and Buddha-Gaya ; pp. 166—170*

अपने शिलालेख में उसने यहाँ स्तम्भ खड़ा करने अथवा चैत्य बनाने का उल्लेख नहीं किया है। पीछे जब वह बुद्ध की जन्मभूमि 'लुम्बिनी' गया, तब वहाँ उसने शिलास्तम्भ खड़ा किया। इस आधार पर बरुआ साहब का विचार है कि अशोक ने बोधगया में कोई चैत्य या वेष्टन-वेदिका (घेरा) नहीं बनवाया था।[1] पर यह बात समझ में नहीं आती कि जब अशोक ने अन्य तीर्थस्थानों में स्मारक बनवाये, तब बोधगया को क्यों भूल गया! ऐसा कुछ अनुमान होता है कि अपने पहले तीर्थाटन में वह बोधगया आया था और उसने यहाँ के लिए कोई योजना बनाई थी, जिसको पीछे कार्यान्वित किया गया। वह फिर कभी बोधगया नहीं आया, इसलिए इसका उल्लेख किसी स्तम्भ पर नहीं मिलता। 'दिव्यावदान' में तो स्पष्ट लिखा है कि अशोक के तीर्थाटन में लुम्बिनी, बोधगया, सारनाथ और कुशीनगर सम्मिलित थे। उपर्युक्त सभी स्थानों में अशोक ने स्मारक-मंदिर बनवाये। चीनी यात्री ह्वेनसांग के अनुसार अशोक ने बोधि-वृक्ष के चारों ओर दस फुट पत्थर का घेरा बनवाया था, जिसे चीनी यात्री ने देखा था।[2] 'ललित विस्तर' में कहा गया है कि बोधगया के मंदिर की पवित्र भूमि की पवित्रता उपगुप्त ने अशोक को बताई थी, और अशोक ने एक लक्ष मुद्राएँ इस स्थान पर स्मारक बनाने के लिए दी थीं।[3] प्राचीन बर्मी अभिलेख भी अशोक के बनवाये प्रथम मंदिर का उल्लेख करते हैं।[4]

उक्त आधारों पर यह कहा जा सकता है कि अशोक ने ही बोधगया का प्रथम मन्दिर बनवाया था। भरहुत की रेलिंग पर खुदे दो दृश्यों से इस धारणा को और भी बल मिलता है। यह तो सब मानते हैं कि भरहुत-स्तूप द्वितीय सदी ई०-पू० का है। इसलिए, बोधिवृक्ष के मन्दिर का दृश्य अशोक के बनवाये मन्दिर का सच्चा चित्र हो सकता है। भरहुत-स्तूप की रेलिंग पर दो चित्र अंकित हैं। एक वज्रासन मंदिर का और दूसरा चंक्रमक (Jewel walk) मंदिर का। बौद्ध-साहित्य से पता चलता है कि भगवान् बुद्ध ज्ञान प्राप्त करने के बाद कुछ दूर तक टहलते रहे। इस परिचलन पर ही स्मारक-मंदिर बना, जिसमें भगवान् बुद्ध के चरणों को कमल के रूप में चित्रित कर पूजा होती थी। वज्रासन पर बैठकर बोधिवृक्ष के नीचे भगवान् बुद्ध को ज्ञान की प्राप्ति हुई थी। भरहुत-रेलिंग पर वज्रासन-मंदिर का जो चित्र अंकित है, उसमें अशोक-द्वारा निर्मित हस्ति-शिर-युक्त उलटे कमल के आकारवाली शिरा से सुशोभित, गोलाकार स्तम्भ भी है। वज्रासन-मंदिर चार स्तम्भों पर टिका है। उसके ऊपर बोधिवृक्ष छाया कर रहा है। नुकीले मेहराब पर आधारित छत को छेदकर वृक्ष का ऊपरी भाग ऊपर निकल आया है। कोठे की बालकोनी भी साफ दिखाई देती है।[5] वज्रासन-मंदिर घेरे से आवृत्त है जिसका रूप सामान्य घेरों से भिन्न नहीं है। ऊँचे खड़े स्तम्भों में समानान्तर पट्टियाँ घुसी हुई हैं। कनिंघम ने बोधगया के मंदिर की खुदाई में बलुआ पत्थर का बना एक अत्यन्त ही

१. वही।

२. *In Yuang Chuang, Vol. II, pp. 113—115.*

३. *Cunningham—Mahabodhi—p. 16*

४. वही।

५. चित्र-संख्या—१७

कान्तिमय आसन पाया था, जिसे अशोक का बनवाया वज्रासन माना है।[१] इसके सामने चार छोटे चमकीले स्तम्भ भी मिले थे। कनिंघम ने इसे भरहुत में चित्रित दृश्य का नमूना माना है। उनके विचार में बलुआ पत्थर का बना घेरा भी अशोक के ही समय का है। पर, भरहुत-रेलिंग पर चित्रित वज्रासन-मंदिर को ब्लॉक साहब ने काल्पनिक बताया है।[२] बरुआ महोदय ने भी यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि पत्थर के पायों पर वज्रासन को स्थिर करना और उसके चारों ओर बलुआ पत्थर का घेरा बनाना शुंग-काल की कृति है। भरहुत-रेलिंग पर चित्रित दृश्य काल्पनिक हैं और इसी आधार पर शुंग-काल में बोधगया के वज्रासन का और उसके घेरे का निर्माण हुआ।[३] बलुआ पत्थर के घेरे पर अनेक लेख खुदे हैं, जिनसे यह सिद्ध होता है कि यह घेरा आर्या कुरंगी का बनाया हुआ है। इसका समय प्रथम या द्वितीय सदी ई०-पू० माना गया है।

भरहुत की रेलिंग पर चित्रित वज्रासन-मंदिर काल्पनिक है, इस विचार की पुष्टि में ब्लॉक का कहना है कि ऊपर का महल इतना भारी और बृहत् मालूम पड़ता है कि जिन स्तम्भों पर यह टिका दिखाया गया है, वे इसके भार को सहने में असमर्थ दिखाई पड़ते हैं। अशोक के हस्त-शिरा-युक्त पाषाण-निर्मित स्तम्भ इसके प्रमाण हैं कि यह मंदिर पत्थर का बना था। अतः ब्लौक साहब का कहना है कि ऐसा मंदिर कभी खड़ा रह नहीं सकता था, दृश्य काल्पनिक है। किन्तु, इसके विरुद्ध कहा जा सकता है कि ऊपरी हिस्सा लकड़ी का बना हुआ होगा, इसलिए पाषाण-स्तम्भों को अत्यधिक भार वहन करना नहीं पड़ा होगा। भवनों के नीचे का हिस्सा पत्थर और ईंटों का हो और ऊपर का भाग लकड़ी का, यह कोई असम्भव धारणा नहीं है। मौर्यकालीन कुम्हरार के सभा-भवन की छत लकड़ी की ही मानी गई है। इस सम्भावना को ध्यान में रखते हुए कहा जा सकता है कि भरहुत की रेलिंग पर चित्रित वज्रासन-मंदिर अशोक के बनवाये बोधगया के मंदिर का ही दृश्य है, काल्पनिक नहीं। बरुआ साहब ने भी माना है कि पालिशदार शिला और हस्ति-शिरा-युक्त स्तम्भ अशोक के ही समय के हैं। अशोक के बनवाये घेरे के अवशेष शायद अब नहीं रहे। साथ ही, यह भी हो सकता है कि जब ई०-पू० द्वितीय सदी में बोधगया के वज्रासन-मंदिर की मरम्मत की आवश्यकता हुई (जिसका उदाहरण बाद में भी मिलता है) तब घेरा बढ़ाने की भी जरूरत समझी गई तथा आर्या कुरंगी ने इस पुण्य कार्य को, अपना और अपने पति का नाम घेरे पर अंकित कराकर, सम्पन्न किया। बलुआ पत्थर की रेलिंग के कुछ भाग अशोक के समय के हो सकते हैं। जिस प्रकार पूर्णवर्मन ने बलुआ पत्थर के घेरे को बढ़ाकर नये पत्थर का घेरा जोड़ा, उसी प्रकार आर्या कुरंगी ने भी अशोक के बनवाये घेरे को बढ़ाया होगा। अतः भरहुत की रेलिंग पर अंकित वज्रासन और चंक्रमक-मंदिरों[४] के दृश्य अशोक के समय के स्थापत्य के प्रामाणिक चित्र माने

---

१. महाबोधि—पृ० ८

२. *A. S. I; A. R, 1908-9,—p. 139 ff.*

३. *Gaya and Buddha-Gaya, Vol. I*

४. चित्र-संख्या—१८

जा सकते हैं। इन चित्रों में लकड़ी के काम की नकल स्पष्ट है तथा लोमश ऋषि के प्रवेश-द्वार में भी यही नकल दिखाई पड़ती है। यह समानता भी उक्त तर्क की पुष्टि में सहायक प्रमाणित होती है।

मौर्यकालीन वास्तुकला (स्थापत्य) के नमूनों से स्पष्ट प्रतिभासित होता है कि यद्यपि पत्थर तथा ईंटों का व्यवहार होने लगा था, तथापि लकड़ी पर आधारित वास्तुकला को ही आदर्श मानकर स्मारक बनाये जा रहे थे। उपर्युक्त सभी उदाहरणों से निश्चित है कि मौर्यकालीन स्थापत्य-कला अत्यन्त विकसित थी और कई दिशाओं में उसने भविष्य के लिए मार्ग-प्रदर्शन किया था।

मौर्यकालीन शिल्प-कला

मौर्यकालीन कला के उत्कृष्ट नमूनों में अशोक के समय के शिला-स्तम्भ, उसके शिरोभाग और पाषाण-मूर्त्तियाँ अतुलनीय हैं। बिहार में ये शिला-स्तम्भ और उनके शीर्ष-भाग के बहुतेरे प्रतीक मिले हैं, जो सुरक्षित हैं। गोलाकार बीस फीट से भी अधिक लम्बे ये स्तम्भ एक ही पत्थर के बने हैं और उनकी चोटी पर विशाल शीर्षभाग बैठाये गये हैं। स्तम्भ-शिरोभाग में उल्टे कमल के फूल का चित्र और उसके ऊपर रस्सीनुमा सज्जा के साथ दोनों की मालाएँ बनी हैं। उसके ऊपर वर्गाकार या चतुर्भुजाकार चबूतरा है, जिसके नीचे का कोर भिन्न-भिन्न रूप से अलंकृत है। इस चबूतरे पर पशु की मूर्त्ति तृतीय आयाम में खड़ी या बैठी है। उल्टे कमल के चित्र से लेकर पशु की मूर्त्ति तक सभी एक ही पत्थर में बने हैं। यह विशाल पशु संयुक्त-शिर, स्तम्भ की चोटी पर ताँबे की सिकरी से जोड़ा गया है। शिरोयुक्त ये स्तम्भ, ऊपर से नीचे तक, मौर्यकालीन पालिश से दीप्तिमान् हैं। इतने विशाल और वजनदार स्तम्भों और शिराओं को एक ही पत्थर में बनाना प्रस्तर--कला-कुशलता की अत्यधिक निपुणता का प्रमाण है। अशोक के बनवाये सभी स्तम्भ और शिरोभाग चुनार में प्राप्त होनेवाले बलुआ पत्थर के बने हैं, और ऐसे स्तम्भों को देश के दूर-दूर भागों में पाया जाना, साबित करता है कि उस समय की यंत्र-विद्या (Engineering) और यातायात की व्यवस्था पूर्ण विकसित थी। तृतीय आयामवाली मूर्त्ति के उदाहरणों में अशोक के समय की स्तम्भ-शिरोभागवाली पशु-मूर्त्तियों का स्थान सर्वप्रथम है। इन मूर्त्तियों को चारों ओर से काटकर चौकोर बनाया गया है। इस मूर्त्ति-कला को परिपूर्ण मूर्त्ति-कला (Sculpture in the round) कहा जाता है; क्योंकि ये मूर्त्तियाँ सभी दिशाओं से दर्शनीय हैं—चारों ओर से गढ़ी गई हैं।

प्राचीन वैशाली के निकट बसाढ़-बरवीरा की लाट (स्तम्भ) मौर्यकालीन स्तम्भों में, समय के दृष्टिकोण से, प्रथम प्रयास का नमूना है। यह स्तम्भ अब भी पूर्णतः खड़ा है और इसपर कोई अभिलेख नहीं है। यह स्तम्भ अन्य स्तम्भों की तुलना में जरा भद्दा-सा लगता है। यह ३६ फुट लम्बा है और नीचे से ऊपर की ओर मोटाई कम होती गई है। अन्य स्तम्भों में यह अन्तर बहुत कम है; इसलिए वे आकर्षक हैं, पर बसाढ़-बरवीरा स्तम्भ के नीचे का व्यास ४ फीट २ इंच है और ऊपर का ३ फीट एक इंच। उल्टे कमल के

शिरोभाग पर दीर्घाकार चबूतरा है। यह चबूतरा जरूरत से अधिक बड़ा और भारी मालूम होता है, जो कला पूर्ण कमल से मेल नहीं खाता है। बाद में बननेवाले स्तम्भों के चबूतरे वृत्ताकार हैं। इस भारी-भरकम चबूतरे पर सिंह पीछे के पैरों को मोड़कर बैठा है जब कि उसका अधोभाग चबूतरे पर मुश्किल से उचित स्थान पा सका है। उसके आगे चबूतरे का एक हिस्सा खाली पड़ा है। सिंह के अयाल की तरंगमय लाइनें भी मोटी हैं। सिंह के प्रभावोत्पादक शरीर का चित्रण तो ठीक हुआ है, पर मूर्त्ति में गतिशीलता या स्फूर्त्ति का अभाव है। किन्तु, विकसित कमल की पंखुड़ियाँ बड़ी सुन्दर और सावधानी से उखड़ी हैं।[1]

लौरिया-नन्दनगढ़ में अब भी सम्पूर्ण रूप से सिंह-शीर्ष-युत स्तम्भ खड़ा है। यह स्तम्भ सभी ज्ञात-प्राप्त स्तम्भों से अधिक सुन्दर और सुडौल है। नीचे का व्यास ३५″ है और ऊपर का २६″। स्तम्भ ६′-१०″ ऊँचा है और पशु-मूर्त्ति से मंडित शीर्ष ६′ १०″। कमल-शीर्ष और स्तम्भ के बीच सुतरी-दाना और रील की सुन्दर साज-सज्जा है। उसके बाद मनोहर और कोमल कमल-पंखुड़ियाँ निश्चित नियमों के अनुकूल उत्कीर्ण हैं। गोल चौकी पर सिंह अपनी गर्दन उठाये आगे के परों पर खड़ा है। सिंह के अयाल निश्चयात्मक ढंग के हैं, वास्तविक नहीं प्रतीत होते। मस्तक से आधे भाग तक के शरीर का झुकाव बड़े कायदे का है और मूर्त्ति में गति का आभास मिलता है। फिर भी कलाकार सिंह को आसन पर उचित रूप से आरूढ़ करने में असफल रहा है। विशाल सिंह के लिए वृत्ताकार आसन छोटा मालूम पड़ता है। सिंह के दोनों अगले पैर आसन की सतह से अलग होकर नीचे सरक गये हैं और उसका आधा भाग आसन से बाहर निकला प्रतीत होता है। आसन के किनारे चारों ओर हंसों की पंक्ति उत्कीर्ण है। कलात्मक दृष्टि से हंस बड़े सुन्दर और सजीव लगते हैं। पत्थर को काटने और इसपर नक्काशी करने के जो भी काम हुए हैं, वे सब उच्च श्रेणी के हैं। पत्थर के काम में इतनी सफाई और कौशल के उदाहरण भारतीय कला के इतिहास में फिर नहीं मिलते। अन्य देशों की कलाओं की तुलना में भी इनका स्थान किसी से न्यून नहीं है।[2] इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि भखिरा लाट से नन्दनगढ़-लाट तक पहुँचने में कला ने क्रमशः प्रगति है। की है।

लौरिया-नन्दनगढ़ से कुछ ही दूरी पर रामपुरवा (चम्पारन) में अशोक के शिला-स्तम्भ, पशु-मूर्त्ति और स्तम्भ के संयुक्त शीर्षभाग (Capitals) मिले हैं। जमीन की सतह से १६ फीट नीचे अशोक का एक शिला-स्तम्भ मिला। यह ऊपर से नीचे तक ४४′-२″ लम्बा है। नीचे ७′-६″ तक यह रुखड़ा है। जमीन के नीचे गाड़े जाने के कारण इसपर पालिश नहीं दी गई है। नीचे की मुटाई का व्यास चार फीट है और चोटी की मुटाई तीन फीट है। जमीन के ऊपर रहनेवाला भाग मौर्यकालीन पालिश से दीप्तिमान् है। इस स्तम्भ का शीर्षभाग कुछ दूर हटकर मिला था। यह सिंह-आकृति-युक्त है।

१. चित्र-संख्या—१६

२. चित्र-संख्या—२०

उल्टे कमलवाले शीर्ष पर वृत्ताकार सिंहासन है। इसके किनारे चारों ओर हंसों की सुन्दर पंक्ति उत्कीर्ण है। सिंहासन पर सिंह शान से बैठा है। उसका कोई भाग आसन से बाहर निकला नहीं है। सिंह के अयाल और मुँह यद्यपि रूढ़िवादी ढंग के हैं, इस प्रथित ओज-पूर्ण और गौरवान्वित मूर्त्ति में हम मौर्यकालीन मूर्त्ति-कला का पूर्णतया विकास देखते हैं। सिंह की मांस-पेशियाँ और स्नायु पुष्ट दीखते हैं और आकृति प्रभावोत्पादक है।[१]

इसी ग्राम में साँड़ का सिर भी प्राप्त हुआ है। इसका स्तम्भ नहीं मिला, शायद वह टूट गया होगा। कमल की लम्बी सुकोमल झुकी पंखुड़ियाँ तरंगवत् खुदी हैं। वृत्ताकार चौकी और कमल के बीच मेखला पर ऐंठी डोरी की रूपरेखा है। उसी पर चौकी स्थित है। वृत्ताकार आसन के किनारे चारों ओर एक विशेष प्रकार के यूनानी पौधों (Homey suckle) और छोटे ताल-वृक्ष अंकित हैं। इन पौधों की पंक्तियाँ और शाखाएँ रूढ़िवादी (Conventional) हैं। इस आसन पर विशालकाय साँड़ शान से खड़ा है।[२] स्वाभाविकता और सजीवता के लिए साँड़ की यह मूर्त्ति सिन्धु-घाटी की मुहरों पर अंकित ब्राह्मी साँड़ की याद दिलाती है। साँड़ की मांस-पेशियाँ और तन्तु-शिराएँ निपुणता से गढ़ी गई हैं। साँड़ की पीठ का ककुद (Sump) प्रभावोत्पादक तथा अत्यन्त प्राकृतिक है। इस मूर्त्ति में अभिव्यक्त पौरुष और गतिशीलता ओजपूर्ण है। मार्शल के विचार में इस मूर्त्ति का महत्त्व यह भी है कि साँड़ की तृतीय आयामवाली मूर्त्तियों में यह सबसे प्राचीन है।[३] साँड़ के भारी मस्तक और सुडौल शरीर का, ठोस पत्थर पर कोमलतापूर्ण और भावना-शील चित्रण बेमिसाल है। अपने प्रभावशाली और ओजस्वी व्यक्तित्व के प्रति यह निर्भीक पशु निश्चित आसन पर खड़ा रहने में कठिनाई अनुभव कर रहा है। आसन इसके लिए छोटा मालूम पड़ता है। शिल्प-निर्माण-कला के विचार से आसन पर मूर्त्ति को ठीक से खड़ा नहीं करना कलाकार की कमजोरी माना गया है। इस दृष्टिकोण से लौरिया-नन्दनगढ़ या रामपुरवा की सिंह-मूर्त्ति अधिक सुव्यवस्थित ढंग से आरूढ़ है। पर, रामपुरवा साँढ़ की यह कमजोरी इसकी स्वाभाविकता और प्रतिष्ठा की स्पष्ट अभिव्यक्ति में डूब जाती है। इसी शैली में भुवनेश्वर के समीप 'धौली' में एक चट्टान में विशाल और प्रभावोत्पादक हाथी की मूर्त्ति गढ़ी गई है।[४] पत्थर-जैसे ठोस पदार्थ में स्थूल शरीर के इस स्वाभाविक चित्रण की जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है। ऐसा अनु-मान होता है कि जिस शिल्पकार ने रामपुरवा के साँड़ की मूर्त्ति बनाई, उसीने या उसके साथी ने 'धौली' में हाथी को भी मूर्त्ति-रूप दिया। सम्राट् अशोक ने कलिंग-विजय की थी और यह उनकी अन्तिम विजय थी। इसके बाद ही उन्होंने युद्ध-विजय के बदले धर्म-विजय की नीति अपनाई। मौर्य-सम्राट् की शक्ति, गौरव और विजय का प्रतीक 'धौली' का वह हाथी है, जो जमीन को फाड़कर मानों निकला आ रहा है अथवा अन्धकार के अन्तराल से प्रकाश में आ रहा है। रामपुरवा के साँड़ और धौली के हाथी की मूर्त्तियों में

---

१. चित्र-संख्या—२१
२. चित्र-संख्या—२२
३. *J. R. A. S; 1908; p. 1088.*
४. चित्र-संख्या—२३

हम इन पशुओं की स्थूलता (मांसल शरीर) का स्पष्ट अनुभव करते हैं। इनमें पाषाण-मूर्त्तियों की कोमलता और सुस्निग्धता, जो भारतीय शिल्प-कला के विशिष्ट गुण हैं, बड़ी निपुणतापूर्वक अभिव्यक्त की गई है। स्वर्गीय राखालदास बनर्जी के विचार में सम्पूर्ण भारत में ऐसे स्वाभाविक और ऊर्जस्वल साँड़ की मूर्त्ति पाना असम्भव है।[१]

मौर्यकालीन शिल्प-कला का सबसे उत्तम उदाहरण है—सारनाथ में प्राप्त चार सिंहों से युक्त स्तम्भ-शिरोभाग।[२] चार सिंहों की मुखवाली यह मूर्त्ति वृत्ताकार आसन पर खड़ी है। चारों सिंहों के मुख चार दिशाओं की ओर हैं और चारों सिंह परस्पर इस प्रकार सटे बैठे हैं कि मानो सबकी पीठ एक ही है। सिंहों के अयाल बड़े ही नियमिततापूर्ण ढंग से तरंगवत् रेखाओं में उभरे हैं। सिंहों की मूँछें, आँखें और खुले मुख अप्रकृतिक और विचित्र होते हुए भी अत्यन्त प्रभावोत्पादक हैं। इनसे सिंहों के गर्वीले स्वभाव और आकृति का रोब गालिब है। सिंहों के पैरों, पंजों और उनकी स्नायुओं का चित्रण भी अत्यन्त प्रशंसनीय है। यह चार मुखवाला सिंह बड़ी सुव्यवस्था से वृत्ताकार आसन पर खड़ा है। इस आसन के चारों ओर मध्य में चक्र हैं और अश्व, मृग, साँड़ तथा हाथी की मूर्त्तियाँ खुदी हैं। इन मूर्त्तियों की विशेषता यह है कि जहाँ एक ओर सिंहासनारूढ़ सिंह अप्राकृतिक और रूढ़िवादी ढंग से निर्मित है, वहाँ दूसरी ओर चौखटे पर उत्कीर्ण मूर्त्तियाँ सजीव और पूर्ण स्वाभाविक हैं। अश्व की गतिशीलता, साँड़ का पौरुष, मृग की चंचलता और हाथी के विशाल मांसल शरीर के साथ गौरव-गंभीर आकृति के स्वाभाविक तथा ओजपूर्ण अभिव्यक्ति की जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है। उल्टे कमल-शीर्ष (Inverted lotus capital) पर बैठाया हुआ आसन तो बिलकुल नपा-तुला है। मौर्य-काल के शिल्पियों के सामने यह एक बड़ी समस्या थी कि इस नपे-तुले सिंहासन पर विशाल पशु-मूर्त्ति को किस प्रकार अच्छी तरह प्रतिष्ठित किया जाय। हम देख चुके हैं कि भरकरा-स्तम्भ का सिंह पीछे की ओर तो सिंहासन से बाहर निकला-सा है, पर उसके आगे की ओर आसन का भाग खाली पड़ा है। लौरिया-नन्दनगढ़ का सिंह भी वृत्ताकार आसन पर अपना संतुलन खो बैठा है। रामपुरवा का साँड़ सिंहासन पर समाता नहीं दीखता और यहाँ का सिंह सिंहासन पर तो सुव्यवस्थित है; पर वह बैठा है, खड़ा नहीं। समुचित प्रभाव और गौरव को प्रकट करने के लिए खड़ी सिंह-मूर्त्ति निश्चय ही श्रेष्ठ होती। सारनाथ के सिंहवाले शीर्षभाग में भारतीय कलाकार ने इस समस्या पर विजय प्राप्त कर ली है। पशु-मूर्त्ति के अंग-प्रत्यंग अत्यन्त पुष्ट हैं और समविभक्त हैं। पूरी कृति ही समविभक्तता के गुण से विभूषित है। राय कृष्णदास के विचार में—"कहीं से लबरपन, बोदापन और भद्दापन नहीं है। न एक छेनी कम लगी है, न एक छेनी अधिक"।[३] यद्यपि कमल की लम्बी पंखुड़ियाँ दो-दो लहरदार कोमल लकीरों में पूर्व-निश्चित योजना के ढंग पर उभरी हैं, तथापि अत्यन्त आकर्षक हैं। कमल-शीर्ष और आसन के

---

१. *Eastern School of Indian Sculpture; p. 7.*

२. चित्र-संख्या—२४

३. रायकृष्ण, 'भारतीय मूर्त्तिकला' (द्वितीय संस्करण); पृ० —४२

बीच एक वृत्ताकार चिकना पत्थर पड़ा है। उसपर किसी प्रकार की नक्काशी नहीं है, फिर भी इसपर गोलाकार आसन है, जिसपर चार मुखवाला सिंह खड़ा है। शीर्षभाग का अणु-अणु आइने की तरह चमक रहा है। स्वर्गीय 'विंसेण्टस्मिथ' ने लिखा है—"संसार के किसी देश की प्राचीन शिल्प-कला में ऐसी पशु-मूर्त्ति का उदाहरण पाना मुश्किल है, जो सारनाथ के सिंह-शिर से श्रेष्ठ या इतना सुन्दर हो। इस सुन्दर कलात्मक कृति में आदर्शवादी गौरव और यथार्थवादी प्रतिरूपता का सफल सामञ्जस्य हुआ है तथा इस कृति के प्रत्येक अंग निर्दोषपूर्ण गढ़े गये हैं।"[१] जान मार्शल के शब्दों में—"सारनाथ का स्तम्भ-शिरोभाग ईसा से तृतीय सदी-पूर्व की अत्युत्तम विकसित कला-कृति है।"[२] यह सुन्दर कृति निश्चित रूप से राजधानी में ही, प्रत्यक्ष राज्य-संरक्षण में, निर्मित की गई होगी। स्वर्गीय राखालदास बनर्जी की राय में यह मगध की कला का उज्ज्वल उदाहरण है।[३]

इसी सिलसिले में आरा (शाहाबाद) नगर के समीप मसाढ़-ग्राम में प्राप्त सिंह के सिर की पाषाण-मूर्त्ति विचारणीय है। यह पटना-संग्रहालय में है और टूटे चबूतरे (Abacus) पर स्थित है। इस सिंह-मूर्त्ति के अयाल निश्चयात्मक ढंग के घुँघराले लच्छों के बने हैं। यह सम्पूर्ण मूर्त्ति ही अभ्यस्त और निश्चित शैली का उदाहरण है। चबूतरे के कोर पर यूनानी पौधे (Acanthus) की पत्तियाँ बेढंगी तरह से उभरी हुई चित्रित हैं। पूरी मूर्त्ति पर मौर्यकालीन विशिष्ट चमक वर्त्तमान है।[४] यद्यपि यह निश्चित है कि यह मूर्त्ति मौर्यकालिक है, तथापि शैली के दृष्टिकोण से अनुमान होता है कि कोई नौसिखुआ कलाकार किसी निश्चित शैली तथा निश्चयात्मक आदर्श की नकल कर रहा हो। पटना-संग्रहालय में चार साँड़ों से युक्त स्तम्भ-शीर्ष का एक टुकड़ा सुरक्षित है। इसमें चार साँड़ परस्पर सटे हुए, पर भिन्न दिशा में देखते हुए बैठे हैं। इसके ऊपर एक सूराख है और सभी पर मौर्य-पालिश है। साँड़ों के बैठने का तरीका और शरीर की बनावट स्वाभाविक और ओजपूर्ण है।[५]

मौर्यकालीन स्तम्भों पर किसी प्रकार की नक्काशी नहीं की गई है। उन्नत और अलंकृत ये स्तम्भ मौर्य-साम्राज्य के गौरव और शक्ति के प्रतीक-से लगते हैं। उल्टे कमल की पंखुड़ियाँ पूर्व-निश्चित ढंग से लम्बी, कुछ बल खाती और लहराती दीखती हैं, जिससे बरबस दर्शक के मन और आँखों को अपनी ओर खींच लेती हैं। मौर्यकालीन स्तम्भ-कमल-शिर कला की अनुपम कृति है। तत्कालीन चमकदार पालिश तो इस काल की निजी विशेषता है।

मौर्यकालीन शिल्प-कला के अध्ययन में मनुष्याकार प्रतिमाओं का विचार आवश्यक है। पटना में दो विशाल पुरुष-मूर्त्तियाँ[६] मिली हैं, जिन पर मौर्यकालीन पालिश है।

१. *Fine Art in India and Ceylon; p. 19.*

२. *Cambridge History of India; Vol. I, p. 620*

३. *Eastern School of Indian Sculpture : p. 7.*

४. चित्र-संख्या—२५

५. चित्र-संख्या—२५-२६

६. चित्र-संख्या—२७-२८

एक मूर्त्ति का सिर लापता है। गले में कई लड़ियों की माला है। बाँह में वलय है। धोती लुंगीनुमा तरीके से पहनी गई है। शरीर पर चादर दाहिनी काँख से बाँये कन्धे के ऊपर होती हुई पीछे की ओर लटक रही है। इसकी तहें प्रत्यक्ष दीखती हैं। मूर्त्तियों में पैर अत्यन्त भारी-भरकम और भद्दे लगते हैं। वे जरूरत से ज्यादा लम्बे हैं और उनकी अंगुलियाँ भी स्वाभाविक नहीं हैं। इनकी पीठ पर ब्राह्मी-लिपि में लेख भी खुदे हैं। स्वर्गीय श्री काशीप्रसाद जायसवाल[1] ने सुझाव दिया कि ये मूर्त्तियाँ मौर्यकाल के पहले की हैं तथा मगधराज उदयन और नन्दीवर्द्धन की वास्तविक मूर्त्ति है। स्वर्गीय राखालदास बनर्जी ने भी श्री जायसवाल के विचार की पुष्टि की और इन मूर्त्तियों को भारतीय मूर्त्ति-कला का प्रथम उदाहरण माना।[2] डा० स्मिथ का मत था कि ये मूर्त्तियाँ ईसा से ४०० वर्ष पूर्व निर्मित हुई हैं।[3] अंकित लेख और लिपि के आधार पर भी जायसवाल ने अपने मत की पुष्टि करने की कोशिश की। पर, प्राचीन लिपि-विज्ञान के अधिकारी भारतीय विद्वान् श्री रामप्रसाद चन्दा[4] और विदेशी विद्वान् डा० बार्नेट[5] ने श्री जायसवाल के विचार से भिन्न विचार प्रकट किये। इनके विचार में लिपि प्रथम सदी की है, मौर्यकालीन तो कदापि नहीं, ये मूर्त्तियाँ राजा उदयन और नन्दिवर्द्धन (जिसे जायसवाल शिशुनाग समझते हैं) की नहीं हैं, वरन् यक्षों की हैं। श्री गांगुली ने निश्चयपूर्वक यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि ये मूर्त्तियाँ यक्ष-मूर्त्तियाँ ही हैं।[6]

यह बताया जा चुका है कि यक्ष और यक्षिणी की पूजा बुद्ध के पहले से चली आ रही थी। बिहार में तो बौद्धकाल में यक्ष-चैत्यों की भरमार ही थी। महामयूरी के अनुसार विभिन्न स्थानों में विभिन्न यक्षों का निवास था और प्रत्येक नगर में उस नगर के इष्ट यक्ष का निवास रहता था। नन्दिवर्धन-नगर में नन्दी और वर्द्धन दो यक्षों का निवास था। यह नगर मगध-राज्य में स्थित था। ऐसा बहुत सम्भव है कि पटना के समीप प्राप्त ये विशाल मूर्त्तियाँ नन्दी और वर्द्धन दो यक्षों की हैं और इन दोनों के नाम पर ही नन्दिवर्द्धन-नगर का नाम पड़ा था।[7] इन मूर्त्तियों का भारी-भरकम शरीर, बढ़ा हुआ पेट, बाँहों के आभूषण और कठोर व्यक्तित्व सब-के-सब यक्षों की अमानवीय दैवी शक्ति और गौरव को प्रदर्शित करते हैं।

प्रश्न यह उठता है कि इन मूर्त्तियों का समय क्या है। ये पूर्व-मौर्य, तत्कालीन या मौर्यपश्चात् की हैं। तीनों विचार भिन्न-भिन्न विद्वानों द्वारा व्यक्त किये गये हैं। मेरे विचार से इस प्रश्न का निपटारा लिपि-विज्ञान के आधार पर करना अनुचित है; क्योंकि

---

१ *J. B. O. R. S.-V; pp. 88 ff*

२. वही, पृ० २१०

३. वही, पृ० ५१३

४. *Journal of Department of Letters IV; p. 49 ff.*

५. *J. B. O. R. S.-V; 5/3*

६. *Modern Review*; October, 1919

७. *Journal of Department of Letters IV, p-16*

विद्वानों ने इस आधार को अत्यन्त सन्देहात्मक माना है।[1] इस समस्या का निदान तो हमें मूर्त्ति की शैली के आधार पर करना चाहिए। भारतीय संग्रहालय (कलकत्ता) के विद्वान् श्री अरुणसेन, कला के विकास के आधार पर पटना की इन मूर्त्तियों को, मौर्यकाल के पहले की बताते हैं। मौर्यकालीन पशु-मूर्त्तियाँ आगे और पीछे, दोनों ओर एक ही शैली में गढ़ी गई हैं। वे तृतीय आयामवाली मूर्त्तियाँ हैं, पर इन दोनों मूर्त्तियों का पृष्ठ-भाग एकदम समतल है। किन्तु, सामने का भाग दोनों ओर से इस तरह काटा गया है कि सामने से देखने में मूर्त्ति तृतीय आयाम का आभास देती है। इसलिए ऐसा अनुमान होता है कि कलाकार अभी तृतीय आयाम की मूर्त्ति बनाने की समस्या पर विजय प्राप्त नहीं कर सका था। मौर्यकालीन निर्दोष और पूर्ण मूर्त्तियाँ पटना की इन मूर्त्तियों के बाद के विकास के प्रतिफल हैं। कुमारस्वामी ने भी पहले इन मूर्त्तियों को, मौर्यकाल के पूर्व की, माना था।

इसके विपरीत श्री रामप्रसाद चंदा और नीहाररञ्जन राय का निश्चित मत यह है कि ये मूर्त्तियों मौर्यकाल के बाद की हैं। श्री चंदा इनका समय प्रथम सदी मानते हैं, और श्री एन्० आर० राय इसका समय साँची-स्तूप के पूर्वदिशा में स्थित तोरण-द्वार की शिल्प-कला और कुशानकालीन मथुरा-शैली के प्रारम्भिक काल के मध्य में रखते हैं।[2] पर, इन मूर्त्तियों पर मौर्य-पालिश की उपस्थिति का उचित उत्तर नहीं मिलता है। यदि मौर्यकाल के बाद भी ऐसी दीप्तिमान् चमक सम्भव थी, तो फिर भरहुत, साँची और बोधगया की पाषाण-रेलिंगों पर की मूर्त्तियों में इस 'चमक' का अभाव क्यों है? फिर कलात्मक दृष्टि-कोण से भी पटने में प्राप्त ये यक्ष-मूर्त्तियाँ पारखम् और पवैया की यक्ष-मूर्त्तियों से, जो और भी अधिक रुक्ष और बेजान-सी मालूम पड़ती हैं—अवश्य ही श्रेष्ठ हैं। कला की अवनति का यह प्रमाण कालान्तर में ही सम्भव था। इन विशाल नर-मूर्त्तियों को मौर्यकाल के पहले की समझना भी ठीक नहीं जँचता है। मौर्यकाल के पहले की शिल्पकला के नमूने नहीं मिले हैं और इस पृष्ठभूमि में इन मूर्त्तियों को मौर्यकालीन ही समझना अधिक युक्ति-संगत है; क्योंकि मौर्यकालीन में ही चमकवाली प्रस्तर-मूर्त्तियाँ मिली हैं। यह सत्य है कि इन मूर्त्तियों की पीठ सीधी चिपटी-सी है, जो तृतीय आयाम की मूर्त्तियों में नहीं मिलनी चाहिए। इस समस्या का समाधान यह हो सकता है कि मौर्यकालीन सामान्य-शिल्पी अभी काठ की बनी मूर्त्ति का रूप नहीं भूले थे। यह भी सम्भव है कि इन मूर्त्तियों को दीवाल या वृक्ष में सटाकर रखा जाता हो, और इसलिए पीछे से देखने की आवश्यकता ही न रही हो। कलाकार ने इसलिए इस ओर ध्यान नहीं दिया हो; क्योंकि ये यक्ष देव थे, जो वृक्षों के देवता माने जाते थे।

---

१. 'Palaeographic tests have independent value.'
—*Indian Antiquary XXXI, pp. 196 ff.—Sylvain Levi*

२. *B. O. R. S.-V.; p. 542*

३. *Maurya and Sunga Art; p. 49.*

इसी सिलसिले में पटना के समीप दीदारगंज से प्राप्त चँवर लिये हुई स्त्री-मूर्त्ति का उल्लेख आवश्यक है। यह प्रसिद्ध मूर्त्ति सन् १६१७ ई० में, मालसलामी थाने में स्थित दीदारगंज नामक ग्राम में गंगा-तट पर मिली थी। पटना-कॉलेज के भूतपूर्व प्राध्यापक स्वर्गीय श्री समादार साहब को विद्वत्-संसार के समक्ष इसे लाने का श्रेय है। यह नारी-मूर्त्ति ५१/२ फीट ऊँची है, और एक चौकी पर खड़ी है। चौकी के साथ पूरी मूर्त्ति एक ही पत्थर की बनी है और चुनार की इस बलुआ पत्थर की मूर्त्ति पर विशिष्ट 'चमक' है। यह मूर्त्ति चारो ओर से गढ़ी गई है। यह तृतीय आयाम की है, पर पीठ की ओर जरा चौरस-सी है। यह काठ की बनी-सी लगती है, पर सामने और बगल से यह तृतीय आयामवाली मूर्त्ति का उत्कृष्ट उदाहरण है। मूर्त्ति का मुखमंडल गोलाई लिए हुए है। शरीर भरा-पूरा और ओठों पर मुस्कान खिलती-सी नजर आती है। पेट की नसें और मांसल देह, पेट के मांस की सिलवटें प्रत्यक्ष हैं। वह दाहिने हाथ में चँवर लिये है, जिसके बाल बड़े स्वाभाविक ढंग से गूँथे गये हैं। स्त्री की कलाई में चूड़ियाँ और भारी कड़ा है। हाथ टूटा है। गले में दो लड़ियों का मुक्ताहार पूर्ण विकसित दोनों स्तनों के बीच हृदय पर लहरा रहा है। गले में दानों की बनी एकावली भी पड़ी है। सर पर दानों की माला बाल का जूड़ा और टायरा सर की शोभा बढ़ा रहे हैं। एक बड़ा ही महीन वस्त्र शरीर के ऊपरी भाग को ढकता हुआ बाँयें कन्धे के ऊपर से दाहिने हाथ के नीचे पैर तक फैला हुआ है। पाँच लड़ियों की कमरधनी आकर्षक है। कमर के ऊपर मूर्त्ति जरा झुकी-सी है जो पूरी मूर्त्ति में गति ला देती है। अत्यन्त उभरे स्तन, अत्यन्त पतली कमर और विस्तृत नितम्ब उस समय के नारी-सौन्दर्य के भारतीय आदर्श हैं। बाद में बनी नारी-मूर्त्तियों के लिए तो यह एक आदर्श ही बनी रही। सच पूछिए तो नारी-रूप के आदर्श गुणों का इसी मूर्त्ति में पहले-पहल सफल चित्रण हुआ है, और अमरावती तथा सारनाथ की सुसंस्कृत गरिमामयी नारी-मूर्त्तियों के लिए इसे अग्रदूती ही मानना चाहिए। विस्तृत और पुष्ट नितम्बों पर पाँच लड़ियों की कमरधनी शोभा दे रही है और कमर के नीचे के वस्त्र की चून और सिलवटें अत्यन्त सुन्दर रूप से चित्रित हैं।[१] कलात्मक दृष्टिकोण से यह प्रस्तर-प्रतिमा मौर्यकला की ही नहीं, भारतीय कला की अनुपम निधि है। नारी-सौन्दर्य की स्वाभाविक अभिव्यक्ति, आकर्षक रूप, तिरछी आँखें, अंग-प्रत्यंग का भराव और गोलाई तथा लज्जावनत चेष्टा इस मूर्त्ति की खूबियाँ हैं। मौर्यकालीन विशिष्ट 'चमक' इसके सौन्दर्य और रूप में चार चाँद लगा देती है। डॉ० स्पूनर के शब्दों में कमर के ऊपर का भाग इतनी निपुणता से गढ़ा गया है[२] जिसमें नारी-शरीर-रचना के आधुनिक नियमों का पूर्ण रूप से पालन हुआ है। यक्षिणी उपज की देवी मानी जाती थी और उभरे स्तन तथा चौड़ा वस्तिप्रदेश इसके प्रतीक हैं। इस मूर्त्ति की चिकनाहट और गतिशीलता इसे प्राणमय-सजीव बना देती है। स्वर्गीय राखालदास बनर्जी के विचार में यह मूर्त्ति मौर्यकाल की सबसे उत्तम कृति है।[३]

१. चित्र-संख्या—२६

२. *J. B. O. R. S.-V; pp.* 1—7 *ff.*

३. *Eastern School of Indian Sculpture; p.* 7

"भारतीय परम्परा में शिल्पकला स्थापत्य का एक अभिन्न अंग रही है। मेगास्थनीज के वर्णन के अनुसार मौर्य-राजभवन में सुन्दर मूर्त्तियाँ थीं। फाहियान ने सुना था कि अशोक के महल को देवदूतों ने बनाया था। बहुत सम्भव है कि ये यक्ष और यक्षिणी की विशाल मूर्त्तियाँ मौर्यभवन की छत और स्तम्भों के बीच टिकी रही हों। इसलिए, पीछे चलकर यह अंधविश्वास फैला हो कि ये भवन इन देवदूतों ने बनाये हैं; क्योंकि इन मूर्त्तियों का वास्तुविद्या से सम्बन्ध था। इनकी पीठ दर्शकों को नहीं दिखाई पड़ती; क्योंकि इनकी पीठ चौरस-सी है। ज्ञात होता है कि कलाकारों ने इस ओर ध्यान देना आवश्यक नहीं समझा होगा। पर, क्या यह लकड़ी की छत इन भारी मूर्त्तियों को बर्दाश्त कर सकी होगी?

"मगध बौद्ध-धर्म या यक्षों की पूजा का ही केन्द्र नहीं, वरन् जैनधर्म का भी प्रमुख क्षेत्र था। मौर्यकाल में सभी धर्मों का प्रचार था, और राजा तथा प्रजा धार्मिक क्षेत्र में पूर्ण सहनशील थे। पटना में ही लोहानीपुर में तीर्थङ्कर की एक नंगी मूर्त्ति मिली है, जिसका सर और हाथ गायब है। उसके पैर भी जाँघ के पास से टूट गये हैं। मूर्त्ति पर उत्तम चमकीली पालिश है और तंग वक्षस्थल तथा क्षीण शरीर जैनों के तपस्यारत शरीर का नमूना है।[१] पीठ प्रायः चौरस है, पीछे से काठ-सी लगती है। यह मूर्त्ति भी किसी ताखे में रखकर पूजा के काम में लाई जाती रही होगी।

इन धर्म-सम्बन्धी मूर्त्तियों के अलावा अन्य उदाहरण भी मिले हैं, जिनका अभिप्राय जन-साधारण का शौक रहा हो। कुम्हरार में मिली पत्थर की एक मूर्त्ति में हँसता हुआ चेहरा और सिर पर पगड़ी का स्वाभाविक गढ़न प्रशंसनीय है।[२] पटना सिटी के मुरतजीगंज मुहल्ले में मौर्य-स्तर पर पत्थर पर बनी इक्कीस मंडलाकार तश्तरियाँ भी मिली हैं, जिनपर विविध प्रकार के दृश्य खुदे हैं। इन दृश्यों में जानवर, ताड़-वृक्ष और नंगी स्त्री की तस्वीरें हैं। इस प्रकार की तश्तरियाँ तक्षशिला, भिटा और काशी में भी मिली थीं। ये निश्चित रूप से मौर्यकाल की हैं। इनपर उस समय की विशिष्ट 'चमक' है। इनका महत्त्व धार्मिक रहा होगा, जैसा कि नंगी स्त्री-मूर्त्ति से प्रतीत होता है।[३] इनपर खुदे दृश्यों से हमें तत्कालीन जनसाधारण के धार्मिक विश्वासों का ज्ञान होता है।[४]

मौर्यकालीन पाषाण-स्तम्भ-शिराओं और मूर्त्तियों के अध्ययन से यह अनुमान होता है कि मौर्य-कलात्मक कृतियों को दो भागों में बाँटा जा सकता है—एक राजकीय (Court) और दूसरा जनसाधारण का (Country)। ऐसा विचार श्री कुमारस्वामी ने पहले-पहल व्यक्त किया। यक्ष-मूर्त्तियाँ, तश्तरियाँ या हँसता सिर राजकीय निर्देश के परिणाम न होकर देशीय या जनसाधारण के निमित्त गैरसरकारी कलाकारों द्वारा बनाये गये होंगे। राजभवन, शिर-युक्त स्तम्भ और पर्वत-गुफाएँ राजकीय प्रश्रय के उदाहरण हैं।

---

१. चित्र-संख्या—३०

२. चित्र-संख्या—३१

३. चित्र-संख्या—३२

४. *J. B. R. S. XXXVII : pp. 178 ff.*

मौर्यकालीन कला पर विदेशी प्रभाव

भारतीय कला के इतिहास में मौर्यकालीन कला सबसे प्राचीन और कई दृष्टियों से अपूर्व है। पहले-पहल इसी समय पत्थर का इतना व्यापक व्यवहार हुआ और इतने उत्कृष्ट कला-कृतियों के उदाहरण मिले हैं। ऐसी विशेषताओं से युक्त घटना की पृष्ठभूमि समझना आवश्यक है। अनेक भारतीय और विदेशी विद्वानों ने मौर्यकालीन वास्तुओं और मूर्त्ति-कलाओं का स्रोत ईरान और यूनान माना है। पर्सी ब्राउन के शब्दों में 'अपने प्रारम्भिक काल में ही मौर्य-राजवंश अपनी पश्चिमी सीमा के बाहर अपने से अधिक उन्नत सभ्यता की ओर देख रहा था और वहीं से अपने स्थापत्य के लिए प्रेरणा पा रहा था'।[१] बेञ्जामिन रोलैंड ने अपना यह निश्चित मत प्रकट किया है कि 'मौर्य-संस्कृति की तरह मौर्य-कला भी अत्यधिक अंश में विदेशी है'।[२] डा० विन्सेंट स्मिथ का विचार है—'वास्तुकला और मूर्त्तिकला में अचानक पत्थर का व्यवहार बहुत अंशों में विदेशी, सम्भवतः पर्सिया का, परिणाम है।'[३] नीहाररंजन राय के विचार में—'इसमें जरा भी सन्देह नहीं है कि प्रेरणा विदेश (बाहर से) से मिली।'[४] श्रीरामप्रसाद चन्दा ने भी ऐसा विचार व्यक्त किया कि फारस के पाषाण-भवनों की नकल में ही अशोक ने वास्तुकला में पत्थर का व्यवहार आरम्भ किया और इस निर्माण में उसने विदेशी कलाकारों से मदद ली।[५]

महान् विद्वानों के उपर्युक्त निश्चित मत का आधार क्या था? इस प्रश्न पर गंभीरता-पूर्वक विचार करना है। ऐसे विचार की आधार-शिला है—मौर्यकाल के पूर्व पत्थरों के व्यवहार में लाने के प्रमाणों का नितान्त अभाव। पर, मौर्य-साम्राज्य की स्थापना के दो-ढाई सौ वर्ष पहले ईरान में अक्मेनियन-वंश का राज्य स्थापित हो चुका था, और इस वंश के प्रतापी राजाओं ने इस विस्तृत साम्राज्य की स्थापना की थी, जिसकी सीमा सिन्धु नदी से यूनान तक फैली हुई थी। इस अति विस्तृत सुशासित और समृद्ध साम्राज्य में शक्तिशाली राजतंत्र स्थापित था तथा इसके संरक्षण में कला की अत्यधिक उन्नति हुई। प्राचीन ईरानी कलाकारों ने पत्थरों के बने विशाल राजभवनों का निर्माण किया। सूसा, पार्सिपोलिस और इकबतना के सुन्दर भवनों की प्रशंसा यूनानी विजेताओं ने मुक्तकंठ से की तथा पुरातत्त्व-विज्ञान ने इसकी पुष्टि की। मौर्य-साम्राज्य का सुदृढ़ शक्तिशाली राजतंत्र भी अक्मेनियन साम्राज्य-सा ही था। अशोक के अभि-लेखों की शैली और सम्राट् दरायुश के अभिलेखों की शैली एक है—पहले अन्यपुरुष और फिर उत्तमपुरुष का व्यवहार उल्लेखनीय है। अशोक का उल्टे कमलवाला स्तम्भ-शिरो-भाग ईरान के घंटीनुमा स्तम्भ के आधार (Base) से इतना मिलता-जुलता है कि कुछ

---

१. *Indian Architecture ; p. 6.*

२. *Benjamin Rowland—Architecture of India; p. 43*

३. *Fine Art in India and Ceylon; p. 16.*

४. *Maurya-Sunga Art; p. 31.*

५. *Memories of Archaeological Survey of India; No. 30, p. 5.*

समय पहले तक मौर्यकालीन स्तम्भ-शीर्ष को भी पर्सिया का घंटीनुमा शिरोभाग ही माना जाता था। पर्सिया के राजभवनों में बड़े-बड़े हॉल थे, जिनकी छत पाषाण-स्तम्भों पर टिकी थी। इन्हीं स्तम्भों को ध्यान में रखकर अशोक ने स्वतंत्र खड़े स्तम्भों का निर्माण कराया होगा। कुम्हरार में जो अस्सी स्तम्भोंवाले हॉल के अवशेष मिले हैं, वह ईरानी प्रेरणा की ही अभिव्यक्ति माने गये हैं। मौर्यकालीन पाषाण-स्मारकों पर जो आईने-सी चमक है, वह अक्मेनियन भवनों पर भी मिलती है। अशोक के स्तम्भ-शीर्ष पर जो पशु-मूर्त्तियाँ बनी हैं, उनके भी आदर्श ईरानी ही प्रतीत होते हैं, विशेषकर सिंह का मुँह और उसके अयाल जिस निश्चयात्मक शैली के उदाहरण हैं, उसका इतिहास अवश्य ही पुराना है, और वे किन्हीं अभ्यस्त कलाकारों की कृतियाँ हैं। मौर्य-साम्राज्य का पश्चिमी एशिया से घनिष्ठ सम्बन्ध था, यह सर्वविदित है। चन्द्रगुप्त मौर्य ने सेल्यूकस से मैत्री की थी और सेल्यूकस का साम्राज्य पश्चिम में सीरिया तक और पूर्व में भारतीय सीमा तक विस्तृत था। इन दोनों साम्राज्यों में राजदूतों की भी अदला-बदली हुई थी। विन्दुसार और अशोक के समय में पश्चिमी सभ्यताओं से सम्बन्ध और भी घनिष्ठ था। चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में ही पाटलिपुत्र में विदेशी नागरिक इतनी अधिक संख्या में थे कि नगर-पालिका की एक समिति ही इन विदेशियों की देख-रेख में लगी थी।[१] इनमें इसी तरह कुछ कलाकार भी रहे होंगे। मौर्य-स्तम्भ-शिराओं पर या आसन पर कुछ ऐसे चित्र खुदे हैं, जैसे—छोटे ताड़-वृक्ष, मनको (Beads), ऐंठी रस्सी, यूनानी पौधे (Acanthus) और पत्तियाँ—जिससे यूनानी कला के प्रभाव का भी अनुमान किया गया है। जब अक्-मेनियन-साम्राज्य यूनानी विजेता सिकन्दर के आक्रमण के कारण नष्ट हो गया, तब यूनानी विजेताओं ने प्राचीन ईरानी संस्कृति को एकदम नष्ट नहीं किया; बल्कि उनके कलात्मक भवनों को अपने व्यवहार में रखा और यूनानी-कला-परम्परा भी अधिक तेजी से पश्चिमी एशिया से प्रवेश कर सकी। मौर्यकाल में जब चन्द्रगुप्त और अशोक ने पश्चिम से प्रेरणा पाई, तब उन्होंने ईरानी-यूनानी परम्परा का स्वागत किया। मौर्य-कला पर इनका प्रभाव स्पष्ट माना गया है। अशोक ने जब अपने धर्म-प्रचार और प्रभाव को स्थायी रूप देने का निश्चय किया, तब लकड़ी और ईंटों के अलावा अधिक स्थायी और दृढ़ पदार्थ की ओर उसका ध्यान जाना स्वाभाविक था। चूँकि उसके पड़ोस में ही शिल्प-कला की उत्कृष्ट परम्परा का ज्ञान था, इसलिए उसने वहाँ के कुछ कलाकारों को अवश्य ही बुलाया होगा, और उनके द्वारा भारतीय शिल्पकला के कलाकार प्रशिक्षित किये गये होंगे। इस प्रकार मौर्यकालीन पाषाण-स्मारकों की उत्कृष्ट कला और विलक्षण 'चमक' को समझना आसान हो जाता है। मौर्य-साम्राज्य के पतन के बाद इस कला का अचानक अन्त हो जाना भी युक्तिसंगत है; क्योंकि यह कला भारतीय परम्परा पर नहीं, वरन् विदेशी अनुकरण पर राजकीय प्रेरणा और निर्देश पर आधारित थी। अतः शक्तिशाली केन्द्रीय और समृद्ध साम्राज्य के अन्त के

१. *Ancient India*

—*Macrindle.*

साथ-साथ इस प्रेरणा की इतिश्री होना भी स्वाभाविक ही था। नीहाररंजन राय के विचार में मौर्य-कला कोमल वनस्पतियों को सुरक्षित रखनेवाले शीशा के कृत्रिम भवन (Hot-house plant) में उपजी और पनपी। साथ ही, मौर्य-साम्राज्य के अन्त के साथ कृत्रिम भवन ढह गये, भारतीय वातावरण में यह पौधा सूखकर नष्ट हो गया।[1] मौर्य-कला पर पर्सिया के प्रभाव के सबसे बड़े समर्थक थे—डा० स्पूनर। उन्होंने भारतीय इतिहास के जरथुस्त्र-काल (Zoroastrian Period) की स्थिति के पक्ष में जोरदार वकालत की।[2] मौर्यकालीन हॉल को वे बिलकुल पार्सिपोलिस के सौ स्तम्भोंवाला राजभवन की नकल पर बना बताते हैं। यहाँ तक कि स्तम्भों की दूरी भी पर्सिया के सिद्धान्त पर ही आधारित थी। महाभारत के मय दानव को वे ईरानियों के 'अहूर-मजद' मानते हैं और मौर्यवंश को भी वे ईरानी ही मानने पर विवश हो गये। डा० स्मिथ ने भी यह मान लिया कि स्पूनर साहब ने यह प्रमाणित कर दिया कि कुम्हरार का हॉल पर्सिया के हॉल की नकल पर बना था।[3] स्पूनर के इस विचार में अत्युक्ति बहुत है। डा० जायसवाल ने इस विचार को खंडित करने का प्रशंसनीय प्रयास किया है। पर मौर्यकाल पर विदेशी, विशेषकर यूनानी और ईरानी प्रभाव बहुत लोग मानते हैं।

मौर्यकालीन वास्तुकला और मूर्त्तिकला पर प्रत्यक्ष ईरानी और यूनानी प्रभाव का उचित मूल्यांकन होना चाहिए। ईरानी वास्तुकला और मूर्त्ति-कला में समानता के साथ उनकी विभिन्नता पर भी ध्यान देना आवश्यक है। मौर्यकाल के पूर्व भारतीय कला-सम्बन्धी परम्पराओं को भी नजर-अन्दाज नहीं करना चाहिए। ईरान के पाषाण-स्तम्भ स्वतन्त्र खड़े नहीं मिले हैं। उनका प्रयोजन है, मकानों की छतों का भार वहन करना। ईरानी स्तम्भ स्थापत्य के अभिन्न अंग हैं; पर अशोक की लाट बिलकुल स्वतन्त्र स्मारक रूप में पाई गई है। मौर्यकालीन कला की यह परम्परा ईरानी परम्परा से एकदम भिन्न है। दूसरा महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि मौर्यकालीन स्तम्भ, चाहे वे भवनों के अभिन्न भाग रहे हों या स्वतंन्त्र खड़े हों, एक ही पत्थर के बने हैं। किन्तु, ईरानी स्तम्भ तीन या अधिक पीपों के जोड़ से बने हैं। उनपर गाढ़ा-पीला रंग चढ़ाया गया है, जो अब तक ताजगी लिये है। कला की दृष्टि से भारतीय स्तम्भ अधिक दुष्कर और उत्कट आकांक्षा के उदाहरण हैं। स्तम्भ का घंटाकृति-शिरोभाग ईरानी आदर्श से बहुत मिलता- जुलता है, तथापि मौर्यकालीन स्तम्भों में केवल मस्तक पर बैठाने के कारण अन्तर स्पष्ट है। इस कलात्मक कृति में जो महदन्तर है, वह भुलाया नहीं जा सकता। हेवेल और कुमारस्वामी ने यह प्रमाणित कर दिया है कि मौर्यकालीन स्तम्भ-शिरोभाग में घंटी का चित्र नहीं है, वरन् उलटे कमल की मृदुल पंखुड़ियों का चित्रण है। ईरानी उदाहरणों की तुलना में भारतीय कमल पत्थर पर अधिक स्वाभाविक और कोमल उभरे हैं। कला की उन्नति का यह ज्वलन्त प्रमाण है। सम्राट् दरायुश् के सौ

---

१. *Maurya-Sunga Art.*

२. *J. R.A.S. : 1920, pp. 63 ff. ; pp. 405 ff.*

३. वही, पृ० ८०१

स्तम्भोंवाले हॉल के सभी स्तम्भों पर लम्बी-लम्बी लकीरें खुदी हैं, अर्थात् वे fluted हैं।[1] किन्तु, मौर्यकालीन स्तम्भ बिल्कुल सादे हैं। ईरान के स्तम्भ-शिरोभाग पर युगल पशुओं की या चार पशुओं की पीठ-सटी मूर्त्तियाँ बैठाई गई हैं। इन मूर्त्तियों में अश्व-मूर्त्तियाँ या विचित्र अमानवीय पशु (Griffin) प्रधान हैं।[2] भारतीय वृषभ का यहाँ नितान्त अभाव है। पर दो या चार मूर्त्तियों को साथ-साथ बैठाने का भारतीय तरीका ईरानी उदाहरणों से मिलता-जुलता है। मौर्य-स्तम्भ-शीर्ष के सिंह के अयाल और मुख ईरानी उदाहरणों से मिलते-जुलते हैं।[3] यह सत्य है कि ईरानी और यूनानी कला-परम्पराओं (जैसे—छोटे ताड़-वृक्ष, दानों ओर ऐंठी रस्सी) का भी मौर्यकालीन कलात्मक कृतियों में समावेश पाते हैं, फिर भी हमें यह न भूलना चाहिए कि मगध में ताड़-वृक्षों की बहुतायत है और नीचे से ऊपर तक गायदुमाकर स्तम्भ ताड़-वृक्ष के आदर्श पर ही बनाये गये हैं। यह भी सम्भव है कि वैदिक यूपों के आधार पर स्वतन्त्र स्तम्भ खड़े किये गये हों। फिर, उलटे कमल की पंखुड़ियों से जुटा लम्बा स्तम्भ सनाल कमल के अभिप्राय का बोध कराता है। भारतीय परम्पराओं में घट से निकलता हुआ सनाल कमल बराबर से चला आता है। इसलिए, अधिक सम्भव है कि अशोक के कलाकारों ने कमल-शीर्ष-युक्त स्तम्भ की कल्पना उपर्युक्त सर्वमान्य आदर्श के आधार पर की हो। स्तम्भ-शिरोभाग पर आरूढ़ पशुओं का प्राग्वैदिक महत्त्व भी रहा होगा। हेवेल साहब ने इसे भारतीय आदर्श और भावना का प्रतीक माना है। पीछे चलकर बौद्ध-धर्म ने इन संकेतों और लक्षणों को भी अपना लिया, जिस तरह यक्ष और यक्षिणी को बौद्धधर्म और कला में स्थान प्राप्त हो गया। एक बात और भी विचारणीय है। यदि अभ्यस्त और प्रशिक्षित ईरानी कलाकारों ने अशोक-स्तम्भों और आरूढ़ मूर्त्तियों की रचना की, तो फिर कुछ स्तम्भ और शीर्ष-मूर्त्तियों—जैसे भखरा के भद्दे स्तम्भ, रामपुरवा के साँड़ तथा उसके अनुपयुक्त आसन के असंतुलन का क्या अर्थ है? मौर्यकालीन कला के अध्ययन से यह अनुमान लगाना अत्यन्त सहज है कि उस समय कला का क्रमशः, किन्तु तीव्र विकास हुआ। यदि 'भखरा' का स्तम्भ सबसे पहले का है तो सारनाथ-शिरोभाग इस कला का पूर्ण विकसित रूप है। यदि विदेशी कलाकारों को ही मौर्य-कला-कृतियों का श्रेय दिया जाय, तो यह मानना पड़ेगा कि उन्हें भारतीय कला-परम्पराओं को, पत्थर पर उतारने में, एक-सी सफलता नहीं मिली। यह भी सम्भव है कि विदेशी कलाकारों ने कुछ आदर्श बनाये हों और भारतीय कलाकारों ने इनका अनुसरण किया हो। 'भखरा' की लाट प्रारम्भिक प्रयास है, तो लौरिया-नन्दनगढ़ का स्तम्भ भारतीय कलाकारों के उन्नत विकास का प्रतीक है। अशोक की राजकीय कलाकृतियों के निर्माता भले ही विदेशी कलाकार हों;

१. *Ruins of Iran, Rembromdt Studios, Bombay. See the photos of the "Resoration of the Palace of the Hundred Columns".*

२. *Ancient Persian Sculpture, Plate XXIII, XXIV,*

३. वही, *XXIII,*

४. वही।

पर मौर्यकालीन यक्ष और यक्षिणी की मूर्त्तियाँ तो भारतीय कलाकारों की ही कृतियाँ हैं। इन मूर्त्तियों से स्पष्ट है कि मौर्य-काल में भारतीय कलाकार पत्थर की मूर्त्तियों और भवनों का निर्माण करने में पटु हो गये थे। मौर्यकालीन स्थापत्य और मूर्त्तिकला के ऐसे उन्नत विकास से पता चलता है कि इसके पीछे वर्षों का इतिहास है। यहाँ प्रसिद्ध विद्वान जिम्मर साहब का विचार अप्रासंगिक नहीं होगा—

"अशोक के समय में अचानक आविभू त और तत्पश्चात् तीव्रगति से विकसित कृतियों की पूर्णता एवं अद्भुतता-प्राप्त सुसंस्कृत अवस्था से यह प्रत्यक्ष है कि सदियों पूर्व भारतीय धार्मिक कला की वेगवती धारा तीव्रगति से प्रवाहित हो रही थी। जिन शिल्पियों ने साँची के महान् स्तूप के अत्यन्त अलंकृत तोरणों, भरहुत के टूटे तथा अमरावती और बोधगया के मन्दिरों का निर्माण किया, उन्होंने अत्यन्त कुशलतापूर्वक नये धर्म की विशिष्ट आवश्यकताओं और दन्तकथाओं को, प्रधानतया अपनी परम्परागत कला की चेष्टाओं में, आत्मसात् कर पाषाण पर उतार लिया।"[१]

सम्भव है कि मूर्त्तिकार का प्रधान साधन काठ रहा हो और मौर्यकाल में कलाकारों ने प्राचीन परम्पराओं को पत्थर के साधन से मूर्त्तिमान् किया हो। कला की परम्पराओं में क्रान्ति नहीं हुई, बल्कि काठ की जगह पर पत्थर काम में लाया जाने लगा। मौर्यकाल के पहले यदि वास्तुकला और मूर्त्तिकला में पत्थर का व्यवहार होता भी था, तोभी बड़ा ही न्यून, सुदृढ़ और महत्त्वाकांक्षी कलाप्रेमी मौर्य-सम्राटों के संरक्षण में कला का तीव्र विकास युक्तिसंगत है। इसके पहले ऐतिहासिक युग में भारत इतना समृद्ध और सुशासित नहीं था। भारत तथा अन्य देशों के प्राचीन इतिहास से पता चलता है कि जब देश-विशेष में प्रतापी राजाओं का शान्तिमय, सुशासित और शक्तिशाली राज्य स्थापित हुआ, तब उस देश की कला भी अत्यन्त विकसित और मुखरित हुई। मिस्र में बारहवें एवं अट्ठारहवें राजवंशों का समय कला के लिए भी स्वर्णयुग है। अकमेनियन-राजवंश के समय ईरान में कला की अभूतपूर्व उन्नति आश्चर्यजनक नहीं है। मौर्यकाल में भी यदि भारतीय कला की अभूतपूर्व अभिव्यक्ति हुई तो यह स्वाभाविक ही है, विदेशी प्रेरणा आवश्यक नहीं है। मेरे कथन का तात्पर्य यह नहीं है कि भारतीय कला या मौर्य-कला पर विदेशी प्रभाव एकदम पड़ा ही नहीं। किसी भी गतिशील संस्कृति का अन्य समकालीन संस्कृतियों

१. "It is apparent however from the sophistication, the degree of perfection and the variety at the work that abruptly appears in the period of Asoka and then rapidly increases that, already in the earlier centuries the torrent of Indian religious art must have been flowing strong. The craftsmen, who brought the elaborately decorated gates of the great Stupa at Sanchi and the now shattered shrines of Bharhut, Bodh-Gaya and Amaravati in the main translated into stone and skillfully adopted to the special requirements and special legends of the new sect the ancient motifs of their traditional craft."

—*Zimmer; op. cit.; p. 65.*

के सम्पर्क में आना और उससे प्रभावित होना स्वाभाविक ही नहीं, वरन् उपयोगी भी है। समकालीन संसार से आँखें मूँदकर और पीठ मोड़कर चलनेवाली किसी भी संस्कृति की गति रुद्ध हो जायगी, वह जीवित ही नहीं रह सकेगी। प्राचीन प्रागैतिहासिक काल से ही भारतीय संस्कृति का समकालीन संस्कृतियों से सम्बन्ध रहा है और पारस्परिक आदान-प्रादान होता रहा है। सिन्धु-घाटी की प्राचीन सभ्यता का मेसोपोटेमिया की सभ्यता से प्रत्यक्ष सम्बन्ध था, यह सर्वमान्य है।

इस पृष्ठभूमि में भारतीय कला-परम्पराओं के साथ विदेशी गुण का संयोग स्वाभाविक है। मौर्यकाल की कला-कृतियों में हम कुछ ऐसे गुण पाते हैं, जो ईरान और यूनान की कला के विशिष्ट गुण माने जाते हैं। किन्तु, मौर्य-काल में ही ये सभी विदेशी तत्त्व घुस आये और मान्यता दे दी गई, ऐसा विचार युक्तिसंगत नहीं मालूम पड़ता। पहले कहा जा चुका है कि मौर्य-काल के अतिपूर्व से ही भारत पश्चिमी एशिया के सभ्य जगत् का एक प्रमुख अंग था। इसलिए, कला के जिन तत्त्वों को ईरानी या यूनानी प्रभाव बतलाया गया है, वे शायद इस जगत् की ही संगृहीत निधि हों, जिन्हें भारत और ईरान दोनों ने एक अन्य स्रोत से, आत्मसात् किया हो।

इस प्रसंग में यह नहीं भूलना है कि प्राचीन मेसोपोटेमिया से हरप्पा-संस्कृति का सम्बन्ध था और मेसोपोटेमिया की धार्मिक कला का प्रभाव हरप्पा की धार्मिक कला पर पड़ा था। उदाहरण-स्वरूप एक देव का दो अप्राकृतिक व्याघ्र से युद्ध। मिट्टी के ठिकरे पर लिलिथ (Lilith) देवी की उत्कीर्ण मूर्त्ति में देवी नंगी खड़ी है, उसके पैरों की घुट्ठी और अंगुलियाँ पक्षियों-जैसी हैं। कन्धों से दोनों ओर पंख लटक रहे हैं। देवी बैठे हुए सिंह पर खड़ी है और दोनों ओर उल्लू-जैसे सिरवाले दो पक्षी खड़े हैं।[1] बसाढ़ में पाई गई पंखयुक्त स्त्री-मूर्त्ति पर यूनानी और रोमन प्रभाव नहीं है; बल्कि सुमेरी प्रभाव मानना अधिक उपयुक्त होगा। प्राचीन सुमेरी मन्दिरों के द्वार पर द्वारपाल के रूप में काँसे या मिट्टी की बनी सिंह-मूर्त्ति प्रतिष्ठित की जाती है। एक चतुर्भुजाकार चौखटे (Abacus) पर बैठे हुए सिंह और उसके अयाल का चित्रण अशोक-स्तम्भ के सिंह-शिरोभाग से भिन्न नहीं है। यह सिंह मिट्टी का बना हुआ है।[2] इसका समय २००० ई०-पू० है। इसी प्रकार मेसोपोटेमिया में बहुत पहले ही प्रेमालिंगन में जुटे एक जोड़े साँप के दृश्य का धार्मिक महत्त्व माना गया था। 'राजा गुडा' के समय का ऐसा एक चित्र मिला है।[3] मोहनजोदड़ो[4] और तत्पश्चात् भी धार्मिक, कला का अंग सर्प रहा है। पंखयुक्त पक्षी-दानव भी सुमेर की धार्मिक कला में चित्रित हुआ जो भारतीय गरुड़ की कल्पना और आकृति से एकदम भिन्न नहीं है। सर्प और गरुड़ का चित्रण यूनान धार्मिक कला में भी हुआ है। जिम्मर साहब के विचार में—"मेसोपोटेमिया का सुमेरी नगर ही शायद इस नियम का क्रीड़ास्थल रहा हो, जहाँ से यह भाव एक ओर पश्चिम

---

१. चित्र-संख्या—३३

२. चित्र-संख्या—३४

३ *Zimmer, op. cit, Figure 11.*
चित्र-संख्या—३५

४. चित्र-संख्या—३६

यूनान तथा आधुनिक यूरोप में पहुँचा, वहाँ दूसरी ओर पूर्व में भारत एवं कुछ समय बाद दूर स्थित इंडोनेशिया में पहुँचा।" [१]

प्राचीन सुमेर के 'इरनुन्ना' नामक नगर-राज्य के पूर्वराज्यवंश-काल (Early dynastic period) की एक बेलन के आकार की मुहर पर हाथियों और गैंड़े का झुण्ड उत्कीर्ण है, जो अशोक के समय की लोमश-ऋषि गुहा (बराबर, गया) के प्रवेश-द्वार पर उत्कीर्ण हाथियों की याद दिलाता है। असीरिया की कला सुमेर और बेबीलोनिया की कला पर ही विकसित हुई। सिंह के सिरवाले गरुड़ (Griffin) असीरिया की धार्मिक कला की प्रमुख चेष्टा है। असीरिया की कला में अत्यन्त विशाल और ओजस्वी साँड़ और सिंहों की मूर्त्तियाँ प्रभावोत्पादक हैं। अशोककालीन मूर्त्तियों में ऐसे शरीर और भाव का समावेश है। असीरियन सिंह-मूर्त्ति में सिंह के अयाल का विधिवत् या रूढ़ चित्रण अशोक-कालीन सिंह-मूर्त्तियों के अयाल से बहुत भिन्न नहीं है।[२] ईरानी कला में ऐसे उदाहरण मिले हैं, जिनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि असीरिया की कला का ईरान में अत्यन्त आदर हुआ था। मालूम पड़ता है कि जब असीरिया का पतन हुआ, तब उसके शिल्पी ईरान तथा अन्य सांस्कृतिक केन्द्रों में चले गये, और आज जो ईरानी कही जानेवाली कला-कृतियाँ हैं, उनमें कुछ तो वास्तव में असीरिया या मेसोपोटेमिया की परम्पराओं की प्रतिनिधि हैं। बहुत सम्भव है कि मौर्य-काल की पाषाण-कला-कृतियों में जो विदेशी तत्त्व मिलते हैं, वे बहुत पहले ही भारतीय कला के क्षेत्र में प्रवेश पा चुके थे; क्योंकि उस समय की कला-कृतियाँ प्रधानतः लकड़ी की थीं, जो नष्ट हो गई हैं। मौर्यकाल में भी जो विदेशी तत्त्व के चिह्न मिलते हैं, उनका रूप और अभिप्राय बहुत-कुछ मूल आदर्शों से बदला हुआ है। इससे इस विचार की पुष्टि होती है कि भारतीय कला-परम्पराओं में इनका समावेश पहले ही हो चुका था और इस समय इन्हें भारतीयता का जामा पहनाया जा रहा था। भारतीय कला की परम्परा रही है कि विदेशी तत्त्वों का शीघ्रातिशीघ्र भारतीयकरण कर लिया जाय। मौर्य-काल के पहले भी यह प्रवृत्ति अवश्य काम करती होगी। मौर्य-सम्राट् अशोक ने अपने धर्म-प्रचार और आदर्श को स्थायी रूप देने के लिए ठोस पत्थर का व्यवहार किया। पत्थर का व्यवहार, अत्यन्त सीमित पैमाने पर ही सही, पहले भी हो रहा था। मौर्यसम्राट् अशोक ने उसके अब व्यापक व्यवहार का निश्चय किया। शक्ति और सामर्थ्य की कमी नहीं थी। चुनार की पहाड़ियों को काटकर, बलुआ पत्थर की विशाल चट्टानों को पाटलिपुत्र लाया गया और राज्य के प्रत्यक्ष संरक्षण में स्तम्भ और शिरोभाग बनाये गये, जिन्हें दूर-दूर तक भेजकर अनेक स्थानों पर खड़ा किया गया। अशोक ने इन कामों के लिए पर्याप्त यातायात और यंत्र-विद्या (Engineering skill) के विकास की भी पूरी चेष्टा की होगी। पड़ोसी पर्सिया में पत्थर के व्यापक व्यवहार और उन्नत शिल्प-कला

---

१. "Mesopotemian Sumer may well have been the cradle, out of which the formula made its way, on the one hand westward to Greece, and modern Europe, on the other hand eastward into ancient India and then somewhat later into a remoter Indonesia".

—*Zimmer*

२. चित्र-संख्या—३७

ने भी अशोक के इस क्रान्तिकारी निश्चय को बल दिया होगा। ईरानी प्रभाव मौर्य-कला पर था, यह तथ्य कोई तर्कहीन नहीं कहा जा सकता। यूनानी कला-परम्परा किस सीमा तक विशुद्ध यूनानी है और किस सीमा तक उसपर ईरानी और असीरिया का प्रभाव है, यह भी ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता। मौर्य-कला को जो यूनानी तत्त्व मिले हैं, वे वास्तव में ईरानी या असीरिया के हो सकते हैं। ये तत्त्व मौर्य-काल के पहले ही भारतीय कला-परम्परा के अंग बन चुके हों, तो आश्चर्य नहीं। किसी देश की कला-परम्पराएँ दूसरे तथा दूर के देश में सर्वदा प्रत्यक्ष सम्पर्क से ही नहीं पहुँचती हैं, बल्कि अप्रत्यक्ष रूप से बीच के देशों द्वारा भी प्रवेश कर जाती हैं। चीन में पत्थर की बनी प्राचीन सिंह-मूर्त्तियाँ मिली हैं, जिनके अयाल और मुख स्वाभाविक नहीं हैं और जिनपर डैने हैं। विद्वानों के विचार में यह मूर्त्ति दूर-स्थित हीटाइट् (अरमीनिया)-कला-परम्परा का चीन में प्रवेश प्रमाणित करती है।[१] असीरिया और बेबिलोनिया की कला-परम्पराएँ भी चीन में बहुत समय बाद पहुँचीं। इस बीच पर्सिया के कलाकारों ने असीरिया की स्वाभाविक सिंह-मूर्त्तियों को पंख लगाकर कृत्रिम बना दिया था। इसी असीरिया-पर्सिया की मिली-जुली परम्परा ने प्राचीन चीनी शिल्प-कला को प्रभावित किया था।[२] अतः ईरान का पड़ोसी भारत निश्चय ही ईरानी कला-परम्परा से अवगत था; पर असीरिया और सुमेर की पूर्व-कला-परम्पराओं से भी उसका परिचय अवश्य था। अतः पश्चिमी एशियाई संस्कृतियों का प्रभाव भारतीय कला पर मौर्यकाल के बहुत पहले ही पड़ चुका था।

मिट्टी की मूर्त्तियाँ

बिहार में मौर्यकला का अध्ययन मिट्टी की मूर्त्तियों के बिना अपूर्ण रह जायगा। बुलन्दीबाग, कुम्हरार (पटना), बसाढ़ (वैशाली) और बक्सर में मौर्यकालीन मिट्टी की बनी मूर्त्तियाँ मिली हैं। इनमें अधिकांश शायद खिलौने हैं। कुछ का धार्मिक महत्त्व भी रहा होगा। मौर्यकालीन मिट्टी की इन मूर्त्तियों से उस समय की वेश-भूषा की ही नहीं, वरन् विशिष्ट कला का भी परिचय मिलता है। ये हाथ की गढ़ी मूर्त्तियाँ अत्यन्त ही सुन्दर हैं। बाँह, नाक और सर की पगड़ी या हैट-सी कोई चीज अलग से धड़ में चिपकाई गई है। यद्यपि सभी अंग अलग-अलग बनाये गये हैं, तथापि स्वाभाविक और सुडौल हैं। सबसे अधिक कौशल पगड़ी और लहरदार लहँगा बनाने में दर्शाया गया है। कुछ लोग बक्सर की ऐसी मूर्त्तियों को मौर्यकाल के पहले की मानते हैं; पर यह विचार सर्वमान्य नहीं है। मैं भी बक्सर में मिली मूर्त्तियों को मौर्यकाल की ही मानता हूँ। पटना-संग्रहालय की स्त्री-मूर्त्ति (६३००-*B*. बक्सर) एक झालरदार घाँघरा पहने बैठी है, जो भीतर से तार के ढाँचे पर आधारित है। यह घाँघरा यूरोपीय फैशनेबुल स्त्रियों के लहराते गाउन की याद दिलाता है।[3] बक्सर की ही दूसरी स्त्री-मूर्त्ति अपनी कुछ अलग विशेषताओं के लिए उल्लेखनीय है। इसकी आँखें बेडौल खुदी हैं और चेहरे पर टेढ़ी-मेढ़ी लाइनें हैं

१. *Studies in Chineese Art and Some Indian Influences*, pp. 16-17.
२. वही, पृ०—१६
३. चित्र-संख्या—३८

इसकी बाँह और पैर चतुर्भुजाकार आकृतिवाले धड़ में अलग से चिपकाये गये हैं। किन्तु, सामने और पीछे से मूर्त्ति वर्तुलाकार बनाई गई है, जिससे अत्यन्त स्वाभाविकता प्रकट होती है।[१] बुलन्दीबाग में एक खड़ी नारी-मूर्त्ति मिली है, जिसका कद लम्बा है और कलाकार इस मूर्त्ति में गति ला सका है। दाहिनी बाँह ऊपर उठी है और डमरू-सी कोई चीज लिये हुई है तथा बायाँ हाथ वक्ष के सामने उठा है। स्त्री का लहँगा अत्यन्त ही महीन है, जो कटि-प्रदेश से नीचे चिपका-सा है तथा दाईं ओर लहरा रहा है। चेहरा छोटा और भोला है। मस्तक ऊँचा है। गले में सोने का कंठा है। केश-विन्यास सादा, पर विशिष्ट है। लहँगे के छोर सामने गाँठ में बँधे हैं।[२] यहीं की एक अन्य स्त्री-मूर्त्ति के सर का विचित्र टोप और झालरदार घाँघरा, दोनों बगल की ओर तार के ढाँचे पर लहराता हुआ, देखने लायक है। मूर्त्ति की कमर अत्यन्त क्षीण ही नहीं, वरन् कसकर बाँधी गई है।[३] नारी-सौन्दर्य के मान्य आदर्शों को मिट्टी की मूर्त्तियों में पूर्णतया अभिव्यक्त किया गया है। बुलन्दीबाग में मिट्टी का बना एक हँसते बालक का सिर मिला है। बालक का दो कोनेवाला मुरेठा अत्यन्त आकर्षक ढंग से बनाया गया है। उसकी भोली हँसी अत्यन्त ही मधुर प्रतीत होती है।[४]

मौर्यकला का अन्त

मौर्य-कला का सर्वाङ्गपूर्ण विकास मौर्य-राजवंश के अन्त के साथ ही समाप्त हो गया। मौर्य-काल की तृतीय आयाम की मूर्त्तियाँ शुंग-काल में नहीं मिलतीं। मौर्यकालीन स्तम्भों और मूर्त्तियों पर की आईने-सी 'चमक' बाद में नहीं दिखाई देती। इन कला-परम्पराओं का इस प्रकार लुप्त हो जाना, अत्यन्त ही आश्चर्यजनक घटना है। मौर्य-साम्राज्य के अन्त के साथ-ही-साथ भारत में अत्यन्त राजनीतिक अव्यवस्था फैल गई थी। कलिंग स्वतन्त्र हो गया, उत्तर-पश्चिम भारत में भी स्वतंत्र राज्य स्थापित हो गये तथा उत्तर-पश्चिम भारत पर बैक्ट्रिया के यवनों के आक्रमण होने लगे। यहाँ तक कि पाटलिपुत्र तक यूनानी सेना पहुँच गई थी। इस अशान्त और अनिश्चित वातावरण में यदि कला की भी हानि हुई तो आश्चर्य की बात नहीं है। पर, मौर्य-काल में पत्थर का व्यापक व्यवहार जो आरम्भ हुआ था, वह जारी रहा।

भारतीय इतिहास में मौर्य-युग कई दृष्टिकोणों से निराला और गौरवपूर्ण है। मौर्य-युग की राजनीतिक श्रेष्ठता भारत फिर नहीं प्राप्त कर सका, मौर्यकला-जैसी कला का भी पुनरुदय नहीं हुआ। यह पहले ही कहा गया है कि भारतीय कला का भी भारतीय राजनीतिक इतिहास की तरह क्रमिक उतार-चढ़ाव होता रहा है। ऐसी अवस्था में और अवधि में कुछ कला-परम्पराओं का लुप्त हो जाना और कुछ नई कला-परम्पराओं का

---

१. चित्र-संख्या—३६ (पटना-संग्रहालय—६३०१)
२. चित्र-संख्या—४० (पटना-संग्रहालय—८५१०)
३. चित्र-संख्या—४१ (पटना-संग्रहालय—४१७७)
४. चित्र-संख्या—४२

उदय होना स्वाभाविक ही है। जिस तरह भारत में दूसरा 'कौटिल्य' पैदा नहीं हुआ, उसी तरह भारतीय कला में मौर्यकालीन पत्थरों पर की चमक फिर दिखाई नहीं पड़ी। इन तथ्यों की व्याख्या सम्भव नहीं है। शुंग-काल में मौर्य-कला के कुछ विशिष्ट गुणों के अभाव का कारण अभी स्पष्ट नहीं है। बहुत सम्भव है कि मौर्य-सम्राटों ने जिस प्रकार कला को प्रत्यक्ष संरक्षण दिया, आनेवाले राजाओं ने नहीं दिया हो।

चतुर्थ अध्याय

शुंग-कला

मौर्य-वंश के अन्तिम सम्राट् बृहद्रथ को मारकर सेनापति पुष्यमित्र ने शुंग-राजवंश की स्थापना (१८७ ई०-पू० के लगभग) की। शुंग-साम्राज्य पश्चिम में अयोध्या तक और दक्षिण में भिलसा (प्राचीन विदशा) तथा पूर्वी मालवा तक फैला था। ११२ वर्ष के बाद मगध में कण्व-राजवंश का राज्य स्थापित हुआ; पर ३० ई०-पू० के लगभग आन्ध्र-सातवाहन राजा 'सीमूक' ने इस राजवंश का अन्त कर दिया। मगध-राज्य का इतिहास इसके बाद अंधकार में है। इसी समय कलिंग के राजा 'खारवेल' का आक्रमण हुआ था। शुंग-राजत्वकाल में ही यवनों ने दो बार गंगा-प्रदेश पर धावा किया था, और पाटलिपुत्र भी आक्रान्त हुआ था। कुम्हरार की हाल की खुदाई में शुंग-स्तर से ही मौर्य-स्तम्भों के टुकड़े मिलने लगते हैं। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि यवनों ने पाटलिपुत्र के कुछ प्राचीन स्मारकों को भी ध्वंस किया होगा। शुंग-काल की कला के उत्कृष्ट नमूने बिहार से बाहर साँची और भरहुत-स्तूप और उनकी रेलिंग हैं। भरहुत की रेलिंग पर जातकों की कहानियाँ चित्रपट-सी उभरी हैं और ये भारतीय शिल्प-कला के सजीव उदाहरण हैं। इन कहानियों के शीर्षक भी जन-साधारण की पहचान के लिए दे दिये गये हैं। इससे यह अनुमान होता है कि उस समय तक जातक की कहानियाँ बहुत ही सार्वजनिक रूप से प्रचलित नहीं थीं। शिल्पकला के तृतीय आयाम की मूर्त्तियों के उदाहरण नहीं ही मिलते हैं। पत्थरों पर उभरी शिल्पकला (Relie Sculptures) ही प्रचलित थी। अनेक विद्वानों के मतानुसार कुषाण-सम्राट् कनिष्क का राज्य मगध तक विस्तृत था। कुषाण-साम्राज्य का पतन द्वितीय सदी के अन्त में हो चुका था। इसके बाद मगध में किस राजवंश का अधिकार रहा, पता नहीं। 'डा० स्मिथ' का अनुमान है कि लिच्छवियों ने ही मगध पर अधिकार कर लिया; पर अन्त में उन्हें चन्द्रगुप्त प्रथम के सामने झुकना पड़ा। यह भी सम्भव है कि चन्द्रगुप्त प्रथम के पितामह श्रीगुप्त और पिता घटोत्कच ने मगध पर शासन किया हो। इस प्रकार पहली सदी ई०-पू० से लेकर गुप्त-साम्राज्य की स्थापना (३१६ ई०) तक मगध का राजनीतिक इतिहास अस्पष्ट है, धुँधला है। सम्भव है कि भविष्य में अनुसन्धान से नया रहस्योद्घाटन हो। यह स्वाभाविक है कि जब मगध का राजनीतिक प्रभाव न्यून था, तब उस समय की कला की प्रगति मंद ही रही होगी। अनेक राजनीतिक उथल-पुथल और आक्रमणों से भी कलात्मक कृतियों का अहित ही हुआ होगा। इसलिए, इस समय के अवशेष बहुत कम संख्या में पाये गये हैं।

शुंग-युग में, बिहार के प्रमुख स्मारकों में, बोधगया-मंदिर की रेलिंग और उसपर उत्कीर्ण शिल्पकला के नमूने प्रमुख हैं। बलुआ पत्थर के बने घेरे पर उत्कीर्ण अभिलेखों से पता चलता है कि आर्या कुरंगी (राजा इन्द्राग्निमित्र की स्त्री) और 'नागदेवा' (राजा ब्रह्ममित्र की रानी) ने घेरे के निर्माण में योगदान दिया था। इन्द्राग्निमित्र और ब्रह्ममित्र का समय ईसा से पहली सदी-पूर्व माना गया है। अभिलेखों की लिपि की शैली भी इसी समय की मालूम होती है। रेलिंग पर उभरे जातक-दृश्यों की तुलना भरहुत और साँची की रेलिंगों पर उभरे जातक-दृश्यों से की गई है। विद्वानों का निर्णय है कि बोधगया-मंदिर की रेलिंग पर उत्कीर्ण दृश्य भरहुत के बाद के हैं; पर साँची से पहले के हैं। इसलिए, बोधगया की रेलिंग के अधिकतर भाग प्रथम सदी के पूर्वार्द्ध में बनाये गये होंगे। रेलिंग की रचना भरहुत और साँची की रेलिंगों के समान ही थी। खड़े स्तम्भों में तीन समानान्तर शूचियाँ पसाई गई थीं और इनपर पूर्ण कमल या अर्द्धकमल के रूढ़ात्मक चित्र उत्कीर्ण किये गये थे। स्तम्भों के ऊपर उष्णीष थे। इनपर या स्तम्भों पर जातक-दृश्य या यक्ष-यक्षिणियों की मूर्त्तियाँ उत्कीर्ण की गई थीं।[१] अभिलेखों से यह भी पता चलता है कि 'आर्या कुरंगी' ने बौद्ध भिक्षुओं और भिक्षुणियों के लिए विहार भी बनवाये। फाहियान ने इन विहारों को देखा था। ईंटों के बने ये विहार अत्यन्त आरामदेह थे। बोधगया-मंदिर के समीप के टीलों के नीचे ही इन विहारों के अवशेष पाये जा सकते हैं। उन टीलों की थोड़ी खुदाई से ही यह अनुमान सिद्ध-सा हो गया है।

कनिंघम के विचार में वर्त्तमान बोधगया-मंदिर और उसका शिखर कुषाण-काल का है। वज्रासन के समीप ही कुषाण-सम्राट् हुविष्क का एक सिक्का मिला था।[२] फाहियान ने यह भी लिखा है कि उसके समय में बुद्ध के जन्मस्थान, बोधिवृक्ष, मृगवन, सारनाथ और कुशीनगर में मंदिर खड़े थे। पर, इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि आधुनिक शिखर-युक्त मंदिर ही खड़ा था; क्योंकि तब इतने सुन्दर और ऊँचे शिखरवाले मंदिर का उल्लेख फाहियान विशेष रूप से करता और उनकी आकृति का वर्णन भी करता, जैसा कि ह्वेनसांग ने किया है। इस सम्बन्ध में 'कुम्हरार' की खुदाई में प्राप्त, मिट्टी के चौखटे पर बोधगया-मंदिर का, चित्र उल्लेखनीय है।[३] यह स्मृति-चिह्न कुम्हरार में सतह से डेढ़ फीट नीचे मिला और इसी के साढ़े चार फीट नीचे कुषाण-काल के ताँबे के सिक्के मिले। 'स्पूनर' के मत से यह स्मृति-चिह्न दूसरी या तीसरी सदी का है। इसके एक तरफ चौमहले शिखरवाला मंदिर है और प्रधान गर्भ-गृह के ऊपर मूर्त्तियाँ बैठाने के ताखे बने हैं। मंदिर के सबसे ऊँचे भाग पर हर्म्मिका-युक्त स्तूपों के चित्र बने हैं। गर्भगृह के सामने मेहराबदार द्वार हैं[४] और मंदिर में आसन पर बैठे बुद्ध की मूर्त्ति है। प्रधान मंदिर और प्रभा-

---

१. चित्र-संख्या—४३

२. *Mahabodhi; p. VII*

३. चित्र-संख्या—४४

४. *J. B. O. R. S. I; p. II, ft.*

मंडल-युक्त तीन बोधिसत्त्व रेलिंग से चार ओर से घिरे हैं। इसके बाद ऊँची दीवार और विशाल द्वार हैं। फूचे ने यह विचार प्रकट किया था कि प्रमुख बौद्ध-तीर्थ-स्थानों में भगवान् बुद्ध की प्रमुख घटनाओं के स्मृति-चिह्न यात्रियों को मिलते थे।[1] इसी तरह का स्मृति-चिह्न (बोधगया-मंदिर का चित्र) पाटलिपुत्र लाया गया होगा। किन्तु, बोधगया के मंदिर और कुम्हरार में मिले स्मृति-पदक दोनों में मौलिक अन्तर भी है। बोधगया-मंदिर के शिखर पर स्तूप और हर्म्मिकाएँ नहीं हैं और ह्वेनसांग ने भी इसका उल्लेख नहीं किया है। अशोक के बनाये चैत्य और ह्वेनसांग द्वारा वर्णित शिखर-युक्त मंदिर के बीच कोई दूसरा मंदिर भी यहाँ बनाया गया था, इसका उल्लेख नहीं मिलता। डा० स्मिथ ने कुम्हरार में मिले मंदिर के चित्र की तुलना बिहारशरीफ के समीप एकंगरसराय–तेलाढ़ा के प्राचीन तिलाधक-मंदिर (ह्वेनसांग द्वारा वर्णित) से तुलना की है, पर इसमें भी अन्तर दीख पड़ता है।[2] बरुआ ने इसे जाली करार कर दिया है।[3] यदि वह जाली नहीं भी है, तोभी बोधगया के आधुनिक मन्दिर का चित्र तो नहीं ही है। कुषाण-काल में ही यह शिखर-युक्त मंदिर बना, इसका कोई प्रमाण प्राप्त नहीं है। इस समय तक बोधिवृक्ष के समीप वज्रासन पर साधारण चैत्य-मंदिर ही बना था और इसकी रेलिंग ही अधिक प्रमुख थी। बोधगया-मंदिर की रेलिंग के उष्णीष का बाहरी भाग कमल-पुष्प से अलंकृत है। पर अन्दर से देखे जानेवाले भाग पर विचित्र प्रकार के लाक्षणिक दृश्य उत्कीर्ण हैं। पहले बताया जा चुका है कि सातवीं सदी में या उसके पहले ही बोधगया का शिखर-युक्त मंदिर बन चुका था, और पुरानी रेलिंग को बढ़ाया गया था। ठोस पत्थरों (Granite-stone) का घेरा बनाया गया था, जिसमें पुरानी रेलिंग के बलुआ-पत्थर के स्तम्भ और शूची भी मिला लिये गये थे।

इसी प्रसंग में चम्पारन-स्थित लौरिया-नन्दनगढ़ के स्तूपों के अवशेषों का परिचय देना उपयुक्त है। लौरिया-नन्दनगढ़ बेतिया से १६ मील उत्तर-पश्चिम है। यहाँ ही अशोक द्वारा स्थापित सिंह-शिरा-युक्त पाषाण-स्तम्भ प्रायः पूर्ण सुरक्षित स्थिति में खड़ा है। मौर्यकाल में लौरिया-नन्दनगढ़ एक प्रमुख स्थल रहा होगा, यह प्रकट है। इसी क्षेत्र में अनेक प्राचीन अवशेषों के टीले मिले हैं। ब्लॉक साहब ने कुछ टीलों की खुदाई आरम्भ की थी, जो उनके विचार में वैदिककालीन श्मशान-भूमि के टीले हैं। इनका समय मौर्यकाल के पहले का है। सन् १६३० ई० के बाद फिर खुदाई हुई। यद्यपि मौर्यकाल या उसके पूर्व के कुछ प्रमाणित विशिष्ट चिह्न नहीं मिले; तथापि यह तो स्पष्ट हो गया कि ये स्तूपों के अवशेष हैं और इनका समय प्रथम सदी के पूर्व तो अवश्य ही है। इन्हें हम शुंग-काल के बाद तो नहीं ही रख सकते। लौरिया-नन्दनगढ़ के एक स्तूप (पक्की ईंटों का बना) का वृत्ताकार आधार (base) का व्यास (diameter) १०७ फीट है और स्तूप का यह ठोस हिस्सा, एक ही केन्द्र पर खड़ा किया गया और ईंटों के बने दो वर्तुलाकार (Cylendrical) घेरों का बना है। इसके चारों ओर संभवतः प्रदक्षिणा-पथ था। दोनों घेरों के बीच ४′-३″ चौड़ी जमीन है,

---

१. *Beginnings of Buddhist Art; pp. 11—12.*

२. *J. B. O. R. S. II; pp. 375 ft.*

३. *Gaya & Buddha-Gaya, Vol. II; pp. 46—47*

यह शायद दूसरा प्रदक्षिणा-पथ रहा हो; पर इसपर पहुँचनेवाली सीढ़ियों के अवशेष नहीं मिले हैं। ईंटों का बना यह भाग ६ फीट ऊँचा है और उसके ऊपर ठोस मिट्टी का चबूतरा है। स्तूप का हृद्भाग भी मिट्टी के लोंदे का बना है। स्तूप १६ फीट से कुछ ऊँचा है। सतह से १४॥ फीट नीचे खोदने के बाद लकड़ी के कोयले और राख की एक फीट मोटी तह मिली है, जिसमें मनुष्य की जली हड्डियाँ भी मिश्रित हैं। मिट्टी के बर्तन, जिनमें दाहक्रिया के बाद के अवशेष रखे गये थे, टुकड़े भी मिले हैं। इससे यह स्पष्ट है कि यह अत्यन्त साधारण आडम्बरहीन स्मारक था। स्तूप के शिखर की खुदाई भी हुई, और साढ़े आठ फीट नीचे ईंट और चूने (Bricks and Contcre) का गोलाकार ढेर मिला। इसका व्यास ३ फीट है और नीचे की ओर कम होता गया है। इसी में पवित्र अवशेष सुरक्षित रखे गये होंगे। बिहार में प्राचीनतम स्तूपों का यह एक उदाहरण है और इसका समय मौर्य या प्राङ्मौर्य रहा होगा।

इसी स्तूप के खँडहर के पश्चिम एक दूसरे विशाल स्तूप का खँडहर है, जो सतह से २२ फीट ऊँचा है। ३ फीट ऊँची मिट्टी का ढेर था, जिसे २'-८" ऊँची ईंटों की बनी गोल दीवार से घेरा गया था। इस घेरे का व्यास १७० फीट है। इस मिट्टी के ढेर पर मिट्टी २० फीट की ऊँचाई तक डाली गई। स्तूप का ऊपरी हिस्सा कोणाकार है जबकि पहले स्तूप का ऊपरी हिस्सा कछुए की पीठ-जैसा है। स्तूप की चोटी पर खुदाई की गई तो ६ फीट नीचे यहाँ भी पहले की ही तरह ईंटों के रोड़ों का गोलाकार ढेर मिला, जिसमें अनेक हड्डियाँ मिलीं। २० फीट नीचे सूअर का जबड़ा मिला। कहीं भी मनुष्य की हड्डियों का चिह्न नहीं मिला। क्या यह स्तूप मृत पशुओं के अवशेष पर खड़ा किया गया था? कुछ और अधिक विस्तृत खुदाई से ही इस समस्या पर प्रकाश पड़ सकता है।

अशोक के प्रसिद्ध पाषाण-स्तम्भ के करीब आधा मील दक्षिण एक प्राचीन स्तूप का खँडहर है। इसकी चोटी पर खुदाई आरम्भ की गई और ६-१२ फीट गहराई में गड्ढे से मनुष्य की कुछ हड्डियों के अवशेष और एक स्वर्णपत्र मिला जिसपर एक स्त्री-मूर्त्ति रूक्ष ढंग से अंकित है। इसी गड्ढे में एक लट्ठ का निचला, भाग खड़ा पाया गया है। ब्लॉक साहब ने यह विचार व्यक्त किया कि वेदों में जिस प्रकार की समाधियाँ या श्मशानों का जिक्र है, यह स्तूप भी उसी प्रकार का है। इसका समय मौर्यकाल या उससे कुछ पहले का रहा होगा। इसी गड्ढे के २४ फीट नीचे फिर खुदाई की गई, और ईंटों की बनी गोल दीवार का पता चला। इस दीवार का व्यास २४० फीट है और यह भीतर की ओर जरा झुकी है तथा कड़ी मिट्टी के ऊँचे ढेर को चाँपे हुए है। दीवार ८ फीट ऊँची है और मिट्टी से इस दीवाल को पूरी तरह ढक दिया गया था। मिट्टी के विशाल ढेर को यह दीवार सँभाले हुई थी। तह-पर-तह मिट्टी के लोंदे डालकर यह टीला ३४ फीट ऊँचा बनाया गया था। पुश्ते की दीवार एक ईंट मोटी है और इसके सामानान्तर ६ फीट चौड़ा चबूतरा है। इस चबूतरे से सटे हुए ६ फीट और नीचे एक दूसरा चबूतरा है जो १३ 'फीट चौड़ा है। इन चबूतरों की ईंट की ऊँचाई ३" है, पर लम्बाई-चौड़ाई में ये एक तरह की नहीं हैं। लम्बाई में ६" फर्क का है और

चौड़ाई में ७" का। कुछ ईंटें तो समचतुर्भुजाकार है, कुछ तिनकोनिया हैं। ईंटें खूब अच्छी तरह पकी भी नहीं हैं। इस स्तूप की खूबी है—चबूतरों की स्थिति। इसी कारण इसे बंगाल के पहाड़पुर और जावा के बोरोबदर स्तूप (दोनों सदियों बाद की हैं) की अग्रिम शैली के उदाहरण का पूर्वाभास माना जा सकता है।

लौरिया से आधा मील दक्षिण नन्दनगढ़ का भग्नावशेष है। यहाँ एक विशाल टीला है जो सतह से ८२ फीट ऊँचा है और इसके पास ही अनेक छोटे-छोटे टीले हैं। ऊपर से खुदाई शुरू हुई और सतह से करीब साढ़े चार फीट नीचे करीब ३'-५" ऊँची और ईंटों की बनी गोलाकार दीवार का पता चला। इस गोल दीवार का व्यास २०८ फीट है। यह सम्भव है कि यह पूरा गोल न होकर एक ओर अर्द्धवृत्ताकार हो, जैसे बौद्ध-चैत्य बनने लगे थे। इस अर्द्धवृत्त के सामने दूसरी ओर प्रवेश-द्वार हो। इस विशाल दीवार से घिरे क्षेत्र के मध्य में मिट्टी का अंबार लगा था, जिसमें ईंटें बिरले ही पाई गईं। दीवार से सटे अन्दर अनेक प्रकार की प्राचीन चीजें मिलीं, जिनमें मिट्टी की बनी मूर्त्तियाँ, तथा मनके और ताँबें के कुछ सिक्के भी मिले। कुषाण-सम्राट् हुविष्क का एक सिक्का भी मिला। इन सब सामग्रियों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यह स्मारक ईसा से पूर्व दूसरी-पहली सदी का है। टीले के निचले भाग की खुदाई से यह पता चला कि ईंटों के बने कई महल चबूतरे बहुभुजी दीवारों के आधार पर बने थे। पूरा भवन तारा (star) के आकार का था, और इसके अनेक कोण थे। मुख्यतः ४ भुजाएँ थीं और प्रत्येक १०४ फीट लम्बी थी। दो भुजाओं के बीच २०६ फीट का फासला था और भूमि को अनेक कोणों में लगातार विभक्त किया गया था, जिससे २४ छोटी-छोटी भुजाएँ और १४ कोण बन गये थे। इस प्रकार यह स्मारक अपने ढंग का अनोखा था। नालन्दा के मुख्य चैत्य नं० ३ और पहाड़पुर का मुख्य मन्दिर सदियों बाद बने और आकार में ये नन्दनगढ़ के इस स्तूप से कुछ मिलते-जुलते हैं। कई महल के चबूतरों के आधार पर बने ये स्तूप भारतीय वास्तुविद्या के उल्लेखनीय उदाहरण हैं। नन्दनगढ़-स्तूप के पाँचमहल चबूतरे हैं। एक पर एक, और तीन पर तो प्रदक्षिणा-पथ भी बने हैं। निचला चबूतरा सबसे अधिक चौड़ा (३२ फीट) है, और उससे ऊपर का चबूतरा १४ फीट है। इस प्रकार जैसे-जैसे ऊपर उठता गया, चबूतरे की चौड़ाई छोटी होती गई। हमें जावा के बोरोबदर स्तूप की याद आ जाती है। नन्दनगढ़ के इस स्तूप के विषय में उल्लेखनीय तथ्य यह है कि इस प्रकार के शुण्डाकार स्तूप (Pyramidal stupa) भारत क्या, पूर्व एशिया में प्राचीनतम उदाहरण हैं। इसपर, स्तूप के बाहरी भाग पर, विशेषकर प्रवेश-द्वार के सामनेवाले भाग पर मूर्त्तियाँ सुसज्जित नहीं हैं, जबकि नालन्दा, पहाड़पुर (बंगाल) और बोराबदर स्तूप के बाहरी भाग (Facate) मूर्त्तियों और कथा-चित्रों से अत्यन्त अलंकृत हैं।[1]

कुम्हरार की नई खुदाई में शुंगकालीन विहार के अवशेष मिले हैं, जिससे यह पता चलता है कि विहारों की रचना अभी प्रारम्भिक अवस्था में थी। हमें दो या तीन कमरों

---

१. लौरिया-नन्दनगढ़ की खुदाई के लिए देखिए—*A. S. I. A. R.; 1935-36; pp. 55 ff.; 1936-37, pp. 47 ff.*

की पंक्ति मिलती है, जिसके सामने एक बरामदा है। इसका कुषाण-काल में सुधार किया गया। बिहार-राज्य में कुषाण-कालीन विहारों के स्पष्ट उदाहरण यहीं मिले हैं। कुषाण-काल के विहारों की यह विशेषता रही है कि मध्य में एक चतुर्भुजाकार आँगन होता था और तीनों ओर कोठरियों की पंक्ति रहती थी, जिसके सामने बरामदा होता था। कोठरियाँ तो साधारणतः छोटी हैं, पर कोने पर स्थित कोठरी जरा बड़ी (१५'× ६'.६") है। इसी स्थान पर एक और विहार का पता चला है जो इससे अधिक बड़ा है। इसकी एक ओर का नक्शा इस तरह है—चौदह छोटे कमरे हैं और इनके सामने चार लम्बे हॉल हैं; जिन्हें दो छोटे-छोटे कमरे विलग करते हैं। इन हॉलों के सामने एक लम्बा, पर अत्यन्त अल्प चौड़ा, खुला बरामदा है। जगह-जगह बरामदे पर पहुँचने के लिए सीढ़ियाँ बनी हैं। विहार का ऐसा नक्शा कहीं और नहीं मिलता। ये सभी शुंग-कालीन और कुषाण-कालीन मकान पक्की ईंटों के बने हैं। नालियाँ खड़ञ्जे ईंटों की बनाई जाती थीं और ईंटों से ढँकी भी जाती थीं, जिससे उनका एक बक्सनुमा आकार हो जाता था। ३७ फीट लम्बी और दो फीट गहरी नाली का पता चला है। शुंग-काल के बने एक और विहार का पता कुम्हरार में ही मिला, जिसका एक कमरा ३०'६" × ६'६" है। ४२ फीट से अधिक लम्बा और ५' १०" चौड़ा यहाँ एक बरामदा है। यह विहार काफी बड़ा था और इसकी नींव भी बड़ी सावधानी और मजबूती से डाली गई थी। इसी जगह एक और विहार का पता चला है, जिसका आकार चतुष्कोण है। बीच में आँगन है और चारों ओर कमरे हैं तथा तीन ओर बरामदे हैं। इसमें आठ कमरे पाये गये हैं। सबसे छोटे कमरे (६'६" × ७') में एक ऊपर से ढकी हुई नाली मिली है, जो उत्तर से दक्खिन की ओर बहती थी। इससे होकर गन्दा पानी एक गड्ढे में गिरता था। नाली के ऊपर चौड़ ईंटें बिछी थीं, जिन्हें हटाकर आसानी से नाली साफ की जाती थी।

इस काल की शिल्प-कला के उदाहरणों में बोधगया-मन्दिर की वेष्टन-वेदिकाओं (रेलिंग) पर उत्कीर्ण चित्र उल्लेखनीय हैं। इस पवित्र और प्रसिद्ध बौद्ध-मन्दिर में सूर्य का चित्र धार्मिक सहनशीलता और समवाय का प्रत्यक्ष उदाहरण है। सूर्य का रथ चार घोड़ों पर दौड़ रहा है, दो-दो घोड़े एक ओर हैं। रथ एक पहिये का है। रथ पर बैठे सूर्य के पीछे चक्र-सी चीज उत्कीर्ण है। सूर्य के दोनों ओर एक-एक नारी-मूर्त्ति धनुष-बाण लिये हुई है जो उषा और प्रत्युषा हैं। कुछ घायल इधर-उधर पड़े हैं, सूर्य के द्वारा अंधकार की शक्तियों के नाश का यह दृश्य है। राजेन्द्रलाल मित्र ने इसे किसी वीर योद्धा की विजय का चित्र समझा था; पर रथ का एक चक्र, सूर्य के पीछे गोलाकार मंडल और दोनों ओर धनुष-बाण लिए नारी-मूर्त्तियाँ—ये सभी वस्तुएँ सूर्य की अंधकार पर विजय का दृश्य प्रमाणित कर देती हैं। सूर्य की सभी प्राप्त मूर्त्तियों में बोधगया-वेष्टन-वेदिका (रेलिंग) पर उत्कीर्ण चित्र एक अत्यन्त प्राचीन मूर्त्ति है। यहाँ कलाकार ने अपनी भावाभिव्यक्ति में अद्भुत सफलता पाई है। घोड़ों की उठती टापों और मुद्रा से अविराम गति, स्फूर्ति और शक्ति की अभिव्यक्ति होती है, तथा घायलों के द्वारा अंधकार पर प्रकाश की विजय का इतना निश्चयपूर्वक चित्रण अभिनन्दनीय है।[1] उत्तर-भारत की अधिकांश सूर्य-मूर्त्तियों के

---

१. चित्र-संख्या—४५

पैर में ठेहुने तक फीतादार बूट है और कमर में अव्यङ्ग पड़ा है। यही 'वाराह-मिहिर' द्वारा उल्लिखित 'उदीच्यवेश' है। यह पहनावा निश्चित ही ईरानी है। शक-कुषाण लोगों ने इस पहनावे का प्रचार भारत में किया। 'भविष्यपुराण' से भी यही पुष्टि होती है कि शक-स्थान में विश्वकर्म्मा ने सूर्य की मूर्त्ति बनाई। चराचर विश्व सूर्य के तेज को सह नहीं सकता था; इसलिए सूर्य के कहने पर विश्वकर्मा ने उनके शरीर के तीक्ष्ण तेज को कम करने के लिए खराद पर चढ़ाया; पर घुटने से नीचे का भाग छूट गया। उस भाग के तेज को मनुष्य की आँखें सह्य नहीं कर सकती थीं, अतः लम्बा बूट पहनाना पड़ा। इस प्रकार सूर्य-मूर्त्ति को पूजा शक-स्थान से भारत आई, और प्रथम मैजी पुरोहितों ने ही आरम्भ की होगी। इसके समय के विषय में कुछ निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता है। डी० पी० पाण्डेय के विचार में जब ईरान में सूर्य (मिथ्र)-उपासकों और अग्नि-उपासकों में संघर्ष छिड़ा, तब सूर्य-उपासक भाग कर भारत चले आये। वे ही शाकद्वीपीय ब्राह्मण कहलाये। 'भविष्यपुराण' में भी यही बात है कि शक-स्थान से मैजी पुरोहित भारत बुलाये गये, और उन्होंने सूर्य की पूजा के द्वारा कृष्ण के पुत्र 'साम्ब' को श्वेतकुष्ठ से मुक्त किया। पाण्डेयजी भारत में शक-स्थान से सूर्य-उपासकों के आने का समय २२००–२००० ई० पू० और बुद्ध के पहले तो निश्चय ही मानते हैं।[१] पर उदीच्यवेश में जो सूर्य-मूर्त्तियाँ मिली हैं, वे पहली सदी के पहले की नहीं हैं। दक्षिण-भारत में सूर्य-मूर्त्ति-विज्ञान की अलग परम्परा है। बोधगया की मूर्त्ति भी उदीच्यवेश में नहीं है। इसलिए, ऐसा प्रतीत होता है कि ईरानी पहनावे में सज्जित सूर्य की मूर्त्ति बनाने के पहले ही भारत में एक अपनी खास परम्परा थी। बोधगया की सूर्य-मूर्त्ति में चार घोड़े चार युगों का भान कराते हैं। चार घोड़ों का रथ शक और यूनानी परम्परा में है; पर इस सादृश्य के अतिरिक्त भारतीय और इन विदेशी उदाहरणों में कोई मेल नहीं है। रथ का पहिया एक है, जिससे एक वर्ष का बोध होता है। ऋग्वेद में कहा गया है कि सूर्य के रथ के एक पहिये को इन्द्र ने ले लिया था। चार अश्ववाले सूर्य के रथ का चित्रण पटना में प्राप्त एक मिट्टी के ठीकरे पर भी मिला है।[२] यह मौर्य-काल का है। सारथी अरुण ज़िरहबख्तर पहने हुए है और सूर्यदेव खड़े हैं। सूर्य के ठेहुने के नीचे का भाग रथ से छिपा है और वे चन्द्राकार नोकवाला बाण लिये हुए हैं। सारथी के दाहिने हाथ में अंकुश-सा चाबुक है। रथ के पीछे क्या है, ठीक से पता नहीं चलता। सूर्य और रथ दोनों को चक्र घेरे हुए है। इस प्रकार मौर्यकालीन पटना की सूर्य-मूर्त्ति और शुंगकालीन बोधगया की वेष्टन-वेदिका (रेलिंग) पर उत्कीर्ण सूर्य-मूर्त्ति उदीच्य-वेशधारी सूर्य-मूर्त्ति को विदेशी परम्परा से भिन्न और प्राचीन है। जान पड़ता है कि प्राचीन कालीन सूर्य-मूर्त्तियाँ भारतीय परम्परा के अनुसार बनाई गईं और बाद में ईरानी-परम्परा के, जब उत्तरी भारत में उसका बोलबाला हुआ। फिर भी, दक्षिण-भारत में विशुद्ध भारतीय परम्परा ही जीवित रही।

---

१. *Surya—Iconographical Study of the Indian Sun-god by D.P. Pandey, Leyden 1939, pp. 15-16.*

२. *J.I.S.D.V. Vol.III, No.2, 1935, pp. 125;* चित्र-संख्या ४६

अनाथपिंडक के द्वारा जेतवन की खरीद के दृश्य से[1] मालूम होता है कि बोधगया की रेलिंग पर उत्कीर्ण जातक-दृश्य भरहुत की तुलना में संक्षिप्त है। इससे स्पष्ट है कि बोधगया की रेलिंग के निर्माण के समय जातकों की कहानियाँ जनता को भली-भाँति मालूम थीं; अतः भरहुत की रेलिंग पर जितना विस्तारपूर्वक चित्रण किया गया था, उतना अब जरूरी नहीं था।[2] बोधगया मंदिर की वेष्टन-वेदिका-स्तम्भों पर वृत्ताकार पदक-सदृश कमलों पर राशियों की मूर्तिमान् आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं। इनमें मेष, वृष, मिथुन, कर्क, वृश्चिक, धनु, मकर, कुम्भ और मीन सहज में पहचाने जा सकते हैं। प्राचीन पाषाण-रेलिंग पर तुला, सिंह, कन्या, वृष, और मकर स्पष्ट हैं। कन्या के लिए फूलों की माला पहने पुष्प-मुकुट-युक्त कुमारी बाला का चित्र अत्यन्त आकर्षक है। एक मसनद पर उठँगे व्यापारी से तुला-राशि का ज्ञान होता है। मृग-शरीरवाले धनुर्धर से धनु-राशि का बोध होता है। स्त्री और पुरुष के प्रणय-पूर्ण व्यवहार से मिथुन राशि की भावना व्यक्त की गई है।[3] प्रकृति और मानव को एक ही सौहार्दपूर्ण भावना से देखना भारतीय कला की आध्यात्मिकता और महती उदारता का ज्वलन्त प्रमाण है। बोधगया की वेष्टन-वेदिका पर उत्कीर्ण चित्रों से भी इन्हीं विशिष्ट गुणों की पुष्टि होती है। मिथुन-राशि का बोध सिंह और सिंहनी के प्रेमालाप के चित्र से भी किया गया है। सत्ताईस नक्षत्रों का भी चित्रण हुआ है।[4] प्राचीन पाषाण-वेष्टन-वेदिका पर अश्व और मृग के चित्र उत्कीर्ण हैं। इसी पर बौद्ध देवी श्रीमा (जो प्रारंभ में माया देवी का रूप मानी गई थी) का भी चित्र उत्कीर्ण है। मा देवता के पैर एक-दूसरे से सटे हैं, घुटने जमीन से कुछ ऊपर हैं। उनके बाएँ हाथ में कमल की खिलती कली है। इसी प्रकार हाथियों से अभिषिक्त देवी की मूर्तियाँ भी खुदी हैं, जो गज-लक्ष्मी की प्रतिरूप-सी हैं।[5] हिन्दू-लक्ष्मी की मूर्त्ति की कल्पना बौद्धों की श्रीमा देवता से ही हुई थी। भरहुत की रेलिंग पर भी ऐसे दृश्य उत्कीर्ण हैं। बुद्ध और हलवाहा, बुद्ध के प्रति नागराज एलपत्र का अभिनन्दन, शक्र द्वारा प्रेषित स्वर्गीय वीणावादक पंचशिख का इन्द्रशील गुहा के सामने, बुद्ध के सम्मान में, वीणा बजाना इत्यादि प्रसिद्ध जातक-दृश्य भी बोधगया की रेलिंग पर खुदे हैं। इन दृश्यों से यह स्पष्ट है कि भरहुत के बाद ही इन्हें चित्रित किया गया है। भरहुत के उत्कीर्ण दृश्यों से कहानी के विस्तार-पूर्वक वर्णन करने का अभिप्राय स्पष्ट हो जाता है; पर बोधगया में कहानी कहने की कला में न्यूनता है। कहानी-कला की दृष्टि से यदि बोधगया के दृश्य, अत्यन्त संक्षिप्त होने के कारण, गौण हैं तो अपने नाटकीय प्रभाव की दृष्टि से कला यहाँ अधिक विकसित मालूम होती है। भरहुत के चित्र अत्यन्त घने मालूम होते हैं; क्योंकि स्थान की कमी और सम्बद्ध पात्रों की भीड़ का अनुभव होता है। बोधगया के कलाकारों ने इस कमजोरी को दूर भगाया है। कहानी कहने के कौशल से अधिक पात्रों की भाव-भंगिमा पर और कहानी की नाटकीय भावना की अभि-

---

१. चित्र-संख्या—४७-४८
२. *Stella Kramrisch—Indian Sculpture (Fig. 16,17, 19, 20)*
३. चित्र-संख्या—४६-५०
४. *Gaya & Buddha-Gaya, Pt. II, p. 93.*
५. चित्र-संख्या—४७-५१

व्यक्ति पर ध्यान दिया गया है। कलात्मक दृष्टिकोण से यह भरहुत की कला से प्रगतिशील कदम है। भरहुत-स्तम्भों पर उत्कीर्ण शालभंजिका की मूर्त्ति की तरह बोधगया के वेष्टन-वेदिका-स्तम्भों पर भी यक्षिणी की मूर्त्तियाँ उत्कीर्ण हैं। यह अत्यन्त मार्के की बात है कि 'पाणिनि' ने पूर्वीय क्रीड़ाओं का उल्लेख किया है, जिनमें शालभंजिका और तालभंजिका प्रमुख है—उद्दालक पुष्पभंजिका, वीरण-पुष्प-प्रचायिका, शालभंजिका, तालभंजिका, (काशिका : ७-२-७४ ; ३-३-१०६ ; २-२-१५)। श्री वासुदेवशरण अग्रवाल ने बुद्ध के जीवन-काल में शाल-भंजिका नामक त्योहार और उत्सव मनाने के उदाहरण दिये हैं।[१] लुम्बिनी-वन में शाल-वृक्षों की प्रधानता थी। एक दिन सिद्धार्थ की माता माया रानी अपनी सखियों के साथ वहाँ आईं। रंग-विरंग की लताओं और आमोद-प्रमोद के निमित्त अत्यन्त अलंकृत हॉल को देखकर माया रानी की इच्छा शाल-वृक्षों से क्रीड़ा करने की हुई। वह अपनी परिचारिकाओं के साथ एक शुभ शाल-वृक्ष की जड़ के समीप पहुँची और वृक्ष की एक शाखा पकड़ने में सचेष्ट हुई। शाखा स्वयं ही झुककर उनकी पकड़ में आ गई। इस प्रकार की क्रीड़ा को शालभंजिका कहा जाता था। इसी दृश्य को साँची, भरहुत और बोधगया की वेष्टन-वेदिका पर उत्कीर्ण किया गया। इस दृश्य का कलात्मक रूपान्तर पहले-पहल मगध में ही किया गया होगा; क्योंकि पुष्प चुनने और तोड़ने की क्रीड़ाओं का केन्द्रस्थल पूर्वीय क्षेत्र मगध ही था। प्रसिद्ध विद्वान् डा० फूगेल ने कहा है—

"यह एक अत्यन्त रोचक बात है कि इस तरह की क्रीड़ाएँ पूर्वीय भारत की विशेषता रही हैं। इस तरह की क्रीड़ाएँ बौद्ध-साहित्य में उल्लिखित शालभंजिका-उत्सव से मिलती-जुलती हैं। स्पष्टतया मगध और उसके पड़ोसी प्रान्त, जो बौद्ध-धर्म के क्रीड़ा-स्थल रहे हैं, इनका जन्म-स्थान रहे होंगे।[२]"

शालभंजिका नारी के चित्रण में कलाकार स्त्री-सौन्दर्य के विशिष्ट गुणों पर ही जोर देता है। नारी-शरीर के विस्तृत स्कन्ध और अतुलनीय पुट्ठों पर उसका किञ्चिन्मात्र भी ध्यान नहीं रहता है। वह नारी-शरीर के मांसल भाग की ओर के आकर्षण से उदासीन है। किन्तु, यूनानी शिल्पी कमर को अत्यन्त सूक्ष्म तौर पर लचकीला तथा लहरदार बनाता है। प्राचीन भारतीय कलाकर अद्भुत कोमलता-जन्य अस्वाभाविकता को मूर्त्त करता है। पैरों की बनावट भी अत्यन्त ही विलक्षण है। जाँघ के भीतरी भाग का यथार्थ चित्रण तो नहीं ही हुआ है, बल्कि जाँघ के सामने जो आकर्षक फाँक (concavity) है, जिससे उस अंग को रूप मिलता है, उसका तो नामोनिशान भी नहीं है। उसी प्रकार ठेहुने के नीचे और देह तथा जाँघ के बीच की गहरी फाँक को भी एकदम दबा दिया गया है। इस प्रकार मूर्त्ति स्वाभाविक मानव-शरीर का यथार्थ रूप नहीं है, वरन् आध्यात्मिक कल्पना

---

१. *India as known to Panini ; p. I59.*

२. "It is interesting that these games are said to be peculiar to estern India, as this tallies with the mention of the *Salabhanjika*-festival in Buddhist. literature. It is evidently Magadha, the cradle of Buddhism, and neighbouring countries that may be taken to have been its home." —*India as Known to Panini (p. 159.)*

का मूर्त्त रूप पाषाण पर उत्कीर्ण किया गया है। अतः आन्तरिक शक्ति से उद्वेलित अंगों को फैले हुए दिखाया गया है। वास्तविक मानव-शरीर के उन अंगों की—जिनपर बाह्य शक्ति और आकर्षण-शक्ति हावी होती है और यत्र-तत्र उन्हें खोखला बना देती है—उपेक्षा की गई है; क्योंकि कलाकार के लिए यह परम सत्य के विपरीत है। वह तो कण-कण को आकृति प्रदान करता है, तो फिर खोखलापन कैसा? इस आध्यात्मिक रहस्य को हृदयंगम करने पर ही शालभंजिका की मूर्त्ति का उचित मूल्यांकन हो सकता है। इस परम सत्य से अनुप्राणित होने के कारण ही अस्वाभाविक स्त्री-मूर्त्तियाँ अत्यन्त ही सुन्दर हैं। इन मूर्त्तियों में नारी-शरीर की स्वाभाविक कोमलता, आकर्षण तथा उत्तेजना का सुन्दर चित्रण हुआ है। वृक्ष की डाली से आलम्बित इन मूर्त्तियों से प्रकृति और स्वस्थ-सुन्दर नारी का अन्योन्याश्रय की भावना प्रकट होती है। इस सम्बन्ध में रेलिङ्ग-स्तम्भ पर आदमकद यक्षिणी की मूर्त्ति उल्लेखनीय है। उसके दाहिने पैर के निकट बैठा हुआ यक्ष ऊपर की ओर उसे सहारा दे रहा है और यक्षिणी वृक्ष की शाखा पकड़कर चढ़ने के प्रयास में है। चित्र अत्यन्त स्वाभाविक, गतिशील और नाटकीय होने के कारण प्रभावोत्पादक है।[१] एक स्तम्भ पर ब्रह्मशांति (इन्द्र) की बड़ी ही सुन्दर मूर्त्ति है। उसके वस्त्र की सिलवटें, धोती की गाँठ और साधारण आभूषण प्रशंसनीय हैं।[२] शारीरिक सौन्दर्य के वास्तविक चित्रण के अलावा बोधगया-रेलिंग के शिल्पियों ने वास्तविक जीवन के प्रेममय और युवा-जीवन के दृश्यों का भी स्वाभाविक चित्रण किया है। इस दिशा में भी इन्होंने भरहुत से अधिक प्रगतिशील कदम उठाया है। भरहुत में स्त्री और पुरुष अगल-बगल' में दिखाये गये हैं; पर बोधगया में इन्हें प्रेमालिंगन करते दिखाया गया है।[३] उत्कीर्ण मानव-मूर्त्तियों में हम शरीर-रचना का अधिक ज्ञान पाते हैं। शरीर के भिन्न-भिन्न अंग एक-दूसरे से स्वभावतया सम्बद्ध दीखते हैं। भरहुत की मूर्त्तियों की तुलना में बोधगया की मूर्त्तियों के भिन्न-भिन्न अंग अधिक स्वाभाविक और स्वतन्त्र रूप से हिलते-डुलते प्रतीत होते हैं जिससे मूर्त्तियाँ अत्यन्त सजीव तथा गतिशील लगती हैं। बोधगया की नारी-मूर्त्तियाँ और प्रेमालाप के दृश्य पूर्ण प्रणय-प्रियता तथा विलासिता की भावना से अनुप्राणित हैं। वास्तविक जीवन के स्वरूप का इतना स्वतंत्र और कौशलपूर्ण चित्रण शुंगकालीन मागधी कलाकारों का प्रशंसनीय गुण है। इसी प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति प्रकृति के चित्रण में भी हुई है। बोधगया-रेलिंग पर वृक्षों, लताओं, कमल-नालों और प्रकृति की रसवन्ती भुजाओं में सृष्टि की सभी चीजों के सोल्लास समा जाने का दृश्य अत्यन्त रहस्यमय, पर प्रभावोत्पादक ढंग से उत्कीर्ण किया गया है।[४] वनस्पति-जगत् का इतना सौहार्दपूर्ण और रहस्यमय चित्रण मगध की कला में पहले नहीं मिलता। मौर्यकालीन तृतीय आयाम की पाषाण-मूर्त्तियाँ शुंग-युग में नहीं मिलतीं। मालूम होता है कि यह परम्परा ही लुप्तप्राय हो गई थी। पर, बोधगया

१. चित्र-संख्या—५२
२. चित्र-संख्या—५३
३. *Gaya & Buddha-Gaya, Pt. II, p. 122,* चित्र-संख्या—५४
४. चित्र-संख्या—५५

की वेष्टन-वेदिका पर उत्कीर्ण यक्ष-यक्षिणियाँ, इन्द्र प्रभृति तथा अन्य मानवीय मूर्तियों में कलाकारों ने शरीर के अंगों को सुडौल और गोलाई लिये दिखाने की कोशिश की है। इस क्षेत्र में उन्हें प्रशंसनीय सफलता भी मिली है, यद्यपि पत्थर पर खुदे रहने के कारण पार्श्व और पश्चात् भाग से देखने पर मूर्त्तियाँ चिपटी दीखती हैं। यहाँ कलाकार तृतीय आयाम की परम्परा से और पत्थर पर ही पट्टचित्र की तरह उत्कीर्ण करने की प्रतिकूल परम्पराओं की विवशता से झगड़ता-सा लगता है। इस स्वयं-स्वीकृत विवशता के बावजूद मगध के इन प्राचीन शिल्पियों ने स्तम्भों पर उभरी मूर्त्तियों को बहिरिन्द्रियों की तृष्णा को तृप्त करनेवाली बनाकर यह सिद्ध कर दिया है कि भारतीय संस्कृति में मानव-जीवन की सुन्दर क्रीड़ाओं को मिटाया नहीं गया है और न उपेक्षा ही की गई है तथा हमारे स्वाभाविक कार्यों को न विकलांग किया गया है, न उदास। किन्तु, भारतीय संस्कृति का उद्देश्य सिर्फ मानव-जीवन को उत्साहवर्द्धक और समृद्ध ही बनाना नहीं था, वरन् जीवन को नैतिक और बौद्धिक आदर्श के अनुसार संचालन करना भी था।[1] बोधगया की रेलिंग की मूर्त्तियों में हम इस नियम और आदर्श का पालन पाते हैं। यहाँ शारीरिक सौन्दर्य और स्वाभाविक जीवन-चित्र के साथ-साथ पवित्रता और आत्म-संयम का सुन्दर समन्वय है। शालभंजिका-जैसी कला के विषय का अन्य विदेशी कला-परम्पराओं में वस्तुतः अभाव है। हेवेल के विचार में नारी और वृक्ष के इस कला-विषय में जैसी ताजगी, कोमलता, शिल्प-शक्ति और अलंकृत सौन्दर्य की अभिव्यक्ति हुई है, वैसी पश्चिमी कला में पाना मुश्किल है।[2]

कुम्हरार (पटना) के निकट बुलन्दीबाग की खुदाई में, वर्त्तमान सतह से १२ फीट नीचे, एक स्तम्भ का विशाल शीर्षभाग (Capital) मिला था,[3] जो अब पटना-संग्रहालय में है।[4] यह ४६″ लम्बा और ३३½″ चौड़ा है। इसपर एक विशेष प्रकार के सुगन्धित पौधे (Honey-suckle) का चित्र उत्कीर्ण है। यह अधिकतर यूनानी कला-परम्परा में पाया जाता है। बैंडेल के विचार में यह प्राचीन पाटलिपुत्र पर पश्चिमी प्रभाव का उदाहरण है। इसका समय मौर्यकाल के तुरत बाद शुंगकाल ही माना गया है। इसपर छोटे ताल-वृक्ष का भी चित्र खुदा है, जो ईरानी परम्परा में साधारणतया मिलता है। दोनों ओर रील की डिजाइन और घूमघुमौआ रेखाएँ पश्चिमी एशिया की कला-परम्परा की सीध में हैं। खम्भे के सिरपर का घुमौआ कारनीस आइओनियन-शैली से प्रभावित था। जान पड़ता है, शुंगकाल में विदेशी परम्पराओं को भारतीय कला में आत्मसात् किया जा रहा था। मौर्यकालीन प्रधान धारा बिल्कुल लुप्त नहीं हुई थी। बोधगया की रेलिंग पर कुछ उत्कीर्ण दृश्य भी अशोक के समय की कला की याद दिलाते हैं। एक कमलपदक में अशोक के सारनाथ-सिंह-शिर का चित्रण है, सिंह के ऊपर चक्र है। सारनाथ-स्तम्भ-शिर का वास्तविक चक्र नष्ट हो गया है। पर, जहाँ अशोक के शिरायुत लाटों का

१. *Foundations of Indian Culture, pp. 116 – 17.*

२. *A Hand-book of Indian Art, p. 37.*

३. *Report on the Excavations at Pataliputra ; pp. 39--40.*

४. चित्र-संख्या—५६

चित्र-उत्कीर्ण है, वहाँ ये अशोक के समय के स्तम्भ के ऐसा गोलाकार नहीं, वरन् ये सभी स्तम्भ भरहुत की रेलिंग पर उत्कीर्ण स्तम्भों की तरह अठपहल हैं; और इस प्रकार कला-परम्परा के दृष्टिकोण से बोधगया की शिल्प-कला और वास्तुकला भरहुत-शैली की सीध में है। अशोक की राजकीय कला में मानव-मूर्त्तियों की वस्तुतः उपेक्षा की गई थी। तत्कालीन सार्वजनिक या जनपदीय कला में हम यक्षिणी और यक्ष की मूर्त्तियाँ पाते हैं। भरहुत और बोधगया में इसी परम्परा का विकास हुआ है। इससे यह सिद्ध होता है कि बौद्ध-धर्म में इन जनप्रिय आदिम विश्वासों और देवी-देवताओं को, गौण-रूप में ही सही, स्थान दिया गया। पर, इन देवों और देवियों का चित्रण अमानवीय रूप में नहीं, वरन् सुन्दर और आकर्षक मानव-रूप में ही किया गया, और यह मार्के की बात है ; क्योंकि कुछ समय बाद देवी-देवताओं का चित्रण अप्राकृतिक और विचित्र रूप में होने लगा। मगध की शुंगकालीन कला अशोक के समय की शिल्पकला और भरहुत की कला की पृष्ठ-भूमि में ही बोधगम्य है।

शुंगकालीन कला के उचित परिचय के लिए मिट्टी की बनी मूर्त्तियों का भी उल्लेख आवश्यक है। बुलन्दीबाग में खड़ी स्त्री की एक मूर्त्ति मिली है, जिसका चेहरा गोल है, बायाँ हाथ कमर पर है और दाहिना हाथ नीचे लटक रहा है। ललाट पर फीता कसकर बँधा है और आभूषणों में भारी कमरधनी और बाजूबंद प्रमुख हैं। स्तनों पर और वस्त्र पर बारीक रेखाएँ खींची गई हैं। मूर्त्ति कुछ सोच रही-सी है।[1] बसाढ़ (वैशाली) से एक पंखयुक्त खड़ी नारी-मूर्त्ति मिली है। शरीर क्षीण और लम्बा है तथा हाथ में कमल है। पंखयुक्त मूर्त्तियाँ प्राचीन यूनान और पश्चिम एशिया में अधिकतर मिली हैं; और बिहार की तत्कालीन मिट्टी की मूर्त्ति की कला पर विदेशी प्रभाव का यह एक प्रमाण माना गया है।[2] बोधगया-मन्दिर की वेष्टन-वेदिका पर सूर्य के चित्र का उल्लेख किया जा चुका है। पटना में ही एक गोलाकार मिट्टी के ठीकरे में सूर्य की मूर्त्ति खुदी है। चार घोड़ोंवाले रथ पर सूर्य खड़े हैं। वे ज़िरहबख्तर पहने हैं। उनके पास तरकश है और धनुष से बाण छोड़ रहे हैं। सारथी उनके दाहिने है और रथ के पीछे एक चिड़िया बैठी है। ठीकरे के चारों ओर किनारे पर एक ही केन्द्र के दो वृत्त खुदे हैं। सूर्य का रूप बाद में चित्रित हुए सूर्य से कुछ मिलता-जुलता है। इसी सम्बन्ध में शुंग-स्तर पर ही भीटा की खुदाई से प्राप्त मिट्टी का तश्त उल्लेखनीय है। दोनों ओर एक ही दृश्य खुदा है। ऊपर की रेलिंग पर से दो मनुष्य कुछ देख रहे हैं और नीचे चार घोड़ों का एक रथ सारथी और रथी के साथ चित्रित है।[3] बुलन्दीबाग की खुदाई में ही फणयुक्त एक नागदेवी का सिर मिला था जो हनिस्कलनामक विशेष सुगन्धित पौधे के चित्र से अलंकृत है।[4] इसे मौर्यकाल का नहीं, वरन् शुंगकाल का ही मानना चाहिए।

---

१. *Patna Museum Guide to the Archaeological Section; p. 23*, चित्र-सं०—५७

२. चित्र-संख्या—५८

३. *A. S. I, A. R. 1911-12, p. 73*

४. वही, १९२६-२७; पृ० १३१

दम्पती की मिथुन-मूर्त्ति अत्यन्त ही स्वाभाविक, कोमल और आकर्षक है। पुरुष के बायें स्त्री खड़ी है। पुरुष की धोती की चुन प्रत्यक्ष है। उसका एक हाथ स्त्री का आलिंगन करने को आतुर है और मुँह स्त्री की ओर झुका है। स्त्री का मुँह लज्जावनत है। स्त्री के वक्षस्थल उभरे हैं, कमर पतली है और शरीर एक ओर लचका हुआ है।[1]

शुंग-कालीन कला के अवशेष बिहार में अधिक नहीं मिले हैं, पर जो मिले हैं; उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि इस युग में बिहार की कला स्वदेशी थी और अपने में पूर्ण थी। इस समय की कलात्मक कृतियों ने भविष्य का पथ-प्रदर्शन किया और परम्पराएँ निश्चित की गईं। विदेशी प्रभाव भरसक आत्मसात् कर लिया गया था। सामाजिक जीवन और शारीरिक सौन्दर्य को प्रकट करने में अनुकरणीय उल्लास तथा स्वतन्त्रता से काम लिया गया था। कला स्वाभाविक ही नहीं, वरन् क्रियाशील थी। वह देश की ही मिट्टी में जन्मी और पनपी थी। कलाकारों ने तत्कालीन वास्तविक समाज और धर्म से प्रेरणा ली। इस कारण शुंग-कला के उदाहरण अत्यन्त सजीव और प्रकृति के अनुकूल हैं।

---

१. चित्र-संख्या—५६

पञ्चम अध्याय

मूर्त्ति-निर्माण और कुषाण-काल

बोधगया के प्राचीन बलुआ पत्थर की वेष्टन-वेदिका पर जातक कथाओं और बुद्ध के जीवन के प्रधान दृश्य अंकित हैं; पर बुद्ध की मूर्त्ति अनुपस्थित है। भरहुत और साँची की वेष्टन-वेदिका पर भी ऐसा ही दृश्य अंकित है। इससे यह स्पष्ट है कि पहली सदी ई० पू० तक बुद्ध की प्रतिमा बनाने की परम्परा नहीं थी। अधिकतर विद्वान्, जैसे फूचे[1] और ग्रनवेडेल[2] का निश्चित विचार है कि बुद्ध की पहली प्रतिमा उत्तर-पश्चिम गान्धार-प्रदेश में बनी, और वह यूनानी कलाकारों की कृति थी। यूनानी कला में प्रमुख देवी-देवताओं की प्रतिमा बनाने की परम्परा प्राचीन थी। यूनानी कला के प्रभाव के फलस्वरूप ही बौद्धों ने बुद्ध की प्रतिमा की माँग की और यूनानी कलाकारों ने या उनके द्वारा प्रशिक्षित भारतीय शिल्पियों ने बुद्ध की प्रतिमा बनाना आरम्भ किया। बुद्ध के रूप और शरीर का कोई आदर्श चित्र उपलब्ध नहीं था, इसलिए प्रकृत्या कलाकारों ने यूनानी देवता 'अपोलो' के रूप में ही बुद्ध की प्रथम प्रतिमा बनवाई। गोल चेहरा, विलासमय मुस्कान, वक्ररेखाओं-से केश-विन्यास आदि भारतीय परम्परा से भिन्न यूनान तथा रोम-परम्परा की नकल मालूम होते हैं। भारतीय विषय होते हुए भी रूप और वेश अभारतीय हैं। बौद्ध मूर्त्तियों की चलन के बाद हिन्दू-देवी-देवताओं की भी मूर्त्तियाँ बनीं।

बुद्ध और बोधिसत्त्वों की प्रथम प्रतिमाएँ गान्धार में बनीं और यूनानी तथा रोम के कलाकारों के प्रत्यक्ष संरक्षण में बनीं। इस सिद्धान्त के प्रति श्री रामप्रसाद चंदा और श्री आनन्द कुमार स्वामी ने संदेह प्रकट किया। कुमारस्वामी ने तो यह सिद्ध कर दिया कि बुद्ध की प्रतिमा के विकास की ओर पहले से ही प्रगति हो रही थी, और भारतीय परम्परा में ही सर्वप्रथम बुद्ध की प्रतिमाएँ बनीं। गान्धार-प्रदेश के यूनानी कलाकार इसी परम्परा की नकल करने में अभारतीय मूर्त्तियाँ बनाने लगे। यह सच है कि भगवान् बुद्ध मूर्त्ति-पूजा के समर्थक नहीं थे। प्राचीन पालिबौद्ध-साहित्य में वैयक्तिक प्रेम या भक्ति के प्रति उपेक्षा की भावना रखने की शिक्षा दी गई है। बुद्धघोष-रचित 'विशुद्धिमार्ग' में चित्रकारों और गायकों को झिड़का गया है। पूर्वकालीन बौद्धधर्म में भिक्षुओं को विहार की दीवारों पर नर-नारियों के चित्र बनाने की आज्ञा नहीं थी।[3] पर इन धार्मिक प्रतिबन्धों की चहारदीवारी में सर्वसाधारण जनता की स्वाभाविक श्रद्धा और कलाकारों की प्रतिभा का दम घुट रहा था।

---

१. *Foucher—Beginnings of Buddhist Art; p. 24, p. 117, p.130.*

२. *A. Grunwedel—Buddhist Art in India; p. 68.*

३. *Dance of Siva ; pp. 41–42, 71.*

भारत में मूर्त्तिपूजा और तदर्थ प्रतिमा-निर्माण का आरम्भ कब हुआ, यह एक अत्यन्त विवादास्पद विषय है। यूरोपीय विद्वान् फूचे और ग्रनवेडेल के विचार का उल्लेख पहले हो चुका है। भारतीय साहित्यों, प्राचीन मुद्राओं और अन्य उदाहरणों के आधार पर इसके विचार की निस्सारता सिद्ध हो जाती है। यह सर्वमान्य है कि हरप्पा के युग में मूर्त्तिपूजा थी। विलक्षण केश-विन्यास और शिरस्त्राणवाली मातृदेवी-मूर्त्तियों की निश्चय ही पूजा होती थी। 'पशुपति' की योगासीन मूर्त्ति की तरह जब से एक अन्य योगासीन मूर्त्ति भी, मुहर पर उत्कीर्ण,मिली तब से यह स्पष्ट है कि देवता के रूप निश्चित हो चुके थे, और उसी आदर्श पर मूर्त्तियाँ बनने लगी थीं। एक मूर्त्ति में योगासीन देवता के दोनों ओर नाग और मनुष्य इस मुद्रा में अंकित हैं जिससे उनकी भक्ति-भावना प्रत्यक्ष अभिव्यक्त होती है। लिंग और योनि-पूजा का भी प्रचलन था। मार्शल साहब के विचार में हिन्दू-धर्म के अनेक लक्षण हरप्पा-संस्कृति और धर्म से ही उत्पन्न हैं। प्रश्न यह है कि तब क्या वैदिक आर्य मूर्त्तिपूजक थे? इसपर प्रसिद्ध विद्वानों में गहरा मतभेद है। कीथ (Keith) और मैकडोनेल (Macdonnel) साहब का मत है कि वैदिक आर्य मूर्त्ति की पूजा नहीं करते थे वे प्रकृति की शक्तियों की पूजा करते थे, जिनकी मानवाकार मूर्त्तियों का प्रचलन उस समय नहीं था। यह सत्य है कि वेद में इन्द्र, वरुण, सूर्य, अग्नि प्रभृति देवताओं की स्तुतियों में उनके विभिन्न मानवोचित अंगों का उल्लेख किया गया है; पर यह सिर्फ उन देवताओं के विशिष्ट कार्यों को समझने के लिए उपलक्षित आधार-मात्र है और उनके प्राकृतिक रूप के कुछ लक्षणों के प्रतिरूप मात्र है। उन्हें भिन्न-भिन्न देवताओं की पहचान के लिए विभिन्न आयुध और सवारी (वाहन) का सहारा लेना पड़ा। इस विचार के विरुद्ध बौलेन्सन (Bollensen) और एस्० वी० वेंकटेश्वर ने अपना दृढ़ विचार प्रतिपादित किया है[1] कि वैदिक आर्य मूर्त्तिपूजा करते थे, और देवताओं की मूर्त्तियाँ बनती थीं। ऋग्वेद में ही इन्द्र की मूर्त्ति का उल्लेख और मूर्त्ति के क्रय-विक्रय का अभिप्राय स्पष्ट है। रुद्र की चित्रित मूर्त्तियाँ, सुवर्ण-शरीरस्त्राण पहने वरुण और देवताओं के वर्णन में रूप, वपु और तनु का उल्लेख है, जिससे स्पष्ट है कि वैदिक काल में देवताओं की मूर्त्तियाँ बनती थीं। 'अश्रीरम् चित् कृणुथा सुप्रतीकम्।'[2] और 'इन्द्रस्य कर्त्ता स्वस्तमोभूत्'[3] से देवता की सुन्दर मूर्त्तियों का अभिप्राय प्रकट होता है। वेंकटेश्वर के विचार में तो 'ऋग्वेद' में मन्दिरों का भी उल्लेख है।

इस प्रसंग में यह तो सर्वविदित है कि वैदिक आर्यों के धार्मिक विश्वासों में यज्ञों की प्रधानता थी। यदि ये यज्ञ और क्रियापद्धतियाँ देवता की मूर्त्ति के सामने सम्पन्न होती थीं तब तो जिन स्थलों पर इनका वर्णन आया है, वहाँ मूर्त्ति, देवता की प्रतिमा का भी उल्लेख होना चाहिए था, पर ऐसा नहीं है। वैदिक धर्म और साहित्य के गम्भीर अध्ययनकर्त्ता

---

१. विस्तारपूर्वक विचार के लिए देखिए—*J. R. A. S.; 1916-18; Muir-Original Sanskrit tests V; Rupaen, 1930; Elements of Hindu Iconography pp. 3 ff.*

२. ऋग्वेद : मं० ६ सूक्त ३८ मं० ६।

३. ऋग्वेद : मं० ४, सूक्त १७, मं० ४।

मैकडोनेल साहब का कहना है—'मैं निश्चयपूर्वक यह कहने के लिए तैयार हूँ कि ऋग्वेद की जिन क्रियाओं पर मूर्त्तिपूजा का विचार आधारित है, उन क्रियाओं में भी देवता की प्रतिमाओं का स्पष्ट उल्लेख नहीं है।'[1] यह भी याद रखना चाहिए कि यास्क (सम्भवत: ५०० ई० पूर्व) ने भी वैदिककाल में देव-मूर्त्तियों की पूजा होती थी या नहीं, इन दोनों विरोधी विचारों का उल्लेख किया है। इससे भी यही अनुमान निकलता है कि ५०० ई० पू० तक भी यह प्रश्न विवादास्पद था। सम्भवतः कुछ लोग जो मूर्त्ति-पूजा अपना चुके थे, वेदों से अपने धार्मिक विश्वास और पूजा की पुष्टि करना चाहते थे। पर, यह भी स्पष्ट है कि यास्क के समय तक वैदिक देवताओं की जो निश्चित आकृतियाँ या रूप हमें पुराणों अथवा महाकाव्यों में मिलते हैं, वे तबतक वैदिक देवताओं के रूप के निश्चित अंग नहीं बन सके थे। श्री रमाप्रसाद चन्दा ने लिखा है—"This discussion clearly shows that upto the time of Yaska which synchronises with the last phase of the Vedic period the Vedic gods had not been invested with the forms in which they appear in the Epics and the Puranas"[2]। इस मत के पक्ष में यह कहा जा सकता है कि वैदिक ऋषि बुद्धिवादी, दार्शनिक थे, जिनका मस्तिष्क कल्पना की उड़ान में स्वच्छन्द था; वे ऐसे कलाकार नहीं थे जो अपनी कल्पित धारणा को यथास्थित मूर्त्त रूप देकर कैद कर लेते थे। BlocmeFiel ने कहा है—'वैदिक ऋषि का मस्तिष्क सदा गतिमान् रहता है, तर्क करता रहता है और देवताओं के रूप या विशिष्ट लक्षणों को बदलता रहता है। ऐसी दशा वैदिक काल के अंत तक रहती है, इसलिए इस अनिश्चित आधार पर कलाकार के हाथ किस प्रकार टिक सकते थे।'[3]

यहाँ हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि वैदिककाल में उच्चवर्गीय आर्यों के अतिरिक्त साधारण निम्न वर्ग के भी लोग थे, जिनके धार्मिक विश्वास और कर्म उच्च आर्यों से भिन्न थे। यह बराबर से देखा गया है कि उच्च वर्ग और निम्न वर्ग के बीच जीवन-स्तर का ही नहीं, विचार, विश्वास और कर्म का भी भेद रहता है। फिर, हम यह निश्चित रूप से जानते हैं कि वैदिक आर्यों के आगमन के पहले भारत में आर्येतर सभ्यता का प्रचार था, जिसके धर्म का रूप वैदिक आर्यों के धर्म के रूप से मूलत: भिन्न था। ऋग्वेद में इन अवैदिक धर्म के माननेवालों को कई नाम से पुकारा गया है, जैसे—'शिश्नदेवा: मूरदेवाः' इत्यादि। इनसे कुछ विद्वान् लिंगपूजक और मूर्त्तिपूजक का अनुमान लगाते हैं। मूरदेवों से विल्सन (Wilson) साहब 'Vain gods or senseless gods' का अर्थ

१. *J. R. A. S, 1918, p. 526.*

२. *M. A. S. I. No. 30 p. 2*

३. The mind of the Vedic poet is the rationalistic mind of the ruminating philosopher, rather than the artistic mind which reproduces the finished product. It is engaged too much in reasoning about and constantly altering the wavering shapes of gods, so that these remain to the end of Vedic time too uncertain and fluid in substance for the modelling hand of the artist".
—*Religion of the Veda*'

समझते हैं। शायद इसका अर्थ था—प्राकृतिक पदार्थों को देवता मानकर पूजना—यानी वृक्ष, पत्थर आदि की पूजा, जिसे Animism कहा जाता है। पटना कालिज के भूतपूर्व संस्कृत-प्राचार्य डा० अनन्त बनर्जी शास्त्री के विचार में 'मूरदेवों' से मूर्तिपूजकों का अभिप्राय है और 'मूरदेव'-जाति पर्यायवाची शब्द है जिससे 'मौर्य' और 'मूर्ति' निकले। मूर्ति 'मूर' शब्द से बनी। इस प्रकार मूरदेवाः प्रथम मूर्तिपूजक थे,[1] जो सम्भवतः मोहनजोदड़ो में शिव के साथ-साथ साँड़ और अन्य जानवरों की पूजा करते थे। पतञ्जलि ने मौर्यों को मूर्ति बनाकर बेचनेवाला कहा है और बिहार में यक्ष और यक्षिणियों की मौर्यकालीन प्रतिमाएँ भी मिली हैं। इस विचार में कुछ भी तथ्य है तो वह है बिहार और उसके पड़ोसी भाग का मूर्तिकला के आरम्भ से घनिष्ठ सम्बन्ध। ए० सी० दास (A. C. Das) भी 'Rigvedic culture में 'मूरदेवाः' से देवता की मूर्त्तियों का ही अभिप्राय मानते हैं जो वास्तव में देवता न होकर भी वे मूर्त्तियाँ अवास्तविक या झूठा देवता मानी जाती थीं।

अतः उच्चवर्गीय वैदिक आर्यों का इन जातियों के धार्मिक विश्वासों से सम्पर्क रहा, और आगे चलकर शनैः-शनैः आर्यधर्म में इन विचारों और विश्वासों का समावेश हुआ। श्री बनर्जी[2] के विचार में वैदिक साहित्य के अन्तिम भाग की रचना होते-होते वैदिक उच्च आर्यों ने मूर्त्तियों और मंदिरों को अपने धर्म का अंग मान लिया। तैत्तिरीय संहिता के अनुसार अग्निवेदी की नींव में एक सुवर्ण-कमलपत्र, सुवर्ण-चक्र और एक सुवर्ण-पुरुष (हिरण्यपुरुष) डाल दिया जाता था। डा० ब्लॉक ने लौरिया नन्दनगढ़ में एक प्राचीन क़ब्र की खुदाई से एक सुवर्णपत्र पर एक नग्न स्त्री-मूर्त्ति अंकित पाई थी। यह मौर्यकाल से पहले की है। इसी प्रकार सुवर्णपत्र पर अंकित नारी-मूर्त्ति पिपरावा-स्तूप की अवशेष-मञ्जूषा में मिली है। उत्तर वैदिक काल में मूर्त्ति और मन्दिर आर्यों के धार्मिक जीवन के साधारण अंग बन गये थे। ब्राह्मणों, आरण्यकों के 'खिलों' (परिशिष्ट) में और गृह्यसूत्रों में मन्दिरों और मूर्त्तियों का जो उल्लेख आया है उससे पता चलता है कि इनका महत्त्व उन दिनों बढ़ा-चढ़ा था। 'षड्विंश ब्राह्मण' में मन्दिरों का हिलना, देवमूर्त्तियों का आँख बन्द करना और खोलना, उनसे पसीना बहना, उनका नाचना और फटना—बुरे शकुनों के बुरे परिणामों का द्योतक माना गया है। 'पारस्कर-गृह्यसूत्र' में स्नातक को देव-प्रतिमा के नजदीक जाते समय रथ से उतरने का आदेश दिया गया है।

उपनिषदों में 'भक्ति' का महत्त्व बताया गया है। अपने इष्टदेव के प्रति असीम श्रद्धा, प्रेम तथा उसकी पूजा करना भक्ति है। ऋग्वेद की अंतिम ऋचाओं में जिस श्रद्धा से वरुण और वाक् की स्तुति की गई है और वे जिस प्रकार अपने भक्तों को आशीर्वाद दे रहे हैं, उससे भक्ति-भावना की ही अभिव्यक्ति होती है। स्वर्गीय कीथ (Keith) ने लिखा है—"The thought of India started from a religion which had in Varuna a god of decidedly moral character and the simple worship

---

१. *Indian Historical Quarterly, Vol. XII, 1936, pp. 335-41.*
विष्णु को मुरारि कहा जाता है, क्या इसे विष्णुपूजक आर्यों की आर्येतर मुरों पर विजय का द्योतक माना जाय?

२. *Elements of Hindu Iconography, p. 61.*

of that deity with its consciousness of sin and trust in the divine forgiveness in doubtless one of the first roots of. Bhakti"[1] "भारतीय विचारधारा ऐसे धर्म से निकली, जिसमें वरुण निश्चय ही एक ऐसे देवता थे, जिनका नैतिक आधार था। इस देवता की पूजा इस विश्वास से की जाती थी कि पाप तो है, पर देवता इसे माफ करेंगे। यह भक्ति का प्रथम मूलाधार है।" इन्द्र और उसके भक्तों के बीच भी ऐसे ही भावों की अभिव्यक्ति थी। इन्द्र की अपरिमित उदारता पर भक्तों का पूर्ण विश्वास था, किन्तु अभी भक्ति-भावना का अरुणोदय ही था, और यज्ञ-प्रधान देवता सोम और अग्नि के सामने वरुण फीके दीखते हैं। इसलिए, भक्ति और मूर्त्तिपूजा का स्वाभाविक विकास वैदिक काल के प्रथम चरण में नहीं हो सका। उपनिषदों में एक ही सार्वभौम ईश्वर की कल्पना की गई है और अन्य देवताओं को उनके ही विशिष्ट गुण या कर्मों का रूप माना गया है। भक्ति और इष्टदेव की मूर्त्ति-पूजा के विकास के लिए यह एक अनिवार्य आधार था। पीछे चलकर पुराणों, महाकाव्यों और बौद्ध 'साधनमाला' में भी इसी भाव की अभिव्यक्ति है। भक्त के लिए उसका इष्टदेव ही या देवी ही सार्वभौम ईश्वर है, अन्य उसकी शक्ति के भिन्न-भिन्न रूप हैं। इसी भावना को स्थूल रूप देने के प्रयास में ही देवी-देवताओं के अनेक सिर, हाथ, आयुध और मुखाकृति की कल्पना की गई। पर ध्यान देने योग्य बात यह है कि इस एक रूप की बहुरूपता की भावना को 'ऋग्वेद' में ही प्रकट किया गया है। एक ही ईश्वर में अन्य सभी देवी-देवताओं के विलयन का गूढ़ सत्य-सिद्धान्त इस मन्त्र में पूर्णतया स्पष्ट है—

'इन्द्रम् मित्रम् वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकम् सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निम् यमम् मातरिश्वानमाहुः॥"
(ऋग्वेद, १।१६४।४६)

श्वेताश्वतर उपनिषद् में 'भक्ति' शब्द का उल्लेख आया है। इस वातावरण में देवता की प्रतिमा की पूजा की प्रतिष्ठा स्वाभाविक थी। उपनिषदों में ईश, ईश्वर, परमेश्वर, रुद्र, शिव और महेश्वर का उल्लेख हुआ है। पुराणों और महाकाव्यों में अपने वैदिक देवताओं की उपेक्षा कर उन्हें दिक्पाल के रूप में माना गया है। अन्य देवता की तरह रुद्र, शिवप्रधान माने गये। महापुरुषों को भी देवता का दर्जा मिला। राम, कृष्ण, अर्जुन, गौतम बुद्ध, महावीर प्रभृति नरपुंगव ही थे, जिन्हें देवता माना गया, और जिनकी प्रतिमाएँ बनीं। बहुत संभव है कि जब इन देवताओं की प्रतिमाएँ बनने लगीं, तब उन्हें साधारण निम्नस्तर के आर्य या आर्येतर जातियों की देव-प्रतिमाओं के ही आदर्श पर गढ़ा गया हो। यक्ष-मूर्त्तियों की पूजा होती होगी। योगासीन मुद्रा भी हरप्पा-काल से ही आ रही थी। गौतम बुद्ध, विष्णु, जैन तीर्थङ्करों की कायोत्सर्ग मूर्त्तियाँ (समभंग मूर्त्तियाँ) यक्ष-यक्षिणी की खड़ी मूर्त्तियों के आदर्श पर ही बनी होंगी। यह ठीक है कि मौर्यकाल के पहले की मूर्त्तियाँ अत्यन्त विरल मिलती हैं। यूनानी लेखक क्यूरिटस् कर्टियस् (Quintus Curtius) ने लिखा है कि

---

1. *J. R. A. S; 1915 p. 834.*

सिकन्दर के विरुद्ध लड़ाई में पोरस की सेना के आगे हरकुलस् (Hercules—वासुदेव) की मूर्त्ति ले जाई गई थी। अशोक ने चतुर्थ शिलालेख में विमान-हस्ति और अन्य दिव्य रूपों के प्रदर्शन का उल्लेख किया है। बहुत सम्भव है कि वे काठ की बनी हों जो बाद में नष्ट हो गईं। ऋग्वेद में स्वर्ग और पृथ्वी को लकड़ी का बना ही बताया गया—
"किंस्विद्वनम् क उ स वृक्ष आस व्यतो द्यावा पृथिवी निष्टतक्षुः' (ऋग्वेद)—१०।८१।४।"
लकड़ी की प्रतिमा बनाने की परम्परा का आदर 'बृहत् संहिता' में किया गया है। इसके 'वनसम्प्रवेशाध्याय' में किस प्रकार जंगल से कैसी लकड़ी काटी जाय, किन-किन धार्मिक विधियों का पालन किया जाय, जिससे देवी-देवताओं की प्रतिमा बनाई जाय, का उल्लेख है। भविष्यपुराण में नारद जब साम्ब को प्रतिमा-निर्माण के नियम बताते हैं, तब पहला स्थान काठ की बनी प्रतिमाओं को ही देते हैं। 'विष्णुधर्मोत्तरपुराण' में मन्दिर और प्रतिमा बनाने के लिए लकड़ी की पहचान के लिए एक पूरा अध्याय ही है। 'देवालयार्थं दारुपरीक्षणम्' इससे इस अनुमान की पुष्टि होती है कि पहले काठ की ही प्रतिमा बनती थी। इसी कारण इस परम्परा का आदर बराबर होता रहा, यद्यपि उस काल में पाषाण और धातुओं की बनी प्रतिमाओं का प्रचलन रहा।

मूर्त्तिपूजा और मूर्त्तिकला के विकास के लिए यह जरूरी नहीं था कि तुरन्त ही देवताओं की मानव-आकृति-युक्त प्रतिमाएँ बनने लगी हों। वैदिक आर्य उच्चवर्गीय आर्य साधारणतः मूर्त्ति-पूजक नहीं थे, और जब कालान्तर में उनपर समकालीन मूर्त्ति-पूजक जातियों का प्रभाव पड़ा, तब वे कुछ हद तक देवताओं की प्रतिमा के रुक्ष रूप को, अभिचार (Fetish) के रूप में, महत्त्व देने लगे। लौरिया-नन्दनगढ़ में कब्र में मिली, सुवर्ण-पत्र पर उत्कीर्ण, रुक्षमूर्त्ति का अभिप्राय 'अभिचार' ही रहा होगा। पीछे चलकर जब 'भक्ति' का महत्त्व आर्यधर्म पर छाने लगा, तब इष्टदेव की पूजा के निमित्त स्थूल साधनों की आवश्यकता पड़ी, और उन्हें विशिष्ट लक्षणों के द्वारा बिलगाव किया जाने लगा। इसलिए, विशिष्ट लक्षण, वाहन या आयुधों के माध्यम से देवता का अभिप्राय सिद्ध किया जाने लगा। जैसे त्रिशूल या वृष या दोनों से शिव का और चक्र से सूर्य और बाद को विष्णु का संकेत हुआ। यह पहले ही बताया जा चुका है कि भारतीय धार्मिक कला सांकेतिक है। यद्यपि वेदों में देवताओं की मानव-प्रतिमा स्पष्ट नहीं है, तथापि वेदों से भारतीय मूर्त्ति-विज्ञान ने बहुत कुछ लिया है। विस्तृत आकाश में विचरनेवाले सूर्य को सुन्दर पंखयुक्त पक्षी—सुपर्ण—माना गया, या तेज दौड़नेवाला अश्व। सूर्य की मूर्त्तियों में इस भावना को ही स्थूल आधार दिया गया। वेद में कई बार अग्नि की 'वृष' से तुलना की गई है और 'वृष' कहा गया है। अग्नि और रुद्र का घनिष्ट सम्बन्ध है और पीछे चलकर शिव का वाहन वृष माना गया। इसी प्रकार इन्द्र का वाहन 'हाथी' मानकर इन्द्र की प्रतिमा का रूप निश्चित हुआ। विश्वकर्मा (ब्रह्मा) को वेद में सभी दिशाओं की ओर देखनेवाला और सभी तरफ हाथ फैलानेवाला कहा गया है। जब ब्रह्मा की प्रतिमा बनने लगी, तब इसी भाव को ही आधार मानकर उन्हें चारों दिशाओं में सिर दिया गया; क्योंकि वे सभी दिशाओं की ओर देखने में समर्थ थे। इस प्रकार ब्रह्मा को चार मुखों और चार हाथों

से युक्त किया गया। इस प्रकार वैदिक साहित्य ने मूर्त्ति-विज्ञान पर अपना प्रभाव छोड़ा है। मैकडोनल ने ठीक ही कहा है—"Religious art of ancient India was very much influenced by literature"[1] प्राचीन भारत की धार्मिक कला साहित्य से अत्यन्त प्रभावित हुई है।

पाणिनि, जिनका समय चन्द्रगुप्त मौर्य के पहले अवश्य ही था, मूर्त्तियों का उल्लेख करते हैं। पाणिनि ने मूर्त्तियों के लिए 'अर्चाः' शब्द का व्यवहार किया है, जिसका अभिप्राय था—जिनकी पूजा होती है। 'जीविकार्थे चापण्ये' (५-३-९९) से यह स्पष्ट हो जाता है कि कुछ मूर्त्तियों से जीविका चलती थी; पर उन्हें बेचा नहीं जाता था। पर कुछ मूर्त्तियाँ मंदिरों या खुले स्थानों में प्रतिष्ठित की जाती थीं और जिनकी पूजा की जाती थी। इनका व्यापार नहीं होता था और न किसी वर्गविशेष की इनसे जीविका ही चलती थी। मूर्त्तिपूजा का भक्तिपंथ के विकास से घनिष्ठ सम्बन्ध था, यह तब प्रत्यक्ष हो जाता है जब पाणिनि देव-प्रतिमाओं का उल्लेख करते हैं। वे वासुदेव और अर्जुन के प्रति भक्ति का भी उल्लेख करते है (४-३-७८)। पतञ्जलि ने स्पष्ट कहा है कि यहाँ वासुदेव किसी क्षत्रिय का नाम नहीं है, बल्कि यह कृष्ण का एक नाम है जिनके भक्त को वासुदेवक कहा जाता था (४-३, ९५-१००)।

पतञ्जलि ने तो स्पष्ट ही देव-मूर्त्तियों का उल्लेख किया है। इसने लिखा है कि मौर्यों ने सोने के लोभ के लिए देव-प्रतिमाओं को प्रतिष्ठित किया—"मौर्यैः हिरण्यार्थिभिः अर्चाः प्रकल्पिताः" (५-३-९९, भाष्य, २-४२९)। अर्चा शब्द का अर्थ देव-प्रतिमा ही होता है।[2] ऐसी देवमूर्त्तियों का अभिप्राय पूजा, व्यापार, जीविका आदि था। मौर्यों ने इन मूर्त्तियों को इसीलिए प्रतिष्ठित किया था कि लोग इन्हें खरीदें, इनकी पूजा करें, और इनपर श्रद्धाञ्जलि के रूप में जो उपहार दें, उनसे मौर्य-कोश की अभिवृद्धि हो।

पतञ्जलि की पुष्टि कौटिल्य अर्थशास्त्र से हो जाती है। दुर्गनिवेश-प्रकरण में उन्होंने अनेक देवी-देवताओं के मंदिरों (गृह) की स्थापना का उल्लेख किया है। "अपराजिता-प्रतिहतजयन्तवैजयन्तकोष्ठकान् शिववैश्रवणाश्विश्रीमदिरागृहं च पुरमध्ये कारयेत्। कोष्ठकालयेषु यथोद्देशं वास्तुदेवताः स्थापयेत्। ब्राह्मैन्द्रयाम्यसैनापत्यानि द्वाराणि। बहिः परिखाया धनुश्शताविकृष्टाश्चैत्यपुण्यस्थानवनसेतुबन्धाः कार्याः, यथादिशं च दिग्देवताः"।[3] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कौटिल्य के समय में, (३५० ई० पूर्व) अपराजिता (दुर्गा), अप्रतिहत (विष्णु), जयन्त (कार्त्तिकेय), वैजयन्त (इन्द्र), शिव, वैश्रवण (कुबेर), श्री मदिरा[4] की प्रतिमाएँ अलग-अलग मन्दिर में प्रतिष्ठित की जाती थीं। यही नहीं, भिन्न-भिन्न कोनों में वास्तुदेवता भी विधिवत् प्रतिष्ठित किये

---

१. *J. R. A. S. 1906. p 129*

२. *India as known to Panini—V. S. Agarwal. p. 361. note.* 1.

३. कौटिल्य-अर्थशास्त्रम् (गणपति शास्त्री), २, ४, अध्याय २५, पृ० १२९।

४. कौटिल्य-अर्थशास्त्रम्, (*J. Jolly and Schmidt, Edition*),—भाग २ पृ० १६, में श्रीमदिरागृहं का संशोधन कर श्री मन्दिरगृहं मान लिया गया है

जाते थे। चारों मुख्य द्वार को ब्राह्म, ऐन्द्र, याम्य और सैनापत्य का नाम दिया गया है। बहुत सम्भव है कि उनकी मूर्त्तियाँ या उनके प्रमुख संकेतों या वाहनों की मूर्त्तियाँ द्वार पर बनाई गई हों। मूर्त्तिप्रतिष्ठित मन्दिरों को हम चैत्य, या प्राकृतिक वृक्षों या पत्थरों की पूजा का स्थान नहीं मान सकते ; क्योंकि कौटिल्य अर्थशास्त्र में चैत्य और पुण्यस्थान को अलग-अलग बताया है। यक्षों का उल्लेख तो पाणिनि ने भी किया है—शेवल, सुपरि, विशाल, वरुण और अर्यमा।[१] पीछे चलकर बौद्धों ने भी यक्षों की पूजा अपना ली और हमारी प्राचीन प्रस्तर-मूर्त्तियों में यक्षों की विशाल मूर्त्तियाँ पटना के समीप ही मिली थी जो आज भारतीय संग्रहालय, कलकत्ता की शोभा बढ़ा रही है। कौटिल्य ने द्वितीय अधिकरण के पाँचवें प्रकरण में सन्निधाता (Chamberlain) के कर्त्तव्यों की विवेचना की है। उसमें उन्होंने कोशगृह, पण्यगृह, कोष्ठागार, कुप्यगृह, आयुधागार और बन्धनागार (जेल) के निर्माण का वर्णन किया है। वहाँ भी उन्होंने अन्य आवश्यक अंगों के साथ 'देवतापिधानम्' का उल्लेख किया है। श्री गणपति शास्त्री ने इसका सही तात्पर्य यह माना है कि उत्कीर्ण देवता की प्रतिमा की उपयुक्त मन्दिर में प्रतिष्ठा और पहनावा।[२] कौटिल्य अर्थशास्त्र के पाँचवें अधिकरण के द्वितीय अध्याय में संकटकाल में राज्यकोष की वृद्धि के उपाय बताये गये हैं। इससे यह पता चलता है कि देवताध्यक्ष नामक एक उच्च अधिकारी के जिम्मे देवता-सम्बन्धी विभाग था। वह मन्दिरों और संघों की देखभाल करता था, उनकी सम्पत्ति पर निगरानी रखता था। कौटिल्य ने राज्य-आय की वृद्धि के लिए देवताध्यक्ष को अनेक अवांछनीय तरीकों को अपनाने की सिफारिश की है। इसमें देवता को एक रात्रि में प्रतिष्ठित किया जाना चाहिए। इसकी पूजा से जो धन एकत्रित हो, उसे राज्यकोष में रख आना चाहिए। वृक्षों के खोढ़र में चुपचाप देवता की प्रतिमा रख कर आयरूपी देवता के आविर्भाव की घोषणा करनी चाहिए। नागदेव की

'श्री' से लक्ष्मी का अभिप्राय माना गया है और मन्दिरगृह से मन्दिर (*temples*) का। पर, मन्दिर के साथ गृह का प्रयोग बेकार-सा लगता है। इसलिए, श्री-मदिरागृहं पाठ ही हमने माना है। *Sham Shastry* ने इसका अनुवाद *Honourable Lequor House* किया है। (देखिए—*Kautilya's Arthasastra by Sham Shastry, 1919. p. 61*) मदिरा, वरुणदेव की पत्नी वारुणी का एक नाम था (*Dowson, Hindu Classical Dictionary, p. 183*)। मेकडोनल साहब के विचार में मदिरा दुर्गा का एक नाम था। (*Practical Sanskrit Dictionary; p. 215*)। मोनियर विलियम्स साहब मदिरा को दुर्गा का एक नाम मानते हैं, और वसुदेव की एक पत्नी का नाम भी 'मदिरा' बताते हैं (*Monier Williams —Sanskrit-English Dictionary, p. 735*)। अतः यह स्पष्ट है कि कौटिल्य के समय में 'मदिरा' नाम से मातृदेवी की प्रतिमा मंदिर में प्रतिष्ठित होती थी।

१. *India as known to Panini; p. 364*

२. कौटिल्य-अर्थशास्त्रम् भाग १, पृष्ठ १३२, टिप्पणी—देवतापिधानम् उत्कीर्णदेवता प्रतिमाङ्कविधानदार्वादिमयमाच्छादनम्।

प्रतिमा का भी उल्लेख किया गया है।[1] इन सब उद्धरणों से यह अनुमान दृढ़ हो जाता है कि मौर्यकाल में अनेक देवी-देवताओं की प्रतिमाएँ पूजार्थ प्रतिष्ठित की जाती थीं और इनके अलावा वृक्ष, देवी-देवता और नागों की भी पूजा होती थी। नागदेव की प्रतिमा का भी व्यवहार होता था। यक्ष और यक्षिणी की प्रतिमाएँ पटना और मथुरा तथा विदिशा के समीप मिली हैं। मौर्यकाल के पहले की प्रतिमाएँ नहीं मिलीं : कारण, सम्भवतः वे काठ की बनी हों। इसी प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि बौद्ध दन्तकथा के आधार पर बौद्ध आचार्य 'उपगुप्त' ने 'मार' के आगे सर झुकाया था; क्योंकि उसने यक्ष बनकर बुद्ध की आकृति धारण की थी। उपगुप्त से जब इस विषय में प्रश्न किया गया, तब उन्होंने जवाब दिया कि "जिस तरह लोग अमर देवदूतों की मिट्टी की प्रतिमाओं की पूजा करते हैं; वे मिट्टी की पूजा न कर उन देवताओं की अर्चना करते हैं, जिनका प्रतिनिधित्व वह मृत्तिका-प्रतिमा करती है। इसी प्रकार उन्होंने 'मार' के रूप में 'बुद्ध' की पूजा की है।" इससे मूर्त्ति-पूजा के प्रचलन और उसके आधारभूत सिद्धान्त के विषय में सन्देह करना मुश्किल हो जाता है।

इस प्रकार प्रतिमा-पूजन की परिपाटी प्राचीन भारतीय है। बुद्ध-धर्म में इसका आविर्भाव कालक्रम से होना स्वाभाविक था। इस ओर प्रगति भी हो रही थी। प्रसिद्ध विद्वान् वोगेल (Vogel) ने एक किंवदन्ती का उल्लेख किया है। नाग महाकाल के विषय में यह कहा गया है कि अशोक की प्रार्थना पर उन्होंने गौतम बुद्ध और उनके दो पूर्वज बुद्धों की विशाल मूर्त्तियाँ बनाई थीं।[2] इस कथा का कोई प्रामाणिक आधार नहीं है; पर यह बुद्ध की प्रतिमा के विकास की परम्परा की ओर संकेत करता है, और शुंगकालीन कला से यह संकेत और भी दृढ़ हो जाता है। पीछे चलकर देव-प्रतिमा का महत्त्व जनसाधारण के लिए अत्यधिक हो गया और बौद्ध, हिन्दू और जैन—सभी धर्मों में मूर्तिपूजा एक आवश्यक अंग बन गई। ब्रह्मवैवर्तपुराण के अनुसार मूर्त्ति, धर्म की पत्नी है और इसका रूप अत्यन्त प्रकाशवान् और आकर्षक है। मूर्त्ति के विना विश्व के कण-कण में व्याप्त रहनेवाला पूर्णब्रह्म परमात्मा निराधार हो जायगा।[3] हाँ, मूर्त्ति की यह महत्ता धीरे-धीरे ही फैली और मूर्त्ति का विकास-क्रम इतिहास के धुँधले भूतकाल में ही दिखाई पड़ता है। इसमें जरा भी शक नहीं है कि बुद्ध के व्यक्तित्व के प्रति अगाध प्रेम और आदर की भावना ने ही बौद्ध-कला को प्रेरणा और जीवनी-शक्ति दी है। फ्रांसीसी विद्वान् शावेनीज (Chavannes) ने कहा है कि बौद्ध-कला की श्रेष्ठता इसी में है कि 'मानव-शरीर को धार्मिक और नैतिक महत्त्व दिया गया।' बुद्ध मानव थे और उनकी मूर्त्ति भी मानव-आकृति की बनी; पर बुद्ध को देव-तुल्य मानकर उनकी मूर्त्ति में आध्यात्मिक कान्ति प्रकट की गई।

१. वही; भाग २, पृ० १६६–१६७

२. '*Indian Serpent-lore*' *by J. Ph. Vogel; p. 23.*

३. *Quoted in 'The Social Function of Art' (R. N. Mookerjee); page IV*

हीनयानी बौद्ध-धर्म में मूर्त्ति-पूजा का अभाव है। फिर भी कलाकारों ने अपनी स्वाभाविक प्रतिभा और जनसाधारण के धार्मिक विश्वासों के आदरार्थ बौद्ध स्तूप और चैत्यों की रेलिंग पर यक्ष-यक्षिणियों, देवताओं, नागों आदि की मूर्त्तियाँ बनाईं। बुद्ध के जीवन-वृत्त के चित्रों में, और जातक-कथाओं के चित्रण में भी, नर-नारियों को चित्रित किया गया। कलाकारों ने सिद्धान्ततः बुद्ध की मूर्त्ति नहीं बनाई; पर वज्रासन या बोधिवृक्ष, चरणकमल; हस्ति या अश्व प्रभृति अनेक संकेतों से बुद्ध के अस्तित्व को प्रत्यक्ष किया। बोधगया-मन्दिर के प्राचीन रेलिंग पर खुदे दृश्यों से यह स्पष्ट है। शालभंजिका और अन्य यक्ष-यक्षिणी-मूर्त्तियों का महत्त्व धार्मिक ही था। इनका इतना सौहार्दपूर्ण और सचेत चित्रण मूर्त्ति-पूजा के विकास में अग्रिम कदम है। हम बता चुके हैं कि मूर्त्ति का निर्माण और भक्तिभावना का उदय—दोनों का एक-दूसरे से अविच्छिन्न सम्बन्ध है और भारत में भक्ति-भावना का स्रोत कुछ विद्वान् वेदों और उपनिषदों में भी पाते हैं। अपने इष्टदेव के प्रति अखण्ड श्रद्धा, उनकी पूजा और अभ्यर्थना भक्त का प्रथम कर्त्तव्य है। इस प्रकार अपने इष्टदेव पर अपना ध्यान केन्द्रित करने और उसके प्रति भक्ति-प्रदर्शन के लिए भक्त को अपने भगवान् की मूर्त्ति की आवश्यकता या उपयोगिता प्रत्यक्ष हुई तथा भक्ति-पंथ के उदय और विकास के साथ-साथ मूर्त्ति-निर्माण स्वाभाविक हो गया।

'भिलसा' के निकट 'हेलिओडोरस्' का गरुडस्तम्भ भागवत (वैष्णव)-धर्म के उदय का ठोस स्मारक है, जिसका समय ईसा से पूर्व पहली सदी माना गया है। एक विदेशी यवन (Greek) ने भागवत-धर्म की दीक्षा ली, इससे यह निश्चित है कि इसके बहुत पहले ही भागवत-धर्म ने सन्तोषप्रद प्रगति कर ली थी। इसलिए, यह भी सम्भव है कि बहुत पहले ही भक्त अपने इष्टदेव की प्रतिमा या उसके लक्षणों के मूर्त्त रूपों की पूजा करता रहा हो। हीनयानी बौद्धधर्म में भी कालान्तर में बुद्ध के प्रति भक्ति-भावना का स्वाभाविक उदय हुआ। भरहुत, बोधगया और साँची की वेष्टन-वेदिकाओं पर बोधिवृक्ष या वज्रासन की जिस भक्ति-भावना से आराधना करते हम पशु या नर-नारियों को देखते हैं, उससे यह संकेत मिलता है कि इन भक्तों के ध्यान में बुद्ध की ही मूर्त्ति है। शिल्पियों ने इस भावना को यद्यपि पूर्ण मूर्त्त रूप नहीं दिया है, तथापि वे इस ओर प्रगतिशील थे, ऐसा प्रत्यक्ष है। बुद्ध के जीवन की कहानियाँ पहले-पहल यूनानी-रोमन-कलाकारों ने ही चित्रित किया, यह एक भ्रान्तिमूलक विचार है। भारतीय कला की परम्परा में बुद्ध के जीवन-चित्रों का प्रचुर स्थान है। भरहुत में बुद्ध का, अपनी माँ को दीक्षित करने के बाद तुषित-लोक से धरती पर आने का, चित्र है। इस चित्र में हम स्वर्ग से पृथ्वी पर आने के लिए सीढ़ी लगी देखते हैं, जिसके एक उपरले डंडे और सबसे निचले डंडे पर बुद्ध के पदचिह्न भी अंकित हैं। इस चित्र में बुद्ध के नीचे उतरने का कार्य प्रत्यक्ष दिखाया गया है, यद्यपि बुद्ध की मूर्त्ति नहीं है।[1] इन उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि बौद्ध कलाकार बुद्ध की मूर्त्ति नहीं बनाने के आदेश को मानते हुए भी ऐसी दिशा में बढ़ रहे थे, जिससे बुद्ध का मूर्त्ति-निर्माण काल-क्रम में स्वाभाविक हो गया।

---

1. चित्र-संख्या—६०

बोधगया की रेलिंग पर हाथियों के द्वारा भक्तिपूर्वक स्तूप की पूजा प्रभावोत्पादक है।[1] इसी प्रकार हिन्दू-देवी-देवताओं का भी उनके विशिष्ट चिह्न, संकेत या लक्षणों के माध्यम से बोध कराया गया है। प्राचीन भारतीय आहत और ढलुवे (Punch-Marked and Cast) मुहरों पर भी विविध प्रकार के चित्र पाये गये हैं। इसलिए, श्री कुमारस्वामी का यह समझना कि इन चित्रों के धार्मिक महत्त्व हैं, ठीक है। कुषाण, गुप्त-सम्राटों और बैक्ट्रियन यूनानी सिक्कों पर देवी या देवता ही उत्कीर्ण हैं। पर, इनसे पहले के आहत या ढाले गये सिक्कों पर हम संकेत ही पाते हैं। इन सिक्कों के समय के बारे में विद्वानों में गहरा मतभेद है, पर ऐसा मानना तर्क-संगत होगा कि कम-से-कम ५०० ई० पूर्व में तो इनमें से कुछ जरूर ही प्रचलित रहे होंगे। इन सिक्कों पर कठघरे के बीच वृक्ष, चन्द्रमा, पहाड़ी चैत्य, खम्भा और साँड़ प्रमुख है। मोहनजोदड़ो की मुहरों पर वृष और एक यूप (post) का घनिष्ठ सम्बन्ध है। कुछ पाञ्चाल-सिक्कों पर परशुयुक्त त्रिशूल कठघरे के बीच वृक्ष के आगे पड़ा है। प्रथम पाञ्चाल-सिक्कों पर गरुड भी अंकित है, जो वैष्णव-धर्म का लक्षण माना गया है। वृष्णियों के कुछ सिक्कों पर 'चक्र' है, जिसका अभिप्राय सुदर्शन-चक्रधारी कृष्ण, वासुदेव या सूर्य था। प्राचीन गणराज्यों के सिक्कों पर चक्र या पहिये के कई रूप पाये गये हैं, जिनसे सूर्य का ही अभिप्राय प्रकट होता है। विष्णु भी एक आदित्य ही हैं, जिन्होंने सूर्य के लक्षण अपना लिये हैं। किरणयुक्त गोला (सूर्य का स्थूल रूप) ही वासुदेव के हाथ में सुदर्शन-चक्र बन गया। पाञ्चाल-मित्र-सिक्कों पर सूर्य को इसी प्रकार अभिव्यक्त करने की चेष्टा की गई है। कुछ अयोध्या-सिक्कों पर मुर्गा बैठा दिखाया गया है। यह कार्त्तिकेय का संकेत है। इन सिक्कों पर हाथी, वृष, तथा अन्य वस्तुओं का जैसा चित्रण हुआ है, उससे यह स्पष्ट है कि उस समय विदेशी प्रभाव का नामोनिशान नहीं था। बसाढ़ में भी एक मुहर मिली है, जिसपर शिवलिंग और त्रिशूल अंकित हैं। एक अन्य मुहर पर भी त्रिशूल और कमंडलु है। एक और बड़ी मुहर पर लम्बा घड़ा, ऊँचा और पतला वृक्ष, एक त्रिशूल और पुष्पकलिकायुक्त एक घट है। ये सभी संकेत शैवधर्म के हैं। बसाढ़ से प्राप्त कुछ अन्य मुहरों पर शंख, चक्र भी मिले हैं, जो वैष्णव-धर्म के लक्षण हैं। एक अन्य मुहर में अग्निवेदी पर चक्र रखा है। यह अग्नि और सूर्य-पूजा का सम्बन्ध दिखाता है। उसपर उत्कीर्ण लेख है—'भगवत आदित्यश्च।' एक अन्य मुद्रा पर मोर है और लेख है—'श्रीस्कन्दसूरस्य'। यह मुहर भीटा में मिली है। इससे स्कन्द या कार्त्तिकेय-देवता का अभिप्राय स्पष्ट है। इन संकेतों या लक्षणों के साथ-साथ देवताओं की मानवाकृति मूर्त्तियाँ भी बनने लगी थीं; जिन्हें एक-दूसरे से भिन्नत्व के लिए, उनके हाथों में विशिष्ट आयुध या लक्षण दिये गये हैं। पहले तो देवता को प्राकृतिक मानवाकृति में ही मूर्त्त किया गया है। जालान-संग्रहालय (पटना) में स्वर्गीय श्री काशी-प्रसाद जायसवाल ने एक सुवर्ण-पत्तर पर एक स्त्री और पुरुष-मूर्त्ति उत्कीर्ण देखी थी, जिसे वे शिव और पार्वती की प्रतिमा मानते हैं और इसका समय मौर्य-शुंग-काल बताते हैं। यक्ष और यक्षिणियों की पाषाण-प्रतिमाओं का उल्लेख किया जा चुका है। यह अनुमान स्वाभाविक है कि अवैदिक धार्मिक विश्वासों और क्रियाओं का कालान्तर में

---

1. चित्र-संख्या ६१—हाथियों द्वारा स्तूप की पूजा।

हिन्दू-धर्म में समावेश हो रहा था। यक्ष और यक्षिणियों की मूर्त्तियाँ मानवाकृति की हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि निम्न स्तर की जनता के भिन्न-भिन्न धर्म ब्राह्मण-धर्म के सामने प्रतिद्वन्द्विता में ठहर नहीं सके। कालियनाग का दमन, धेनुक-हनन इत्यादि पौराणिक कथाओं की तह में यही तथ्य हो सकता है। फिर भी, गतिशील धर्म या संस्कृतियों के इतिहास में जैसा बराबर होता है (विशेषकर भारतीय धार्मिक और सांस्कृतिक इतिहास में), इन पराजित धर्मों के गुण और विशिष्ट लक्षणों को हिन्दू-धर्म ने अपना लिया। नाग, व्याघ्र और वृष को हिन्दू-धर्म और मूर्त्ति-विज्ञान में स्थान तो मिला; पर ब्राह्मण-धर्म के देवताओं के पार्श्व या वाहन के रूप में। हिन्दू-धर्म और संस्कृति की व्यापक पाचन-शक्ति विलक्षण है। श्री कुमारस्वामी ने प्रासंगिक उदाहरणों के द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि निम्न स्तर के देवी-देवताओं के रूप के लक्षणों से उच्चस्तरीय देवों के लक्षण या रूप प्रभावित हुए। यह पहले बताया भी गया है कि हिन्दू-देवी-देवताओं की प्रथम प्राप्त मूर्त्तियाँ प्राकृतिक मानवाकृति की हैं। कौशाम्बी, अयोध्या इत्यादि के प्राचीन सिक्कों पर दो हाथवाली लक्ष्मी का गजाभिषिक्त रूप उत्कीर्ण हुआ है। उज्जयिनी के प्राचीन सिक्कों पर पहले-पहल शिव का जो मानव-रूप पाया गया है, उसमें शिव के दो हाथ हैं और एक सिर। दाहिने हाथ में दण्ड और बाएँ में जलपात्र है। कुषाण-सम्राट् कैडफिसिज के सिक्कों पर भी शिव के दो ही हाथ और एक सिर दिये गये हैं। जान पड़ता है, जैसे देवताओं की बढ़ती तालिका में परस्पर भिन्नत्व प्रदान करने के लिए उन्हें दो से अधिक हाथ और एक से अधिक सिर से युक्त करने की जरूरत हुई। फलस्वरूप. देवी और देवता एक तो विशिष्ट कार्य—महिषासुर की हत्या, वरद-मुद्रा, तर्जनीपाश-मुद्रा—करते दिखाये गये और फिर उनके हाथों में विशिष्ट आयुध या चिह्न भी दिये गये। विभिन्न भावों को व्यक्त करने के लिए एक से अधिक सिर की आवश्यकता हुई। इस दृष्टिकोण से विचार करने पर मैकडोनल साहब के विचार में कुछ तथ्य मालूम होता है—"जब किसी विशेष देवता को अपने दोनों हाथों से किसी कार्य में व्यस्त रहते हुए भी अन्य देवताओं के मध्य से पहचानने, अलग करने की आवश्यकता बरकरार रही, तब कोई उपाय या प्रयोग आवश्यक हो गया—ऐसा ही प्रयोग था कि देवता को दो और हाथ दिये जायँ, जिसमें वह विशिष्ट आयुध या लक्षण पकड़े रहे। इस प्रकार उसे पहचानने में दिक्कत न हो। जब यही प्रयोग अन्य अनेक देवताओं की मूर्त्तियों में व्यापक-सा हो गया, तब अनेक हाथ और कभी अनेक सिर भी रखना देवता का विशिष्ट लक्षण माना जाने लगा"।[1]

---

१. "If a particular deity had to be distinguished when both his hands were engaged in action, some other device became necessary — such a device was the addition of two extra arms to hold the characteristic symbols of the gods......owing to the sequency of the images of the great gods, and the extension of the new feature to several others, the possession of many arms and to a less extent of many heads came to be regarded as a characteristic of divine beings".

—*J. R. A. S., 1916 ; pp. 128-129.*

यहाँ एक प्रबल शंका है कि यदि अनेक सिर और अनेक हाथों से देवता की अमानवीय और अपरिमित शक्ति का ज्ञान कराया गया, तो उसे दो से अधिक पैर क्यों नहीं दिये गये? इन अमानवीय मूर्त्तियों से देवता की अपरिमित शक्ति और विभिन्न गुणों (कभी-कभी विरोधी गुणों) के एक साथ सामञ्जस्य की अभिव्यक्तिवाला विचार यद्यपि भारतीय मूर्त्ति-विज्ञान की तह में काम कर रहा था, तथापि इसमें भी सचाई है कि व्यावहारिक कठिनाई को दूर करने की आवश्यकता ने मूर्त्ति-विज्ञान को प्रभावित अवश्य किया होगा। हाँ, प्राचीन भारतीय धार्मिक साहित्य और पौराणिक कथाओं में देवताओं के वर्णित प्राकृतिक गुणों से इस ओर सहायता ली गई होगी। जैसे—अग्नि को ऋग्वेद में तीन सिरवाला कहा गया है; क्योंकि यज्ञाग्नि तीन वेदियों पर जलती थी। अग्नि और रुद्र का घनिष्ठ सम्बन्ध था ही। इसलिए, शिव के तीन सिर की कल्प-मूर्त्तियों का आधार यही वैदिक ऋचा है। इसी प्रकार ब्रह्मा या विश्वकर्मा को 'विश्वतोमुखा' कहा गया और पीछे ब्रह्मा को चार मुख दिये गये, जिससे वह चारों दिशाओं की ओर देखते हैं।

कनिष्क और हुविस्क के सिक्कों पर शिव दो और चार हाथों से युक्त दिखाये गये हैं। हुविष्क के कुछ सिक्कों पर शिव के तीन सिर हैं। वासुदेव (कुषाण राजा) के सिक्कों पर भी शिव तीन सिर के हैं और साथ में वृष है। एक शिव-मूर्त्ति में शिव के चार हाथ और तीन सिर हैं। इस प्रकार हिन्दू-देवताओं के रूप का विकास प्रथम-द्वितीय ई० सदी तक काफी दूर तक हो चुका था। यह बात ध्यान देने की है कि जब कभी-कभी हम सिर्फ देवताओं के विशिष्ट चिह्न आयुध या वाहन को ही चित्रित पाते हैं, तब उनकी मानवाकृति भी सिक्कों पर मिलती है। पहले ही बताया जा चुका है कि 'पाणिनि' और 'पतञ्जलि' ने देवताओं की प्रतिमाओं का जिक्र किया है। भिलसा के निकट हेलिओडोरस् के गरुडस्तम्भ से पहली सदी ई०पू० में भागवत-धर्म की स्थिति का ही पता नहीं चलता है, बल्कि यह अनुमान भी किया गया है कि यह ध्वजस्तम्भ किसी वैष्णव-मंदिर के सामने ही खड़ा किया होगा और उसमें विष्णु की प्रतिमा अवश्य प्रतिष्ठित रही होगी। नागरी में एक अभिलेख मिला है, जिसमें संकर्षण वासुदेव की प्रतिमाओं का उल्लेख है। यह अभिलेख पहली सदी ई०-पू० के बाद का नहीं हो सकता है। इसी समय बौद्ध मूर्त्ति-विज्ञान का भी विकास हो रहा था।

बहुत सम्भव है कि बुद्ध की प्रथम प्रतिमाएँ मथुरा या अमरावती में साथ-साथ बनीं। जब बुद्ध की प्रतिमा बनाने की अनुमति दे दी गई, तब भारतीय शिल्पियों को विदेशी परम्परा तथा उदाहरण का सहारा लेना अनावश्यक था। उपर्युक्त विचार-विमर्श से यह स्पष्ट हो गया है कि मूर्त्ति-कला का विकास कुछ समय पहले से ही हो रहा था। जब बुद्ध की प्रतिमा बनाई जाने लगी, तब कलाकारों के सामने विशुद्ध भारतीय परम्परा (योगी की मूर्त्ति) का ध्यान आना स्वाभाविक था। बुद्ध ने योगाभ्यास में ही ज्ञान प्राप्त किया था और योग भारतीय संस्कृति का विशिष्ट गुण है। इस सम्बन्ध में मोहेनजोदड़ो में मिली योगासन पर बैठे तीन सरवाले पुरुष की मूर्त्ति उल्लेखनीय है। यद्यपि हरप्पा-सभ्यता की यूप-मूर्त्ति में और मथुरा की बुद्ध-प्रतिमाओं में दो-ढाई हजार वर्षों का अन्तर है, तथापि बुद्ध की प्रतिमा की निर्मिति के समय कलाकारों का ध्यान स्वभावतया योगमुद्रा की

ओर गया। हरप्पा-सभ्यता की परम्परा हिन्दू-सभ्यता में आत्मसात् कर ली गई थी, और मथुरा हरप्पा से बहुत दूर नहीं था। बुद्ध की योगासीन मूर्त्तियों में मोहेनजोदड़ो की योगी-मूर्त्ति की परम्परा का पुनर्जीवित होना माना जा सकता है।[१] बुद्ध के शारीरिक सौन्दर्य और अंगों को काल्पनिक महापुरुषों के लक्षणों के आधार पर अभिव्यक्त किया गया। बुद्ध की बिल्कुल सीधी-खड़ी मूर्त्तियों की कायोत्सर्ग-मुद्रा को चक्रों की विशालकाय खड़ी मूर्त्तियों की परिपाटी पर ही पहले उतारा गया। इस प्रकार बुद्ध की प्रथम मूर्त्तियाँ भारतीय परम्परा और कला तथा धर्म की तत्कालीन प्रगति के आधार पर ही गढ़ी गईं, किसी विदेशी परम्परा के गर्भ से नहीं निकलीं।[२]

गान्धार-कला की बुद्ध-प्रतिमाओं में हम बुद्ध को सीधा तनकर तंग पद्मासन पर बैठे और पूरी आँखें खोले देखते हैं। इस आसन पर बुद्ध को सुख नहीं मिल रहा है—कमल की नुकीली पंखुड़ियाँ गड़ती-सी लगती हैं। मूर्त्ति का तना रहना कष्ट की भावना प्रकट करता है। पर, भारतीय योग-दर्शन के सिद्धान्त के आधार पर योगासन अत्यन्त सुखासन बन जाता है और योगी के आध्यात्मिक सुख और सन्तोष की लहर (स्थिर सुख) सारे शरीर के अन्दर प्रवाहित दीख पड़ती है। यह सौम्य और सुखकर अनुभव गान्धार-बुद्ध को अपने आसन पर नहीं होता है। इसी से यह स्पष्ट है कि गान्धार-बुद्ध की प्रतिमाएँ भारतीयों के लिए अवश्य बनीं; पर भारतीय भावना के अनुकूल नहीं सिद्ध हुईं। यह सच है कि अभीतक बुद्ध की जितनी प्रतिमाएँ मिली हैं,उनमें गान्धार- प्रदेश में प्राप्त प्रतिमा ही सबसे पहले की प्रतिमा है, पर यह एक संयोग की चीज है।[३] मथुरा और अमरावती में प्राप्त बुद्ध-मूर्त्तियाँ गान्धार-परम्परा की उपज नहीं हैं। यद्यपि इनके प्रथम उदाहरण उपलब्ध नहीं हैं, तथापि यह मानना असंगत न होगा कि यहाँ की प्रथम मूर्त्तियाँ भारतीय परम्परा और यक्ष की मूर्त्तियों के आधार पर ही बनी थीं। यह बहुत सम्भव है कि बुद्ध-प्रतिमाओं की आवश्यकता और माँग को पूरा करने में गान्धार के कलाकारों ने पूरा हाथ बँटाया हो; पर बुद्ध की मूर्त्ति के लिए भारत यूनानी प्रभाव का ऋणी नहीं है।[४] एक आधुनिक पश्चिमी विद्वान् ने यह विचार व्यक्त किया है कि मथुरा की कला पूर्णतः भारतीय है और यह प्राचीन भारतीय शैलियों की अतिवृद्धि है। ईसा से २०० वर्ष पूर्व ही जैन-कायोत्सर्ग-मुद्रा में जैन-मूर्त्तियाँ इस क्षेत्र में बनती थीं, और बुद्ध-प्रतिमा के विकास का इससे सम्बन्ध है।[५] कुषाण-काल में मथुरा और गान्धार दोनों प्रदेशों में शिल्प-कला की उन्नति हुई। इसी समय या कुछ पहले—प्रायः साथ-साथ ही गान्धार और मथुरा में प्रथम बुद्ध-प्रतिमाएँ बनीं। मथुरा-कला पर गान्धार-कला का ही नहीं; वरन् अमरावती की कला का भी प्रभाव पड़ा।[६]

१. *R. P. Chanda—Medieval Indian Sculpture; p. 9*
२. *Beginnings of Buddhist Art; p. 117.*
३. *Indian Sculpture; p. 40.*
४. *Stella Kramrisch—The Expressiveness of Indian Art, Journal of Department of Letters. Vol.—IX; p. 136.*
५. *'The Art and Architecture of India'; p. 92. Medieval Indian Sculpture p. 6.*
६. *Dance of Shiva ; pp. 78-79*

मथुरा की बुद्ध-प्रतिमाओं में बुद्ध विशाल और अत्यन्त बलिष्ठ दीख पड़ते हैं। मूर्त्ति की विशालता और निपुणता यक्षों की मूर्त्तियों के अनुक्रम में है। इन मूर्त्तियों से कड़ापन, कठोर आकृति और दक्षता का अनुभव होता है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि मथुरा-कला पर पड़ोसी गान्धार-शैली का प्रभाव पड़ा और मथुरा-कला का प्रभाव पूर्वीय मूर्त्ति-केन्द्रों पर पड़ा। पूर्व में मथुरा-शैली की कला के उदाहरण उपलब्ध हुए हैं। इस क्षेत्र में, 'सबसे पहली प्रामाणिक बुद्ध की प्रतिमा सारनाथ की है, जिसका समय शक काल ३ (अर्थात् ८१ ई०) है।[१] यह मथुरा के लाल पत्थर की बनी है और कुषाण-कला की हू-ब-हू नकल है। मथुरा के भिक्षु 'बल' ने यह मूर्त्ति प्रतिष्ठित की थी और मथुरा के कलाकार ने ही इसे बनाया था। रामप्रसाद चन्दा के विचार में इस मूर्ति ने पूर्वीय भारतीय कला के इतिहास में क्रान्ति पैदा कर दी।[२] धीरे-धीरे पूर्वीय भारत के कलाकारों ने किस प्रकार नकल करना छोड़ अत्यन्त सुन्दर और आध्यात्मिक भावना को व्यक्त करनेवाली मूर्त्तियों का विकास किया, इसका इतिहास स्पष्ट है। सारनाथ की इस मूर्त्ति के बाद श्रावस्ती की बुद्ध-मूर्त्ति आती है, जिसका समय शक-काल १६, (अर्थात ६७ ई० है। यह भी 'बल' द्वारा प्रतिष्ठित हुई थी। साँची में प्राप्त बुद्ध-मूर्त्ति 'वासिस्क' के २८ वें वर्ष, अर्थात् १०६ ई० की है। ये सभी मूर्त्तियाँ मथुरा के लाल पत्थर की बनी हैं। इन मूर्त्तियों में गान्धार-शैली के प्रभाव के परिणाम-स्वरूप कठोरता और अन्तर्मुखी भावना के स्थान पर बहिर्मुखी भावना अभिव्यक्त है।

मगध में बुद्ध की सबसे प्राचीन मूर्त्ति बोधगया में मिली है। इसका समय ६४ (संवत्) है और त्रिकमल नामक नागरिक की देन है। यह मथुरा के लाल पत्थर की बनी है। कनिंघम के विचार में यह तिथि सेल्यूकस-संवत् की है और इस मूर्त्ति का समय दूसरी सदी का मध्य-काल है।[३] वेणीमाधव बरुआ के विचार में अभिलेख की शैली और प्राकृत शब्दों के व्यवहार से यह निश्चित हो जाता है कि यह द्वितीय या तृतीय सदी के बाद की नहीं है। मूर्त्ति वज्रासन में है और शरीर रुक्ष और बलिष्ठ है। कुषाणकालीन मूर्त्तियों की परम्परा के अनुकूल ही यह मूर्त्ति है। मूर्त्ति-कला की शैली के आधार पर लुडविग् बैकोफर इसे द्वितीय सदी के बाद की बनी नहीं मानते हैं;[४] पर श्री रामप्रसाद चन्दा प्रभृति अन्य विद्वान् उत्कीर्ण अभिलेख को गुप्तकालीन मानते हैं और इसका समय ३१९ + ६४ = ३८३ ई०, (चन्द्रगुप्त द्वितीय का समय) बतलाते हैं।[५] इस मूर्त्ति के मुख पर जो शांतिमय और आध्यात्मिक कांति व्याप्त है, वह गुप्तकालीन विशेषता को पुष्ट करती है। इस मूर्त्ति में शाल दोनों कंधों को ढके हुए है और वक्षःस्थल के दोनों ओर फैला है।[६] मथुरा-शैली से आगे बढ़ी शैली के विकास का यह एक प्रमुख

---

१. चित्र-संख्या—५७
२. *Medieval Sculpture ; pp. 24*
३. *Mahabodhi; pp. 21-22*
४. *Early Indian Sculpture; Vol. II fig. 89*
५. *Medieval Indian Sculpture*
६. चित्र-संख्या—६२

लक्षण है। मथुरा-शैली की अन्तिम तिथियुक्त मूर्त्ति कटरा में मिली है। जिसका समय शक ९८, (अर्थात् १७६ ई०)है। इसमें मूर्तिका सिर घुटा है। बोधगया की मूर्त्ति के सर पर घुँघराली लटें हैं। कटरा की मूर्त्ति में आँखें आधी खुली हैं। बोधगया की मूर्त्ति में प्रायः बन्द आँखें नासिका पर टिकी हैं और ध्यानावस्था को स्पष्ट करती हैं। हमें तो ऐसा लगता है कि गुप्तकालीन कलाकारों के द्वारा मथुरा-शैली की रुक्षता पर प्रभावोत्पादक व्यक्तित्ववाले बुद्ध में आध्यात्मिक कान्ति और शान्त भावना को प्रकट करने के प्रथम प्रयासों के उदाहरणों में बोधगया की यह बुद्ध-मूर्त्ति है। पद्मासन पर ध्यानावस्थित योगी की मुद्रा में बैठे बुद्ध की मूर्त्ति वास्तव में भारतीय चिन्तनशील आत्मा की अभिव्यक्ति है। शान्त, मनोविकार-रहित, सांसारिक इच्छाओं और उत्तेजनाओं से मुक्त बौद्धिक और भौतिक संघर्षों से ऊपर उठे मन तथा निर्लिप्त शरीर आदि भावों को अभिव्यक्त करनेवाली इस मूर्त्ति में सत्य, ज्ञान और शक्ति का आदिस्रोत फूटता है, जिससे प्रत्यक्ष सम्पर्क स्थापित कर मनुष्य को अपरिमित सन्तोष और आध्यात्मिक बल मिलता है। हेवेल् साहब ने लिखा है—"यह उस आत्मबल का प्रतीक है, जो कि कुश्ती से नहीं प्राप्त होता है और न बौद्धिक चेष्टा से। यह ईश्वर की देन है, जो प्रार्थना से, ध्यान से, योग से और परमात्मा में खो जाने से प्राप्त होता है।"[1] सारनाथ की आदम-कद बुद्ध-मूर्त्ति सम्भवतः बोधगया की इस मूर्त्ति से पहले की है।

कुषाणकालीन अन्य कलात्मक कृतियाँ बिहार में मिली हैं। बिहार कुषाण-साम्राज्य का अंग था, यद्यपि यह एक विवादास्पद विषय है। पर, कला राजनीतिक सीमाओं में कैद नहीं रखी जा सकती है। कुम्हरार की खुदाई से कुछ ऐसे नमूने मिले हैं, जिनमें उत्तर-पश्चिमी वेशभूषा और आकृति स्पष्ट है।

पाटलिपुत्र में मथुरा-कला के नमूने पर एक बोधिसत्त्व का सुन्दर धड़ मिला था।[2] बुलन्दीबाग (पटना) में एक स्थूलकाय पुरुष का मिट्टी का धड़ मिला है। इसका ऊपरी भाग नंगा है, और लुंगी घुटने तक है, जिसकी सिलवटें स्पष्ट हैं। कमर में तीन लड़वाली कमरधनी शोभा दे रही है।[3] मिट्टी की तश्तरी में उत्कीर्ण नारी-मूर्त्ति भी कुषाणकालीन है। स्त्री घाँघरा पहने हैं, जिसकी चुन प्रत्यक्ष है। ऊपर का वस्त्र चादर-सा है, जो बाँह और वक्षस्थल को पूरी तरह ढके हुए है।[4]

कुषाणकालीन मथुरा-शैली से मुक्त होकर गुप्त-शैली के विकास के लिए बिहार की ही भूमि उर्वर रही।

---

१. "It is the symbol of the power of the Spirit which comes not by wrestling nor by intllectual striving but by the gift of God, by prayer and meditation, by Yoga, union with the universal soul.'
—*Havel* : '*Ideals of Indian Art*' p. 32

२. *A. S. I., A. R. 1913-14; p. 74 (fig)*, चित्र-संख्या—६३

३. चित्र-संख्या—६४ (पटना-म्यूजियम, ४२६४)

४. चित्र-संख्या—६५ (पटना-म्यूजियम, ७६६६.)

षष्ठ अध्याय

गुप्त-कला और विहार

यह बिहार का ही सौभाग्य है कि प्राचीन काल में भारत के अत्यन्त सफल साम्राज्य-वादी और समृद्ध राजवंशों की राजधानी पाटलिपुत्र रही। मौर्य-साम्राज्य के पतन के बाद दूसरा भारतीय साम्राज्य गुप्त-राजाओं ने स्थापित किया। गुप्त-राजाओं का प्राचीन निवास कहाँ था, इसके विषय में मतभेद है, किन्तु चन्द्रगुप्त प्रथम ने जब गुप्त-साम्राज्य की नींव डाली और ३१६ ई० के लगभग गुप्त-संवत् चलाया तब से अन्तिम दिनों तक गुप्त-साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र ही रही। चन्द्रगुप्त प्रथम का लिच्छवि-राजकुमारी 'कुमारदेवी' से विवाह हुआ। इस मधुर सम्बन्ध के कारण वह मगध और उत्तर-बिहार को एक सूत्र में बाँधने में सफल हुआ। गुप्त-अभिलेखों में समुद्रगुप्त को 'लिच्छवि-दौहित्र' कहा गया है। इससे प्रत्यक्ष है कि समुद्रगुप्त लिच्छवि-राजलक्ष्मी का भी उत्तराधिकारी बना। समुद्रगुप्त ने अपनी राजधानी पाटलिपुत्र से दिग्विजय के लिए प्रस्थान किया था। इलाहाबाद-प्रशस्ति के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उसका साम्राज्य पूर्व में पूर्व-बंगाल, उत्तर में नेपाल, दक्षिण में नर्मदा और पश्चिम में पूर्वी पंजाब तक विस्तृत था। पश्चिम और उत्तर-पश्चिम के शक-कुषाण-राजाओं ने समुद्रगुप्त की महत्ता स्वीकार करने में ही अपना हित समझा था। दक्षिण के पूर्व तटवर्ती और मध्य-दक्षिण के राजाओं ने समुद्रगुप्त से हार मानकर उसकी सार्वभौम सत्ता मान ली थी। इस प्रकार समुद्रगुप्त ने भारत में, विशेषकर उत्तर-भारत में, एक शक्तिशाली साम्राज्य स्थापित कर लिया था और मगध एक बार फिर केन्द्रीकरण की शक्ति का गढ़ बना था।

चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य ने शकों को हराकर पश्चिम भारत को विदेशियों के चंगुल से छुड़ा लिया था। यदि दिल्ली के समीप महरौली का लौहस्तम्भ इसी चन्द्रगुप्त की विजय-गाथा का स्मारक है, तो विक्रमादित्य ने निश्चित रूप से उत्तर-पश्चिम बलख तक भारतीय विजय-पताका फहराई थी। भारतीय गौरव को पुनर्जीवित करनेवाले गुप्त-सम्राट् राजनैतिक नेता और महासेनानी ही नहीं; वरन् भारतीय संस्कृति के कर्मठ समर्थक और पोषक भी थे। साम्राज्य-विस्तार के साथ वैभव-विलास की वृद्धि ही नहीं हुई, वरन् इसका पूर्ण सद्व्यय भी हुआ। धर्म, साहित्य और कला के विभिन्न क्षेत्रों में अपूर्व स्फूर्तिपूर्ण प्रगति हुई। विद्या और कला के मर्मज्ञ शासकों के संरक्षण में भारतीय प्रतिभा की ऐसी बहुमुखी अभिव्यक्ति भारतवर्ष में फिर कभी नहीं हुई। इस सम्पूर्ण शक्तिशाली और क्रियात्मक आन्दोलनों का प्रमुख केन्द्र बिहार था।

इसने अप्रत्याशित और सर्वाङ्गीण विकास में भरपूर योगदान दिया। स्कन्दगुप्त (४५५ ई०) ने हूणों को मार भगाया था; पर बुद्धगुप्त के मरने के बाद (४६६ ई०) हूणों ने तोरमाण और मिहिरकुल के नेतृत्व में भारत पर पुनः आक्रमण किया, और मगध के राजा बालादित्य को भारी क्षति उठानी पड़ी थी। हूणों के इन भयंकर आक्रमणों के कारण गुप्त-काल की कलाकृतियों की बहुत बड़ी क्षति हुई। ५२५ ई० के लगभग बालादित्य ने हूणों के नेता मिहिरकुल को परास्त कर उसे पीछे की ओर भगा दिया। गुप्त-कला की परम्पराएँ जीवित रहीं, और गुप्त-साम्राज्य के अन्त के बाद भी हर्ष-युग की सांस्कृतिक परम्पराएँ इसी लीक पर चल रही थीं। इसलिए, सांस्कृतिक दृष्टिकोण से आठवीं सदी के अन्त तक और पाल-राजाओं के पूर्णोदय तक गुप्तकालीन संस्कृति ही मानी जाती है।

यद्यपि हूणों के आक्रमण और सात सौ वर्ष बाद मुसलमानों के आक्रमण के कारण तथा कालक्रम के अनुसार अनेक गुप्तकालीन स्मारक नष्ट हो गये हैं, तथापि बिहार में अब भी तत्कालीन अवशेषों से ही गुप्तकालीन वास्तु-कला और शिल्प-कला के विशिष्ट गुणों का पता चल जाता है। तत्कालीन चीनी यात्रियों के विवरण से भी गुप्त-काल की कला, साहित्य, संस्कृति और समृद्धि की गौरव-गरिमा की प्रामाणिक झाँकी मिल जाती है।

वास्तु-कला

बिहार में गुप्तकालीन वास्तु-कला के नमूनों में नालन्दा-महाविहार, राजगृह का मनियार-मठ, बोधगया का शिखरयुक्त मन्दिर तथा पाटलिपुत्र और वैशाली के खँड़हरों की खुदाई से प्राप्त कुछ भवनों के अवशेष उल्लेखनीय हैं। विश्व का अति प्राचीन शिक्षण और आवासीय विश्वविद्यालय नालन्दा-विश्वविद्यालय ही है, जिसमें हजारों विद्यार्थी और अध्यापक अनुसंधान और स्नातकोत्तर अध्ययन में संलग्न थे। इस विश्वविद्यालय की प्रतिष्ठा दूर-दूर तक फैल चुकी थी। चीन, जापान, कोरिया और पूर्वीय प्रायद्वीप से शिक्षार्थी आकर यहाँ अध्ययन करते थे। फाहियान ने इस विश्वविद्यालय का उल्लेख नहीं किया है; पर युयान-च्वांग, जो भारत में, हर्ष के समय में, सातवीं सदी के पूर्वार्द्ध में आया था, इस विश्वविद्यालय का विस्तारपूर्वक वर्णन करता है। इससे यह स्पष्ट है कि नालन्दा-विश्वविद्यालय पाँचवीं सदी में स्थापित हुआ, और युयान-च्वांग के अनुसार इसका प्रथम संस्थापक शक्रादित्य था, जिसे कुमारगुप्त प्रथम माना गया है। कुमारगुप्त प्रथम ४१५ ई० के पूर्व सिंहासन पर बैठ चुका था। कुमारगुप्त के उत्तराधिकारियों ने नालन्दा-विश्वविद्यालय के निर्माण में प्रचुर योगदान दिया। तथागतगुप्त, बुधगुप्त और बालादित्य का नाम युयान-च्वांग ने लिया है। नालन्दा-विश्वविद्यालय ऊँची अट्टालिकाओं, मन्दिरों और बृहत् कक्षालयों का समूह था। युयान-च्वांग नालन्दा-विश्वविद्यालय के भवनों से अत्यन्त प्रभावित था और गुप्तकालीन वास्तुकला का यह विश्व-विद्यालय अनमोल आदर्श था। कोरियानिवासी ह्वीलुन के अनुसार यह विश्वविद्यालय पूरे जम्बूद्वीप में सबसे अधिक शोभायमान था।[1] विश्वविद्यालय एक नगर के समान बना था, और इसके चार द्वार थे। द्वार पर खपरैल छत थी, जिसकी मोरी दोनों ओर झुकी थी।

---

१. *The Life of Hiuen Tsang*; p. XXVII

अधिकतर मकान तीन महल के थे, और विहार में अनेक चैत्य और बड़े-बड़े हॉल थे। मूलगन्धकुटी-चैत्य १०० फीट ऊँचा था, और इसी के समीप बालादित्य का बनाया स्तूप और भी अधिक ऊँचा था। पूरा विश्वविद्यालय ईंट की बनी ऊँची दीवार से घिरा था। एक द्वार विशाल विहार की ओर खुलता था, जिससे आठ और हॉल अलग थे। विहारों के शिखर और मीनार अत्यन्त आकर्षक ढंग से अलंकृत थे। वे दूर से पहाड़ी की ऊँची चोटियों के समूह-से लगते थे। महल सब इतने ऊँचे थे कि ऊपर की कोठरियाँ तो बादलों में लुप्त-सी दीखती थीं। नालन्दा-विश्वविद्यालय के वेधगृह (Observatories) गगनचुम्बी अट्टालिकाओं के बने थे, जिनकी खिड़कियों से चन्द्र और सूर्य की गति का निरीक्षण किया जाता था। भिक्षुओं के निवासालय चारमहला थे, और प्रत्येक महल पर शिल्पियों ने अमानवीय जन्तुओं के चित्र बना रखे थे। प्रत्येक बालकनी पर रंग-विरंगे दृश्य चित्रित थे। नालन्दा-महाविहार के निकट ही बालादित्य का बनाया हुआ २०० फीट ऊँचा विहार खड़ा था। यह अत्यन्त ही सुन्दर ढंग से अलंकृत था, और बड़ा ही प्रभावोत्पादक भी। बालादित्य के बनाये इस मन्दिर के गगनचुम्बी शिखर का वर्णन यशोवर्मन के मंत्री मालदा के अभिलेख में पाया गया है। यह अभिलेख नालन्दा में ही मिला और इसका समय ७२५ ई० लगभग है। एक अन्य जगह पर युयान-च्वांग ने इस मन्दिर की ऊँचाई ३०० फीट बताई है।[1] नालन्दा की खुदाई में बालादित्य-मन्दिर की नींव के अवशेष मिले हैं। उसके ऊपर पाषाण-मन्दिर पीछे बनाया गया था। पर, बहुत सम्भव है कि चौखटों में उभरी पाषाण-मूर्त्तियाँ, जो कुर्सी के चारों ओर लगी हैं, पहले के बने मन्दिर के अंग हों।[2] हर्षवर्द्धन ने पीतल से आच्छादित विहार भी बनाया था। युयान-च्वांग के वर्णन से गुप्तकालीन वास्तु-कला का प्रामाणिक ज्ञान हो जाता है। नालन्दा के खँड़हर से प्राचीन वैभव की झाँकी मिल जाती है।[3] नालन्दा की खुदाई से यह पता चला है कि नालन्दा के विहार एक-पर-एक कालक्रम से बनते गये और इस प्रकार पाँचवीं-छठी सदी से लेकर १० वीं सदी तक के स्थापत्य-इतिहास का पता चलता है। प्रमुख स्तूप (सं० ३) की खुदाई[4] से यह स्पष्ट है कि पहले यह स्तूप छोटे पैमाने पर था, पीछे चलकर इसे वृहत् रूप दिया गया। इसका पाँचवाँ स्तूप छठी सदी का है, और इसके चारों कोनों पर एक-एक शिखर है। मूर्त्ति रखने के ताख (Niches) स्तूप के मध्य में चारों ओर बने हैं, जिनमें चूने और बालू की बनी सुन्दर मूर्त्तियाँ बैठाई गई हैं।[5] इस काल के स्तूप अंडाकार नहीं, वरन् समकोण चतुर्भुजाकार (Square) हैं। इस 'स्तूप'-स्थल की खुदाई से यह पता चलता है कि सात स्तूप कालक्रम से एक-पर-एक बनाये गये। सबसे निचला या पहला स्तूप अवश्य ही गुप्त-काल के प्रारंभिक वर्षों का रहा होगा। कोई पवित्र अवशेष के चिह्न नहीं मिले हैं। पाँचवा स्तूप का समय छठी सदी माना गया है। इसी समय के

---

१. *On Yuan Chwang, Vol. II; p. 170*

२. *J. B. O. R. S., IX; p. 16.*

३. चित्र-संख्या—६६

४. चित्र-संख्या—६२

५. *A Guide to Nalanda; p. 3.*

कुछ पूजार्थ संकल्पित स्तूप हैं जो इस पाँचवें स्तूप के सटे ही हैं। इनमें एक उल्लेखनीय है, क्योंकि इस छोटे स्तूप की छत बेलननुमा है, और इसके मेहराब (Arch) अत्यन्त ही ही शुद्ध प्रकार के हैं और मेहराब की हिन्दू-शैली के प्रथम उदाहरणों में हैं। अतः मुसलमानों के आने के कई सैकड़ों वर्ष पहले की ईंटों के बने मेहराब मगध में उपलब्ध हैं।[१] स्तूप (सं० ३) से १०० गज उत्तर एक अन्य बड़े स्तूप (सं० १२) का खँड़हर मिला है। यहाँ भी कालक्रम से एक के बाद दूसरे स्तूप खड़े किये गये। पर, गुप्तकालीन और उसके बाद के भी स्तूप समचतुर्भुजाकार हैं, पर चारों कोनों पर चतुर्भुजाकार निकास (Projection) है, और पूर्व की ओर बीच में सीढ़ियाँ हैं। इन चारों कोनों पर चार बौद्ध मन्दिर थे, और मध्य में मुख्य स्तूप था।[२] इस प्रकार हम नालन्दा में गुप्त-काल ही में 'पंचायतन'-मन्दिर के आदर्श या परिपाटी का उदाहरण पाते हैं। इन कोनेवाले मन्दिरों में (Corner-shrines) बौद्ध प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित थीं। कुछ दूर हटकर एक मंदिर-में अवलोकितेश्वर की पाँच फीट की ऊँची सुन्दर प्रतिमा मिली है। मध्यस्थित विशाल मन्दिर (स्तूप) के प्रवेश-द्वार के निकट पत्थर की कुछ पट्टियाँ और स्तम्भ की आधार-शिलाएँ मिली हैं, जो ड्योढ़ी—पोर्च (Porch) के भग्नावशेष हैं। (गुप्तकालीन हिन्दू-मन्दिरों में भी पोर्च या पोर्टिको रहती थी, जिसकी छत दो स्तम्भों पर टिकी रहती थी।) कोणस्थित मन्दिरों के भी पोर्च थे और कुछ के पाषाण-स्तम्भ के अवशेष मिले हैं। इस स्तूप (सं० १२) के निकट ही दक्षिण-पूर्व की ओर अनेक वृत्ताकार और समचतुर्भुजाकार संकल्पित स्तूप मिले हैं, जिन पर सजावट (Moulding) है और ताख (Riches) हैं, स्तूप (सं० १२)-स्थल के गुप्तकालीन चैत्य की आलाओं से भरी दीवारों पर लोक-जीवन के स्वस्थ और रस-भरे चित्र उत्कीर्ण हैं, जो लोक-कला (Folk-art) के परिष्कृत उदाहरण हैं। इस चैत्य-स्थल की खुदाई से पता चला है कि प्रदक्षिणा-पथ ईंट और कँकड़ी से पिटा हुआ था। दो प्रदक्षिणा-पथ १५ फीट ऊँचाई की दूरी पर बने थे, जिससे यह अभिप्राय निकलता है कि यह मन्दिर कम-से-कम दोमहला रहा होगा। इन प्रदक्षिणा-पथों पर पानी के निकास के लिए किनारे पर पत्थर की ओलतियाँ बनी हैं।

नालन्दा के गुप्तकालीन विहारों के अवशेष जो मिले हैं, उसी आधार और आकार (Plan) पर पालकालीन विहार बने। विहार के लिए एक प्रवेश-द्वार था, आँगन के चारों ओर बरामदे थे, जो छत से ढके थे। बरामदा की छत स्तम्भों पर टिकी थी। इन्हीं बरामदों के भीतर चारों ओर कोठरियाँ थीं। एक कोने में सीढ़ियाँ थीं, जिनसे पता चलता है कि कुछ विहार कम-से-कम दोमंजिले जरूर थे। उपरले महल के बरामदे की छत भी स्तम्भों पर टिकी थी। कभी आँगन के मध्य में या कभी पूर्व कोर पर बौद्ध मन्दिर या चैत्य बने थे।

गुप्तकालीन स्थापत्य के प्रमुख उदाहरणों में बोधगया के मन्दिर का प्रधान स्थान है। पहले बताया जा चुका है कि समरेखा की आकृतिवाला ऊँचा शिखरयुक्त मंदिर कुषाण-

---

१. *On Yuan Chwang, Vol. II; pp. 116-17*

२. *Age of the Imperial Guptas ; Eastern School of Indian Sculpture; pp. 147-148.*

काल का नहीं, वरन् बाद का है। क्योंकि, फाहियान ने इस अत्यन्त आकर्षक और प्रभावशाली मंदिर का वर्णन नहीं किया है। इसलिए, यह विदित है कि मंदिर का आधुनिक ढाँचा फाहियान के बाद ही दिया गया। युयान-च्वांग ने बोधगया-मन्दिर का वर्णन किया है। वह लिखता है—"यह मन्दिर ईंटों का बना था, और बोधिवृक्ष के पूर्व में स्थित था। मन्दिर १६० फीट से भी अधिक ऊँचा था, और इस पर चूने से सफेदी की गई थी। इस मन्दिर के शिखर के कई महल थे, और प्रत्येक महल की दीवार में मूर्त्तियों के लिए ताख बने थे, जिनमें सुवर्ण-मूर्त्तियाँ बैठाई गई थीं। शिखर की चारों समकोण चतुर्भुजाकार दीवारें मोती की लड़ियों के चित्र से अलंकृत थीं। शिखर के मस्तक पर सोने का पानी किया हुआ ताँबे का आमलक था। मन्दिर के पूरब भाग में तीन बड़े-बड़े हॉल सम्बद्ध थे, जिनकी लकड़ी की नक्काशी में सोने और चाँदी के तार आकर्षक ढंग से मढ़े थे। इन हॉलों के बाहर बाईं ओर अवलोकितेश्वर बोधिसत्त्व की मूर्त्ति और दाहिनी ओर मैत्रेय की चाँदी की मूर्त्ति थी। मन्दिर में बुद्ध की मिट्टी की मूर्त्ति भूमिस्पर्श-मुद्रा में प्रतिष्ठित थी। बंगाल के राजा शशांक ने बोधिवृक्ष को नष्ट करने की कोशिश की थी और उसने इस मूर्त्ति को तोड़ कर शिवमूर्त्ति प्रतिष्ठित करने की आज्ञा दी थी; पर जिसे यह काम सौंपा गया था, उस ब्राह्मण ने डर कर बुद्ध की मूर्त्ति को छिपा दिया। मन्दिर के चारों ओर कड़े पत्थर की १० फीट ऊँची रेलिंग थी"।[१]

युयान-च्वांग के आँखों-देखा वर्णन से बोधगया-मन्दिर की वास्तु-कला का ज्ञान हो जाता है। श्री राखालदास बनर्जी ने इस ऊँचे शिखरयुक्त मन्दिर को गुप्त-काल के बाद का माना है। उनके विचार में गुप्तकालीन मन्दिरों के शिखरों का इतना विकसित रूप अन्यत्र नहीं मिलता है। गुप्तकालीन प्रारम्भिक मन्दिर तो चौड़ी छत और स्तम्भों पर अधारित छोटी पोर्टिको के लिए ही प्रसिद्ध है।[२] पर, यह तर्क ठीक नहीं मालूम पड़ता; क्योंकि जब युयान-च्वांग स्पष्ट कहता है कि नालन्दा में बालादित्य का बनाया मन्दिर बोधगया के मन्दिर के सदृश था। हम देख चुके हैं कि बालादित्य के मन्दिर के शिखर की ऊँचाई का उल्लेख एक प्राचीन शिलालेख में भी हुआ है। बोधगया में प्राप्त 'महानाम' के शिला-लेख से (जिसका समय गुप्त-संवत् २६६ : ५८८-८६ ई० है) यह पता चलता है कि बोधिमंड के चारों ओर एक मन्दिर खड़ा था, पर यह मन्दिर प्रधान मन्दिर से भिन्न है।[3] युयान-च्वांग के अनुसार एक शिवभक्त ब्राह्मण ने बोधगया के मन्दिर को बनवाया था। बरुआ ने भरसक यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि बंगाल का राजा शशाङ्क ही इस मन्दिर का यथार्थ निर्माता था, चूँकि हर्ष से उसकी राजनैतिक शत्रुता थी, इसलिए लोगों ने युयान-च्वांग के कान उसके विरुद्ध भर दिये थे। पर, हम बरुआ की इस वकालत से सहमत नहीं हैं। युयान-च्वांग एक शिक्षित और सदाचारी विदेशी तीर्थयात्री विद्वान् था, केवल हर्ष से मित्रता के कारण वह विद्वान् तीर्थयात्री शशाङ्क पर ऐसा मिथ्या अभियोग, विना जाँच-पड़ताल के, नहीं लगा सकता। शशांक बौद्ध-साहित्य

१. *A. S. I., A. R. 1927-28; p. 131*

२. वही; *1930-31; p. 131.*

३. *Gaya and Buddha-Gaya, Vol. I; pp. 184–188*

'आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प' में भी कट्टर बौद्धधर्मविरोधी बताया गया है। यद्यपि हम बोधगया के मन्दिर के वास्तविक निर्माता के प्रश्न पर कोई निर्णय नहीं कर पाये हैं, तथापि इसका श्रेय शशाङ्क को देना एकदम अनुचित समझते हैं। यह बहुत सम्भव है कि शशाङ्क के मरने के बाद (६२५ ई०) मगध के राजा पूर्णवर्मन ने नई रेलिंग खड़ी की, जिसमें कुछ प्राचीन रेलिंग-स्तम्भ भी काम में लाये गये। यह रेलिंग भी १० फीट ऊँची थी, ऐसा युयान-च्वांग ने लिखा है। कनिंघम ने लिखा है कि ६३७ ई० में युयान-च्वांग ने जिस बोधगया के मन्दिर का वर्णन किया है, वह वर्त्तमान मन्दिर से इतना मिलता-जुलता है कि अनेक बार मरम्मत के बाद भी इसमें शक नहीं, कि चीनी यात्री ने इसी मन्दिर को देखा था।[1] मन्दिर के शिखर की चारों चतुर्भुजाकार भुजाओं में, ताखों (Niches) में, मूर्त्तियाँ थीं, यह मन्दिर की पश्चिमी प्राचीन भुजा के ताखों से सिद्ध हो जाता है।[2] युयान-च्वांग के द्वारा वर्णित नालन्दा का बालादित्य-मन्दिर और बोधगया के मन्दिर का सादृश्य भी महत्त्वपूर्ण है।[3] बोधगया के मन्दिर का ऊँचा शिखर अपनी भव्यता के लिए दर्शनीय है।[4] अपनी चारों समकोणवत् भुजाओं पर छोटे-छोटे शिखरों के नमूने से अलंकृत होने के कारण बोधगया-मन्दिर का शिखर, भविष्य के मन्दिर-शिखरों के रूप और अलंकार पर, अपनी छाप छोड़ गया है।

भारतीय मन्दिर की वास्तुविद्या के तीन प्रकार माने गये हैं—नागर, वेसर और द्रविड़। नागर-शैली की विशेषता है—चतुर्भुजाकार गर्भगृह की छत पर ऊँचा शिखर। बोधगया का मन्दिर नागर-शैली के प्रथम उदारहणों में एक है। स्वर्गीय डा० भण्डारकर के विचार में नागर-शैली का उद्गम राजपुताना-स्थित 'नागरी' शहर के नाम पर हुआ। पर, डा० राखालदास बनर्जी ने यह तर्कपूर्ण विचार प्रकट किया है कि 'नागर' शब्द नगर से निकला, और प्राचीन और पूर्वमध्यकाल में 'नागर' शब्द पाटलिपुत्र का ही द्योतक था। इसका यह अर्थ हुआ कि उत्तर-भारत की वास्तुकला की प्रधान शैली का विकास मगध में ही हुआ। इसलिए, इसी क्षेत्र में नागर-शैली के प्राचीनतम उदाहरण मिले हैं, जैसे—बोधगया का मन्दिर, गया जिला के कौंच का मन्दिर और शाहाबाद जिले का मुण्डेश्वरी-मन्दिर।

कुम्हरार (पटना) की खुदाई से गुप्तकालीन आरोग्यविहार का पता चला है। एक मुहर पर गुप्तकालीन लिपि में 'आरोग्यविहार' उत्कीर्ण है। इस आरोग्यविहार के कुछ कमरे और एक बरामदा को प्रकाश में लाया गया है। सबसे बड़ा कमरा २१'६" × १०'६" का है और इससे सटा एक छोटा कमरा १०'८" × १०' है। एक बड़े हॉल से सटे एक छोटा कमरा बनाने के नियम का शायद यहाँ पालन किया गया है। इसका क्या प्रयोजन था? यह एक आरोग्यविहार था, जहाँ रोगी की सेवा-शुश्रूषा होती थी। बहुत सम्भव है कि बड़े हॉलों में खाटें बिछी थीं और छोटे कमरे में चिकित्सक और परिचारिकाएँ सलाह-मशविरा करते और रोगियों की देखभाल के लिए रहते या दवा-

१. *Mahabodhi*; *p. 18*.
२. वही;
३. वही; पृ० २२-२३
४. चित्र-संख्या—६७

दारू का प्रबन्ध रखते थे। ऐसा ही प्रबन्ध आजकल भी सार्वजनिक अस्पतालों में देखा जाता है। फाहियान ने पाटलिपुत्र के बड़े-बड़े दातव्य औषधालयों और अस्पतालों का भी वर्णन किया है। कुम्हरार की खुदाई से यह भी एक मार्के की बात मालूम हुई कि गुप्त-काल में भी कमरों की जमीन का चूना और सुरखी के गारे से पलस्तर किया जाता था।

पहले ही कहा जा चुका है कि गुप्तकालीन प्रथम हिन्दू-मन्दिर बड़े साधारण ढंग से बनते थे। एक चतुर्भुजाकार गर्भगृह था; और उससे मिले हुए स्तम्भों पर आधारित एक पोर्टिको। मन्दिर की छत चौड़ी पाटी जाती थी। कुछ समय बाद गर्भगृह से सम्बद्ध एक सभामण्डप भी स्तम्भों पर आधारित बनने लगा। स्तम्भ अठपहल चौकोर होते थे। राजगीर में वैभारगिरि पर महादेव का नष्टप्राय मन्दिर इसी प्रकार का है और इसका समय सातवीं-आठवीं सदी माना जा सकता है।

राजगीर में मनियार-मठ के समीप जो डमरूनुमा स्तूप मिला है, उसका अन्तिम भाग गुप्तकालीन ही है। मणिभद्र यक्ष या मणिनाग का राजगृह से प्राचीन सम्बन्ध था, ऐसा उल्लेख प्राचीन ग्रन्थों में आया है। 'संयुक्तनिकाय' में मगध-स्थित मणिमाल-चैत्य का उल्लेख है और यह मणिभद्र यक्ष का निवासस्थान था। बहुत सम्भव है कि इसी प्राचीन पुण्यस्थान पर गुप्तकालीन स्तूप खड़ा किया गया हो।[1] इस विलक्षण स्तूप की बाहरी दीवार पर चारों ओर ताखों में चूने और बालू की बनी मूर्तियाँ गुप्त-काल की मूर्त्ति-कला के उदाहरण हैं। इसी सिलसिले में शाहाबाद जिले के भभुआ सबडिवीजन में स्थित मुंडेश्वरी देवी का मन्दिर उल्लेखनीय है। चैत्य-झरोखों (Chaitya-windows) से अलंकृत ईंटों का बना यह मंदिर और इसकी दीवारों पर भारी, पर आकर्षक ढंग से, रस्सी-नुमा सजावट गुप्तकालीन वास्तुकला की सीध में है। ब्लॉक साहब के विचार में यद्यपि यह मंदिर गुप्त-शैली से प्रभावित है, तथापि इसका समय आठवीं सदी है[2]। पर मुंडेश्वरी-मंदिर का एक अभिलेख हर्ष-संवत् ३० (६३६ ई०) का है। इसलिए, यह निश्चित-सा है कि मंदिर सातवीं सदी के पूर्वार्द्ध में अवश्य ही खड़ा था। कुमारस्वामी के विचार में यह अठपहल मंदिर हर्षवर्द्धन के समय का ही है।[3]

गुप्त-काल में बिहार-प्रदेश में अवश्य ही अनेक बौद्ध विहार, मंदिर तथा राजभवन बने, पर प्रायः सभी नष्ट हो गये हैं। बोधगया के मंदिर के समीप ही समुद्रगुप्त के समय में लंका के राजा मेघवर्म ने विशाल विहार बनवाया था। फाहियान और युयान-च्वांग ने इस विहार को देखा था। युयान-च्वांग ने मंदिर की चहारदिवारी से अलग 'महाबोधि-संघाराम' का वर्णन किया है। इसमें ६ विशाल हॉल थे और तीन महलवाली वेधशाला की मीनारें थीं। यह संघाराम तीस या चालीस फीट ऊँची दीवार से घिरा था और इसी अहाते में लंका के राजा का बनाया विहार था। लंका-विहार की एक अलग चहारदिवारी थी।[4] आदित्यसेन के अभिलेख से यह पता चलता है कि अपसढ़ (गया

१. चित्र-संख्या—६८
२. *Eastern School of Indian Sculpture; pp. 148-49*
३. *A History of Indian and Indonesian Art; p. 94*
४. *Gaya and Buddha-Gaya, Vol. I; p. 178*

जिला) में एक विशाल विष्णु-मंदिर प्रतिष्ठित था। नालन्दा के गुप्तकालीन विहारों का परिचय दिया ही जा चुका है।

मूर्त्ति-कला

गुप्त-युग में मूर्त्ति-कला की अप्रत्याशित उन्नति हुई। यह युग पुनर्जीवन का युग नहीं है, वरन् भारतीय कला और संस्कृति के पूर्ण प्रस्फुटन का युग है। इस युग में ब्राह्मण-धर्म ने अपनी प्रधानता फिर प्राप्त कर ली, फिर भी धार्मिक सहनशीलता की पूर्ण पवित्रता बनी हुई थी। इस कारण बौद्ध, जैन और हिन्दू-धर्म के सम्प्रदायों के विकास में किसी तरह की रुकावट न आई। इस युग की दूसरी और प्रमुख धारा थी भक्तिभावना की प्रधानता। भक्ति ने ब्राह्मण-धर्म के भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों की ही नहीं, वरन् बौद्ध धर्म को भी अनुप्राणित किया। बौद्ध धर्म में महायान-संप्रदाय अधिक लोकप्रिय था। और, ब्राह्मण-धर्म में सूर्य, विष्णु और शिव की पूजा अत्यन्त प्रचलित थी। यज्ञ, योग और कर्म-सिद्धान्त पर अटल रहने के बदले इष्टदेव की पूजा ही धर्म का प्रधान अंग बन गई। इस वातावरण में भिन्न-भिन्न इष्टदेव या देवियों की मूर्त्तियों की माँग बढ़ने लगी और उनका निर्माण व्यापक पैमाने पर होने लगा। ज्ञानियों और जनसाधारण में यह विश्वास दृढ़ हो गया था कि कलियुग में देवता मूर्त्तियों के माध्यम से ही दर्शन देते हैं। ब्राह्मण-धर्म में अनेक भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों का विकास हुआ, अतः देवताओं की सूची अत्यन्त लम्बी होती गई। इस कारण भी प्रतिमा-निर्माण को अत्यधिक बल मिला। यद्यपि प्राचीन काल से ही मूर्त्ति-पूजा चली आ रही थी, पर यूनानियों और शकों के प्रत्यक्ष सम्पर्क में प्रतिमा-निर्माण या मूर्त्ति-कला का विकास द्रुततर गति से बढ़ा। यह सत्य है कि प्रतिमा-निर्माण में मूर्त्तिकार शास्त्रीय नियमों और रूढ़िग्रस्त काल्पनिक लक्षणों का पालन करने के लिए बाध्य था, फिर भी उसे एक सीमा तक प्रतिमा में सौन्दर्य भरने की स्वतन्त्रता प्राप्त थी। उस समय यह विश्वास था कि सुन्दर प्रतिमा में ही देवता का वास होता है। देवता को सुन्दर मूर्त्तियाँ ही पसन्द हैं। यूरोपीय गिर्जाघरों में सजी मूर्त्तियों की तरह भारतीय धर्म-मूर्त्तियों का अभिप्राय आलंकारिक नहीं था, न वे ड्राइङ्ग-रूम की शोभा बढ़ाने के लिए थीं। एकमात्र वे कला के आलोचकों से पुरस्कार पाने की लालसा से भी नहीं गढ़ी गई थीं। उनका एकमात्र अभिप्राय था धार्मिक साधना को आसान बनाना। फिर भी वे मूर्त्तियाँ अपने स्वस्थ और पवित्र सौंदर्य के कारण भारतीय कलाकारों की सफलता के जीवित साक्ष्य हैं। निश्चित नियमों और कल्पित परम्पराओं से बँधे रहने के बावजूद कलाकारों ने मूर्त्तियों में ताजगी और रस का अद्भुत संचार किया है। गुप्त-युग की मूर्त्ति कला विशुद्ध भारतीय है, और जो कुछ भी विदेशी तत्त्व थे, उनको इस प्रकार आत्मसात् कर लिया है कि उनकी स्वतन्त्र स्थिति का पता ही नहीं चलता। गुप्तकालीन मूर्त्तियों में आध्यात्मिक कांति और आन्तरिक शांति की छटा व्याप्त है। इस दिशा में गुप्त-कला मथुरा-शैली से बहुत आगे बढ़ गई है। मूर्त्तियों के सरस सौंदर्य और कोमलता को देखकर दर्शक का मन प्रतिमा के साथ पसीजता-सा लगता है। मूर्त्तियों के देखने से आँखों की तृप्ति के साथ आन्तरिक सुख और सन्तोष भी प्राप्त होता है। वे हमें अपने आन्तरिक सौन्दर्य की ओर आकर्षित करती हैं, न कि केवल बाहरी

सौंदर्य पर हमें अटकाये रहती हैं। उन मूर्त्तियों में आध्यात्मिकता और बौद्धिकता का सुन्दर सामंजस्य के साथ-साथ आध्यात्मिक भावनाओं की सचेष्टता स्पष्ट अभिव्यक्त है। यद्यपि मानव-शरीर ही कलाकार का प्रधान विषय था, तथापि उसमें उसने पार्थिव सौन्दर्य से अधिक ईश्वरीय सौन्दर्य के प्रकट करने में सफलता पाई है।

गुप्तकालीन कलात्मक कृतियों में पूर्ववर्त्ती स्वदेशी कला के ऐश्वर्य, स्वाभाविकता, जीवन के प्रति सरसता, भावुकता के साथ-साथ अलंकारिता और आध्यात्मिकता का सुन्दर सम्मिश्रण हुआ है। इसी समय मूर्त्तियों को प्रभा-मण्डल (Nimbus or halo) से अलंकृत करने की परिपाटी शुरू हो जाती है। तृतीय आयाम के रहते हुए भी एक प्रभावलि (Stile) से जुटी मूर्त्तियाँ मिलती हैं। यह प्रभावलि गोलाकार है, पर अधिकतर अण्डाकार मिलती है और इसके कोरों पर बेल-बूटे की नक्काशी है। मूर्त्ति के ऊपर आकाश में विचरते हुए गन्धर्वों, किन्नरों या अप्सराओं को दिखाया गया है। देवता के सर पर लम्बे और घुँघराले बाल टोप-से (Wig) सजे लगते हैं, शरीर पर का वस्त्र पारदर्शक है, अंगों की कोमलता इन महीन वस्त्रों से झाँकती रहती है। वस्त्र शरीर से चिपका-सा रहता है। इस प्रकार मूर्त्ति को नग्न नहीं दिखाते हुए भी शरीर के सौन्दर्य के निखार को अभिव्यक्त किया गया है। गुप्तकालीन कला का परिष्कृत गुण इससे भी स्पष्ट हो जाता है। शारीरिक सौन्दर्य को उचित स्थान देते हुए भी सुसंस्कृत और संयत गुणों को सर्वोपरि महत्त्व दिया गया है। गुप्त-युग की मूर्त्तिकला के ये उपर्युक्त गुण भारतीय कला के उत्तम प्रसाद हैं। बिहार-प्रदेश में गुप्तकालीन मूर्त्तिकला के इन गुणों के विकास और अभिव्यक्ति के अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं।

बिहार की गुप्तकालीन बौद्ध-मूर्त्तियों के अध्ययन के लिए बोधगया में मिली बुद्ध की मूर्त्ति का उल्लेख श्रेयस्कर है। यह पहले कहा गया है कि यह मूर्त्ति मथुरा के लाल पत्थर की बनी है जब कि कुछ विद्वान् इसे दूसरी सदी का बना मानते हैं और कुछ इसे गुप्तकालीन समझते हैं। अभिलेख की लिपि के आधार पर कुछ निश्चित नहीं कहा जा सकता; क्योंकि लिपि-विज्ञान (Palaeography) सन्देहात्मक काल के निर्णय में अत्यन्त असन्तोषजनक सिद्ध हुआ है, विशेषकर जब सौ या डेढ़ सौ वर्ष के अन्तर का सवाल हो। कला की शैली को देखकर मूर्त्ति के काल-निर्णय में सहायता मिल सकती है। मथुरा के लाल पत्थर, मूर्त्ति का बलिष्ठ शरीर, तनी हुई आकृति आदि इसे मथुरा-शैली की सीध में रखते हैं, पर नासिका पर टिकी हुई मूर्त्ति की अधखुली आँखें, मुख पर की आध्यात्मिक कान्ति और ओठों की करुणामयी मुस्कान गुप्त-कला की विशिष्ट देन हैं।[1] इस प्रकार यह मूर्त्ति संक्रामक काल की प्रतीत होती है, जिस समय मथुरा-शैली गुप्त-कला में मिल रही थी। बोधगया की इस मूर्त्ति में कुषाण-काल की शारीरिक प्रतिष्ठा तथा गुप्त-काल का संयत सौन्दर्य और आन्तरिक आध्यात्मिकता पूर्णतः व्याप्त है।

पाँचवी सदी में गुप्त-मूर्त्तिकला शिखर पर पहुँच गई। बुद्ध और बोधिसत्त्व की मूर्त्तियाँ सुडौल और इकहरे बदन की हैं। हाथों की मुद्रा कोमल और आसान-सी लगती है। बायाँ हाथ धीरे-धीरे नीचे लटककर वस्त्र का कोर पकड़े हुए है और दाहिना

१. चित्र-संख्या—६२

हाथ सामने की खुली हुई तलहथी के साथ, बड़े मनोहर ढंग से, बाँह के नीचे अभय मुद्रा में दिखाया गया है। बुद्ध की खड़ी मूर्त्तियों में भी कुषाणकालीन दृढ़ता और कड़ापन के बदले शरीर की कोमलता और स्वाभाविक लोच एवं ढीलापन अभिव्यक्त किये गये हैं। गुप्तकालीन उत्तम मूर्त्तियों में बुद्ध एकदम तनकर समभंग स्थिति में खड़े या बैठे नहीं हैं, बल्कि उनका शरीर जरा एक ओर झुका-सा है। इस कौशल से कलाकार ने बुद्ध की प्रतिमाओं में सहज गति व्यक्त की है और शारीरिक सौन्दर्य भी प्राकृतिक ढंग से चित्रित हुआ है। इन गतिशील सुकुमार कोमलांगी मूर्त्तियों के हर अंग में आध्यात्मिक रस पिघलता-सा लगता है और दैवी कान्ति सर्वत्र फूट रही है। इस काल की सुन्दर और सौम्य मूर्त्तियों में सारनाथ की बुद्ध-मूर्त्ति[1] का स्थान सर्वोपरि है। फिर भी, कुछ विद्वान् अनुराधापुर (लंका) की बुद्ध-प्रतिमा में आध्यात्मिक कान्ति, करुणामयी मुस्कान और गोल मुँह को व्यक्त करने की चेष्टा को अधिक सफल कला मानते हैं।[2]

गुप्त-कला के उत्तम उदाहरणों में सुल्तानगंज (भागलपुर) के निकट मिली अष्टधातु की बनी विशाल बुद्ध-प्रतिमा का स्थान बौद्ध-कला में अत्यन्त ऊँचा है।[3] इस मूर्त्ति में हम गुप्तकालीन बुद्ध-प्रतिमाओं की शांतिपूर्ण मुस्कान, असीम करुणा और आध्यात्मिक कान्ति पाते हैं। वस्त्र पारदर्शक और शरीर से चिपका है, जो अंगों की मनोहर छवि को संयत रूप से प्रकट कर रहा है। कोमल, पर सुडौल मांसपेशी-रहित (Without muscles) इन अंगों की कोमलता और गोलाई अत्यन्त आकर्षक है। मूर्त्ति के कण-कण में शाश्वत और आध्यात्मिक रस का संचार है और अत्यन्त प्रभावोत्पादकता के कारण यह सहृदय दर्शक को धरातल से उठाकर स्वर्गीय आनन्द का अनुभव कराती है। महापुरुष बुद्ध का गम्भीर व्यक्तित्व और शिष्ट गरिमा इसमें पूर्णरूपेण प्रतिष्ठित है। आत्मा और शरीर का इतना सौम्य सामञ्जस्य विरले ही कहीं मिलता है। बिहार-प्रदेश की कला की एक विशेषता रही है भावुकता। बुद्ध की इस मूर्त्ति में अंगुलियों के नुकीले छोर को जरा पीछे की ओर मोड़कर कलाकार ने भावुकता को ही प्रदर्शित करने की चेष्टा की है। गुप्तकालीन मूर्त्तियों की एकलयता इसमें सफल रूप में अभिव्यक्त हुई है। कुम्हरार में भी बुद्ध का जो सिर मिला है, वह भी इन विशिष्ट गुणों से परिपूर्ण है। नालन्दा और बोधगया में युयान-च्वांग ने अनेक स्वतन्त्र (अकेली) बौद्ध प्रतिमाएँ देखी थीं। बिहार-सबडिवीजन-स्थित तेलाहृदा ग्राम में युयान-च्वांग ने ३० फीट ऊँची बुद्ध की पाषाण-मूर्त्ति देखी थी। यहाँ तारा और अवलोकितेश्वर की भी मूर्त्तियाँ थीं।[4] बोधगया-मन्दिर के प्रांगण में अवलोकितेश्वर की मूर्त्तियाँ थीं। मिट्टी की बनी अपूर्ण भूमिस्पर्श-मुद्रा की बुद्ध-प्रतिमा को ही शशांक ने तोड़ना चाहा था।[5] चक्रमक चैत्य (बोधगया) के उत्तर में बुद्ध की एक ऐसी मूर्त्ति थी, जिसकी

---

१. चित्र-संख्या—६९

२. चित्र-संख्या—७०

३. चित्र-संख्या—७१

४. *On Yuan Chwang, Vol. II; pp. 105-106*

५. वही; पृ० ११६.

आँखें ऊपर बोधिवृक्ष की ओर टिकी थीं। कपोत-विहार के समीप ही पहाड़ी पर एक मन्दिर बना था, जिसमें गम्भीर और प्रभावशाली अवलोकितेश्वर की मूर्त्ति थी, जिसके एक हाथ में कमल था और ललाट पर अमिताभ बुद्ध चित्रित थे। नालन्दा के बालादित्य-मन्दिर में बुद्ध की ठीक वैसी ही मूर्त्ति प्रतिष्ठित थी, जैसी बोधगया में बोधिवृक्ष के नीचे युआन-च्वांग ने देखी थी।

गुप्त-काल में भी मूर्त्ति-कला साधारणतः वास्तु-कला का अंग ही थी। इसलिए मन्दिरों, स्तूपों या अन्य भवनों के अवशेषों पर या उनके ताखों पर सुन्दर मूर्त्तियाँ प्रतिष्ठित थीं या दृश्य उत्कीर्ण थे। कुम्हरार की खुदाई में एक सिर-विहीन विद्याधर का धड़ मिला है, जो उत्तम कला का एक उदाहरण है। मूर्त्ति धोती पहने है, शरीर और हाथ का अधिक हिस्सा चादर से ढका है। शरीर-रचना अत्यन्त सफल और आकर्षक है।[1] नालन्दा में पाषाण-मन्दिर की गच के चारों ओर २११ चौखट लगे हैं, जिनपर सुन्दर मूर्त्तियाँ और दृश्य खुदे हैं। इन चौखटों को एक-दूसरे से अलग करने के अभिप्राय से कलश-पत्रों के गुच्छों (Vase foliage) से सुशोभित झूठे स्तम्भ (pilaster) खड़े दिखाये गये हैं। यह गुप्त-कला का एक विशिष्ट लक्षण है। इन चौखटों में चित्रित दृश्यों के ऊपर तिनकोनिया मेहराब (Trefoiled Arch) अंकित है। साथ ही, चौखटों के ऊपर दोहरी कारनिस है, जिसमें निचली कारनिस में जहाँ-तहाँ हंसों की पंक्ति और चैत्य-झरोखों के नुकीले मेहराब एक के बाद एक हैं। इनमें मकर, फूल-पत्तों की बूटेदार नक्काशी के साथ शिव-पार्वती और कार्त्तिकेय के चित्र हैं। शिव के रौद्र रूप को देख कर भयभीत पार्वती दूर हटती दिखाई देती है। उनके इस भयमिश्रित तथा आश्चर्य के भाव का सुन्दर और कलात्मक चित्रण हुआ है। अग्नि और कुबेर के भी चित्र हैं। बौद्ध-जातकों के भी दृश्य अंकित हैं। इन धर्म-सम्बन्धी दृश्यों के अलावा इन चौखटों पर पुरुष और नारी की प्रणय-भावना के दृश्यों का भी चित्रण हुआ है। इन प्रेममय दृश्यों के स्वाभाविक और सरस चित्रण से यह स्पष्ट हो जाता है कि गुप्त-काल में बिहार-प्रदेश की मूर्त्ति-कला में मानव के साधारण, पर आवेगपूर्ण भावनाओं का समुचित आदर ही नहीं था, वरन् सौहार्दपूर्ण पूरी अभिव्यक्ति हुई थी। स्पूनर साहब के विचार में इन मूर्त्तियों को पत्थर पर खोदने में जिस विलक्षण प्रतिभा और परिपक्व कला का परिचय दिया गया है, उससे स्पष्ट है कि गुप्त-सम्राटों के बहुत बाद ये हर्गिज नहीं बनी होंगी।

गुप्त-काल में पाषाण-मूर्त्तियाँ या पाषाण पर उत्कीर्ण मूर्त्तियों के अलावा चूना, बालू या मिट्टी की बनी मूर्त्तियाँ (Stucco) भी अत्यन्त आकर्षक बनती थीं। नालन्दा के प्रधान स्तूप की दीवार के चारों ओर चूना और बालू की बनी बौद्ध देवी-देवताओं की मूर्त्तियाँ प्रतिष्ठित हैं, जिनमें अवलोकितेश्वर और तारा की मूर्त्तियाँ भी प्रमुखतया उल्लेखनीय हैं। पर 'मनियार-मठ' के डमरूनुमा स्तूप के चारों ओर ताखों पर चूने और बालू की बनी नाग-नागिन की सुसज्जित मूर्त्तियाँ अत्यन्त ही मनोहर हैं।[2] इन आवेगपूर्ण गतिशील मूर्त्तियों में स्वाभाविकता और ओज का सुन्दर सामञ्जस्य है। मूर्त्तियाँ अत्यन्त

---

१. चित्र-संख्या—७२

२. चित्र-संख्या—७३

स्वाभाविक हैं और सांसारिक जीवन के प्रति अत्यन्त विमोहित हैं। नालन्दा के पाषाण-चौखटों में उत्कीर्ण नर-नारी-मूर्त्तियों की तरह ही 'मनियार-मठ' की इन मूर्त्तियों में नारी के पूर्ण विकसित उरोज, विस्तृत नितम्ब, प्रणय-भावनाओं से मदमाती थकी-उनींदी आँखें और लालसामयी चेष्टाएँ अत्यन्त आश्चर्यजनक रीति से, पूर्ण सचाई और ईमानदारी के साथ, प्रदर्शित की गई हैं। यहाँ कला जीवन के इन्द्रिय-सुख की पूर्णता को अत्यन्त सहानुभूतिपूर्वक व्यक्त करने में सफल हुई है। किन्तु, इसके साथ इन भावावेशपूर्ण मूर्त्तियों में आन्तरिक सौम्यता और अन्तस्तल की ओर देखने की भावना को भी हम स्पष्ट पाते हैं। इनमें आनन्द-विह्वलता के साथ सुरोचकता है और प्रेमाभिव्यक्ति के साथ एक गरिमा है। संसार के उल्लास और पूर्णता का नारी एक अनिवार्य साधन है और इसलिए हम इन मूर्त्तियों में नारी-शरीर की अपूर्व छवि देखते हैं। फिर भी मानव-शरीर की सुन्दरता का चित्रण और अभिप्राय यहाँ पश्चिमी कला से भिन्न है; क्योंकि इन मूर्त्तियों में अंगों का असामान्य सामञ्जस्य के अतिरिक्त इनका अभिव्यक्त भाव आत्मा के रहस्यमय झंकारों से झंकृत है। 'मनियार-मठ' की इन मूर्त्तियों ने गुप्तकालीन कला की अपनी विशेषता सिद्ध कर दी है। सारनाथ-शैली की सौम्यता और आन्तरिक आध्यात्मिक कान्ति को बिहार के कलाकारों ने भावावेश और संसारी जीवन की रागात्मक प्रवृत्तियों के साथ (दो प्रतिकूल धाराओं को) एक स्रोत में बहा दिया है। बिहार-प्रदेश की इन मूर्त्तियों में मानव-शरीर की लुभावनी शोभा और मनुष्य की कोमल और आवेशपूर्ण भावनाओं का इतना सुरुचिकर सामञ्जस्य हुआ है कि संसार की कला में इसका सानी नहीं मिलता।

पहले बताया जा चुका है कि मनियार-मठ की मूर्त्तियों में नाग-नागिन की मूर्त्तियाँ अत्यन्त प्रधान हैं। नागों का भारतीय धर्म और कला से निकट का सम्बन्ध रहा है। सर्पों को हम मोहनजोदड़ो और हरप्पा की मुहरों पर भी पाते हैं। अथर्ववेद, यजुर्वेद और गृहसूत्रों में भी नाग-पूजा का उल्लेख है। प्राचीन बौद्ध-साहित्य में प्राचीन सर्प-मन्त्र का उल्लेख है। जातक-कथाओं में अनेक नागों का वर्णन है और पिप्पलिका पर निवास करनेवाले एक धार्मिक नाग की पूजा का भी उल्लेख है।[१] 'कौटिल्य-अर्थशास्त्र' में नाग की पूजा और नाग की मूर्त्ति की भी चर्चा आई है। अधिकतर पूजा-निमित्त नागों की मूर्त्ति में गोहमन साँप फण उठाये हुए रहता है। कई फणवाला या मानव-आकृति का सर्प चार या पाँच फण के साथ दिखाया गया है। नागिन बराबर एक ही फण से युक्त दिखाई गई है। अधिकतर नाग-मूर्त्ति के शरीर का ऊपरी भाग मनुष्य का है और निचला भाग साँप का। भारतीय पौराणिक धर्म-कथाओं और लोक-कथाओं में नागों का उल्लेख वास्तविक साँप के अभिप्राय से नहीं हुआ है; बल्कि उन्हें देवता की पंक्ति में रखा गया है। इसी आधार पर भारतीय कला में भी उन्हें अभिव्यक्त किया गया है। नालन्दा की १६२० ई० की शीतकालीन खुदाई में एक अत्यन्त ही सुन्दर नाग-मूर्त्ति मिली। इस नागदेव के दाहिने हाथ में जप करने की माला है और बायें

१. नागों की पूजा के विषय में अधिक जानकारी के लिए '*Indian Serpent Lore*' (*by J. Ph. Vogel; pp. 2—28*) देखें।

में कमण्डल। नागदेव अपने केंचुल पर बैठे हैं, जिसकी ऐंठन दोनों ओर स्पष्ट दिखाई पड़ती है। उनके सर पर एक अत्यन्त प्रभावकारी सात फणों का छत्र है।[1] अपने उठे और फैले हुए फणों से कंधा और सर ढँका रहना, नाग-मूर्त्तियों का विलक्षण गुण है, जिसका भारतीय-कला में सुन्दर प्रदर्शन किया गया है। उल्लिखित नागदेव की मूर्त्ति अत्यन्त ही भक्ति-भावना में ध्यानावस्थित है। इसके सम्बन्ध में जिम्मर साहब का निश्चित मत है कि यह कृति पाँचवीं सदी की प्रौढ़ कला की देन है।[2] नागों को भारतीय धार्मिक विश्वास में जीवनदायिनी शक्ति का संरक्षक माना गया है तथा धन का रक्षक भी। इसीलिए, बौद्ध और हिन्दू-धार्मिक कलाओं में उन्हें अनेक प्रकार से मूर्त्त किया गया है। बौद्ध-कला में नागों को बुद्ध के भक्त के रूप में अभिव्यक्त किया गया है।

भगवान् बुद्ध के जीवन-सम्बन्धी कथाओं में नागों का उल्लेख कई जगह आया है। उरुबिल्व में काश्यप भाइयों की अग्निशाला में बुद्ध और नाग के बीच शक्ति-प्रदर्शन हुआ, जिसमें बुद्ध विजयी हुए। निरंजना नदी में स्नान करने के बाद बुद्ध को नागकन्या ने स्वर्ण-सिंहासन दिया, जिसपर बैठकर भगवान् बुद्ध ने सुजाता की दी हुई खीर खाई। भगवान् बुद्ध जब गाढ़ी समाधि में लीन थे, तब भयंकर वर्षा से नागराज मुचलिन्द ने उनके सर पर अपने फणों को फैलाकर उन्हें बचाया था। 'काल' नाग ने ही बुद्ध को 'ज्ञान' (Enlightenment) प्राप्त करने की सूचना दी थी। इस प्रकार बुद्ध को कुछ नागों से यद्यपि संघर्ष हुआ, तथापि पीछे चलकर 'नाग' बुद्ध-भक्त और बौद्धधर्मानुयायी हो गये। जब राजगीर के जटिलों ने भगवान् बुद्ध की श्रेष्ठता की चुनौती दी थी और सम्राट् बिम्बिसार की उपस्थिति में ही जटिलों और बुद्ध में चमत्कार दिखाने की प्रतियोगिता शुरू हुई, तब बुद्ध के लिए 'नागनन्द' और 'उपनन्द' ने सहस्र पटलों के कमलासन की सृष्टि की थी, जिसपर भगवान् बुद्ध आसीन हुए थे। जब भगवान् बुद्ध पाटलिपुत्र में एक बार गंगा पार कर रहे थे तब नागों ने फणों का ही पुल बनाया था जिस पर चढ़कर उन्होंने गंगा को पार किया। दो नाग प्रतिदिन गृहस्थ के रूप में भगवान् बुद्ध की पूजा करते थे। सम्राट् बिम्बिसार के प्रति उन्होंने ऐसी भक्ति नहीं दिखाई, जिस कारण उन्हें निष्कासित कर दिया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि राजगीर में भीषण अकाल पड़ गया। अन्त में बिम्बिसार द्वारा क्षमा माँगने पर वे वेणुवन-विहार में फिर लौटे। बिम्बिसार ने नागों के लिए दो आवास बनवाये और सम्मानार्थ उनकी पूजा करना स्वीकार किया।[3] एक कथा के अनुसार चम्पा (भागलपुर-मुँगेर) और मगध में जब संघर्ष छिड़ा तब चम्पा नदी के अन्दर रहनेवाले 'चम्पक'-नाग की मदद से ही मगध के राजा को चम्पा का राज्य पुनः मिल सका। इसी कारण बिम्बिसार की ओर से चम्पा के तट पर चम्पक-नाग के लिए रत्नमण्डित मंडप बनाया गया, जहाँ उनके सम्मान में अर्घ्य और बलि दी जाती थी। महाभारत में श्रीकृष्ण कहते हैं कि राजगृह में 'अबुर्द' और 'शक्रवापिन्'

१. वही; पृ० ४३, चित्र-संख्या—७४।
२. *'Myths and Symbols in Indian Art and Civilization'* by *Heinrich Zimmer, Edt. by Joseph Campbell, p. 62.*
३. *Indian Serpent Lore; p. 118*

नामक शत्रु-नाशक नाग रहते हैं और यहीं 'स्वस्तिक' और 'मणिनाग' के भव्य भवन हैं। मणि ने ही मगध को इतना समृद्ध बनाया है; क्योंकि मेघ मगध को छोड़ नहीं सकते हैं। कौशिक और मणिमन्त ने भी राजगृह के प्रति पक्षपात किया है। सभा-पर्व के इस उल्लेख के अतिरिक्त वन-पर्व में, जहाँ तीर्थों का वर्णन किया गया है, राजगृह के बाद मणिनाग का उल्लेख आता है और यह कहा गया है कि इसके जल के ग्रहण करने से सैकड़ों गायों के दान का पुण्य मिलता है और विषैले सर्प के दंशन के विष का भय नहीं रहता। इस प्रसंग में हम राजगृह-स्थित 'मनियार-मठ' को नहीं भूल सकते, जहाँ हमें चूने और बालू की बनी नाग-नागिनियों की गुप्तकालीन मूर्त्तियाँ स्तूप-भित्ति की चौखटों (Niches) में प्रतिष्ठित मिली हैं। ब्लॉक साहब का यह विचार है कि ये मूर्त्तियाँ राजगीर के देवी-देवताओं की हैं, जिन्हें जन-समुदाय पूजता था। पर, बहुत सम्भव है कि यह स्तूप और ये मूर्त्तियाँ प्राचीनकालीन 'मणिनाग' से सम्बन्ध रखती हों।

नागों का सम्बन्ध सिर्फ बौद्ध-धर्म से ही नहीं, वरन् हिन्दू-धर्म से भी है। मायापति विष्णु की माया और शक्ति का प्रथम भौतिक रूपान्तर अनन्त सागर (Endless waters) है, जिसका चिह्न 'अनन्त' नाग माना गया है। इसी आधार पर अनन्त-नाग पर लेटे विष्णु की कल्पना की गई है। अनन्त-सागर में गोता लगाने का अर्थ है—माया के रहस्य की खोज। सृष्टि की उपज और चिर-विश्राम का संकेत हमें क्षीर-सागर में, कल्पना पर आधारित अनन्त-नाग और शेषशायी विष्णु की प्रतिमाओं में मिलता है। नाग जीवन-स्रोत का प्रतिरूप माना गया है। माता पृथ्वी के अन्तस्तल से निकली हुई यह प्राणदायिनी धारा सभी जीव-जन्तुओं का जीवनाधार है, जिसमें फिर सभी विलीन हो जाते हैं। इस प्रकार सर्प विरोधी भावनाओं का प्रतिनिधित्व करता है—जीवन और विनाश का। भौतिक जगत् में भी सर्पों का यह विरोधी काम है—एक ओर कृषि के रक्षार्थ कीड़ों को मारना और दूसरी ओर डँसकर किसानों के भी प्राण ले लेना। इसीलिए, सर्पों की पूजा इन विरोधी कारणों के आधार पर ही विकसित हुई होगी। विष्णु सर्जन और विसर्जन दोनों के कारण हैं। इन पारस्परिक विरोधी तत्त्वों को भारतीय दर्शन और धार्मिक कला में समझाने की बराबर कोशिश की गई है, और इसीलिए विष्णु और नाग को आधाराधेय-रूप में प्रतिष्ठित किया गया है।

नाग सृष्टि के शत्रु भी माने जाते थे और स्रष्टा के लिए नागों पर विजय प्राप्त करना आवश्यक था। इस आधार पर भी नागों के साथ विष्णु और विष्णु के अवतारों का संघर्ष हिन्दू-धार्मिक-कथाओं और कला का विषय बना। नागों से गृहीत पृथ्वी का उद्धार वाराह-विष्णु ने पाताल से किया और इसका अत्यन्त प्रभावशाली चित्रण उदयगिरि की गुप्तकालीन वाराह-मूर्त्ति में है। कृष्ण के द्वारा कालिय-नाग का दमन और उसकी तथा उसकी पत्नियों की प्रार्थना पर यमुना छोड़कर उसे सागर में चले जाने के लिए कृष्ण का आज्ञा देना स्पष्ट करता है कि जब-जब नाग सृष्टि के विकास में रुकावट डालने लगते थे, तब-तब विष्णु को उन्हें सजा देनी पड़ी है, किन्तु कृष्णावतार की इस कथा से यह भी निष्कर्ष निकलता है कि कृष्ण ने 'नाग' का नाश नहीं किया, उसे जीवित रहने दिया और उसकी शक्ति और रूपाकृति भी ज्यों-की-त्यों रहने दी। सिर्फ उसे देश से निर्वासित कर दिया। कालिय-नाग के प्रति

कृष्ण की इस कृपा का अभिप्राय यही हो सकता है कि बाल-गोपाल और कालिय-नाग दोनों विरोधी-शक्तियाँ सृष्टि के विकास में योगदान करती रहें, ऐसी व्यवस्था और मध्यस्थता सृष्टिकर्त्ता के लिए उपयुक्त ही थी।

बुद्ध और विष्णु के नागों से दोनों प्रकार के सम्बन्ध से (संघर्ष और सहायता से) एक यह अनुमान भी लगाया जा सकता है कि नागों की पूजा आर्येतर-काल से आ रही थी। वैदिक आर्यों और इन आर्येतर नाग-पूजकों में जो संघर्ष हुआ, उसकी और इस पर आर्यों की विजय की अभिव्यक्ति इन पौराणिक कथाओं में मिलती है। जिस प्रकार अन्य आर्येतर धार्मिक विश्वासों और रीतियों को हिन्दू और बौद्ध-धर्म में स्थान मिला, उसी प्रकार नागदेव को भी आत्मसात् कर लिया गया; पर राजनैतिक और धार्मिक संघर्ष की पृष्ठ-भूमि के कारण नागों को हिन्दू और बौद्ध-धार्मिक कथाओं तथा कलाओं में गौण स्थान मिला। इन नागदेवों को बुद्ध के अनुचर और भक्त तथा विष्णु के शयनासन या उनके द्वारा पराजित क्षमाप्रार्थी के रूप में चित्रित किया गया।

नागों की पूजा आर्येतर-काल से आ रही थी, यह तो मोहेनजोदड़ो और हरप्पा की खुदाई से ही स्पष्ट है। यहाँ दो परस्पर लिपटे सर्पों के दृश्य का चित्रण मिला है। इस प्रसंग में यह स्मरणीय है कि प्राचीन मेसोपोटामिया की प्राचीन कला में इस दृश्य के अनेक चित्र मिले हैं। यहाँ के कलात्मक तथा धार्मिक दृश्यों में भी दो सर्पों (नाग-नागिन) का परस्पर प्रेम-विह्वल हो लिपटे रहना और एक का शरीर दूसरे के शरीर से अभिन्न हो एक-पर-एक सिकुड़े रहना, अत्यन्त प्रभावोत्पादक है। 'लगश्' नगर-राज्य के धर्मपरायण राजा गिडा (Gudea) के पूजा के प्याले पर ऐसा चित्र अंकित है। जिम्मर साहब का विचार है कि यह चेष्टा (mo) भारतीय कला में आर्येतर-काल में ही, प्राचीन सुमेरियन-कला से ही आई और पीछे चलकर भारतीय धर्म और कला में आत्मसात् हो गई। 'मनियार-मठ' और 'भुवनेश्वर' के मुक्तेश्वर-मन्दिर को बाहरी दीवारों पर भी नाग-नागिन, एक-दूसरे से, आलिंगन-बद्ध दिखाये गये हैं।

इसी भाव-प्रधान कला के उदाहरणों में 'कुम्हरार' में मिली पकी मिट्टी की एक छोटी मूर्त्ति उल्लेखनीय है। एक औरत चलती दिखाई गई है और उसके दाहिने हाथ का सहारा लिये एक बालक भी चलने की चेष्टा में दिखाया गया है। स्त्री के द्वारा अपने बालक के हाथ का स्वाभाविक मातृ-भावना से पकड़ना अत्यन्त ही सुन्दर ढंग से अंकित है। यहीं एक पुरुष-मूर्त्ति का धड़ मिला है, जिसके चौड़े ललाट पर फीता बँधा है और सर पर के केश घुँघराले लच्छों में चित्रित हैं। आँख की भौंहें प्रमुख हैं, मूँछें घनी हैं और ओठ परस्पर सटे हैं। सिर जरा बाईं ओर झुका है। नाक और उसके छेद अच्छे बने हैं। बाँया हाथ वस्त्र के एक छोर को पकड़े हुए है। अंगुलियों के नख भीतर से गड़े दिखाये गये हैं। कमर के ऊपर कमरबन्द है और धोती की एक तह उसके चारों ओर चार बार ऐंठी हुई है। मुख पर गम्भीरता और ताजगी झलकती है।

गुप्त-युग में ब्राह्मण-धर्म की प्रधानता थी, और इसलिए हिन्दू देवी-देवताओं की मूर्त्तियों का प्रचलन स्वाभाविक था। बिहार-प्रदेश में भी अनेक देवी-देवताओं की मूर्त्तियाँ मिली हैं,

१. *Heinrich Zimmer; op. cit., pp. 72-73*

जिनमें कला की श्रेष्ठता स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त हुई है। इनमें मसाढ़ (शाहाबाद) से मिली विशाल मूर्त्ति (१०'×६") का उल्लेख आवश्यक है। यह बलुआ पत्थर की बनी है और विष्णु का एक परिचारक भी साथ है। मूर्त्ति अत्यन्त ही प्रभावोत्पादक और विष्णु के प्रताप का प्रतीक है।[1] इसी जिले से कार्त्तिकेय की मूर्त्ति मिली है, जिसमें कार्त्तिकेय मोर पर ललितासन में बैठे हैं। बायाँ पैर नीचे झूल रहा है और दाहिना मोर के गले से लिपटा आसन पर ही मुड़ा है। देवता के एक हाथ में शक्ति है और एक हाथ वरद-मुद्रा में है। गले में एकावलि शोभा दे रही है। मुख पर सौम्यता विराज रही है। वाहन मोर अत्यन्त भक्तिपूर्वक देवता को देखने की चेष्टा कर रहा है।[2] इसी जिले से मिली अग्निदेवता की मूर्त्ति अपने ढंग की अकेली है। यह मूर्त्ति, उपर्युक्त अग्नि, ललितासन में बैठी है। दाहिना हाथ वरद-मुद्रा में है और बायें हाथ में घट या कमंडल है। अग्नि के सिर पर जटा सुरुचिपूर्ण ढंग से बँधी है और गले में दो लड़ियों की माला है। अग्निदेवता के शरीर के ऊपरी भाग से चारों ओर अग्नि की लपटें निकलती दिखाई गई हैं।[3] शाहाबाद जिले से ही प्राप्त सूर्यमूर्त्ति सम्भवतः गुप्त-काल की है। सूर्य खड़े हैं और उनके दोनों हाथों में कमल है। सिर पर खास प्रकार का किरीट है। कमर में कमरबन्द है। कृपाण बाईं ओर दिखाई पड़ता है। गले में एकावलि है। ऊँचे फीतेदार बूट, पैरों को ठेहुने के नीचे तक छिपाये हुए हैं। नीचे बाईं ओर 'पिंगल' है और दाहिनी ओर 'दण्डी'। दोनों के पैरों में उसी प्रकार के बूट हैं।[4] सूर्य के मुख पर तेज व्याप्त है और कमल अत्यन्त सुन्दरतापूर्वक गढ़े गये हैं। ललछहुँ बलुआ पत्थर की गणेश-मूर्त्ति भी अत्यन्त आकर्षक है। गणेश पल्थी मारकर बैठे हैं और उनके बायें हाथ में लड्डू है। गणेश की सूँड़ अत्यन्त आकर्षक ढंग से इसी ओर मुड़ी है। गणेश की आँखों में बाल-सुलभ आनन्द और चंचलता अभिव्यक्त है।[5] बेनीसागर (सिंहभूमि) से एक अद्भुत विष्णु-प्रतिमा मिली है। विष्णु खड़े हैं और प्रभामण्डल-युक्त हैं। उनके चार हाथ हैं। दो हाथों में तो शंख और कमल हैं। अन्य दो हाथों में—एक पर नारी और एक पर पुरुष स्थित है। ये शायद गदा' और 'चक्र' के मानवरूप हैं—चक्र पुरुष और गदा नारी।[6] कई बार देवी-देवताओं के विविध आयुधों की मानव के रूप में कल्पना की गई है। चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के एक प्रकार के सुवर्ण सिक्कों पर चक्रपुरुष उत्कीर्ण हैं। इस पाषाण-मूर्त्ति में वनमाला ठेहुने तक वर्त्तमान है और पीताम्बर कमर से लेकर घुटनों के ऊपर तक कसकर पहना गया है। इसी सिलसिले में, पटना-संग्रहालय में सुरक्षित राजगीर के समीप प्राप्त अत्यन्त ही सुन्दर वाराह-मूर्त्ति का उल्लेख किया जाना चाहिए। यद्यपि मूर्त्ति को पाल-कला के उदाहरणों की पंक्ति में रखा गया है, पर मेरे विचार में

---

१. चित्र-संख्या—७५ (पटना-संग्रहालय-सं० ६४८८)
२. चित्र-संख्या—७६ (पटना-संग्रहालय-सं० ६००३)
३. चित्र-संख्या—७७ (पटना-संग्रहालय-सं० ६०११)
४. चित्र-संख्या—७८ (पटना-संग्रहालय-सं० ६०१५)
५. चित्र-संख्या—७६ (पटना-संग्रहालय-सं० ४४४६)
६. चित्र-संख्या—८० (पटना-संग्रहालय)

मूर्त्ति की शालीनता और उदयगिरि-स्थित विशाल वराह-मूर्त्ति के आदर्श पर हुई इसकी रचना के कारण इसे उत्तर गुप्त-काल का ही मानना अधिक ठीक होगा। मूर्त्ति छोटी है; पर अत्यन्त ही सुगढ़ और समविभक्त है। दृश्य का इतना सजीव चित्रण हुआ है कि मानों फिल्म की रीलें आँखों के सामने खुलती जा रही हों। कहानी कहने की सफल चेष्टा में यह मूर्त्ति बोधगया और भरहुत के उत्कीर्ण चित्रों की याद दिलाती है। वराह भगवान् के दो पैर और दो हाथ हैं, सिर्फ मुँह ही वराह का है, वरना रूप मनुष्य का ही है। वराह ऊपर सिर उठाये बाईं ओर देख रहा है। वराह के सिर के बाल, अत्यन्त स्वाभाविक ढंग से, समानान्तर रेखाओं में झूलते दिखाये गये हैं। वराह की मोटी गर्दन पर तीन लड़ियाँ उसके मांसल भाग को अत्यन्त प्राकृतिक रूप से अभिव्यक्त कर रही हैं। उसके गले में एकावलि हार है। बाँह में बाजूबन्द और कलाई में कंगन है। कमर में कमरधनी है। चादर बायें कंधे को ढके और ऊपर से ठेहुने तक झूलते हुए दाईं काँख के नीचे से गई है। दाहिना हाथ दाहिनी जाँघ पर है और उसकी बाईं तलहथी पर पृथ्वी है, जिसे वह पाताल से निकाल कर ऊपर ले आ रहा है। पृथ्वी अत्यन्त सुन्दर और सौम्य रूपवाली नारी-मूर्त्ति में है। सिर पर अवगुण्ठन है। वराह का बायाँ पैर एक फणवाले नाग के हाथों पर है और दूसरी ओर नागिन है। नाग और नागिन के शरीर (पूँछ) एक-दूसरे से आलिङ्गन-बद्ध हैं।[1] वराह-अवतार की पौराणिक कथा का सजीव चित्रण अत्यन्त सौहार्दपूर्ण और संयत शैली में हुआ है।

गुप्त-कला के उचित मूल्यांकन के लिए धातु की बनी मूर्त्तियों का अध्ययन जरूरी है। गुप्त-काल में धातुविद्या कितनी उन्नत थी, इसका सबसे उत्तम उदाहरण दिल्ली के निकट मेहरौली ग्राम में कुतुब-मीनार के सन्निकट का लौह-स्तम्भ है। यह खुले आकाश और आँधी-पानी में १६०० वर्षों से खड़ा है और इसपर जंग का नामोनिशान भी नहीं है। इसी समय ताँबे या अष्टधातु की प्रतिमाएँ भी बनने लगी थीं। सुलतानगंज (भागलपुर) में मिली विशाल बुद्ध-मूर्त्ति काँसे या अष्टधातु की है। इसका उल्लेख ऊपर हो चुका है। हेवेल साहब के विचार में यह मूर्त्ति अनुराधापुर (लङ्का) की प्रसिद्ध बुद्ध-मूर्त्ति की तरह प्राथमिक गुप्त-कला के श्रेष्ठ उदाहरणों में एक है। इससे धातुमूर्त्ति-कला की परिपक्वता स्वयं सिद्ध हो जाती है। युयान-च्वांग द्वारा वर्णित सोना-चाँदी और ताँबे की बनी अनेक बौद्ध मूर्त्तियों का उल्लेख किया गया है। उनके अनुसार नालन्दा में बालादित्य-मंदिर के पूरब मगध के राजा पूर्णवर्मा ने छमहला विहार बनवाया था, जिसमें एक ८० फीट ऊँची बुद्ध की ताम्र-मूर्त्ति प्रतिष्ठित थी। सम्भव है कि चीनी यात्री के वर्णन में अतिरंजना हो, फिर भी नालन्दा में प्राप्त अनेक धातु-मूर्त्तियों से यह सिद्ध हो जाता है कि बिहार-प्रदेश में उस समय धातुमूर्त्ति-कला अत्यन्त विकसित और समृद्ध थी।

धातु की मूर्त्तियाँ कैसे बनती थीं, इसका अन्दाज हम आधुनिक काल की कला-परम्परा से लगा सकते हैं। पहले मोम की मूर्त्ति बना ली जाती थी। उस मोम-मूर्त्ति पर गीली तथा चिकनी मिट्टी और गोबर का लेप कई बार दिया जाता था। इसके सूखने के बाद फिर भुस्सी मिली हुई मिट्टी का गाढ़ा लेप दिया जाता था। सूखने के बाद लोहे की गर्म शलाकाओं से

१. चित्र-संख्या—८१ (पटना-संग्रहालय-सं० ८४२८)

मोम-मूर्त्ति को पिघलाकर निकाल दिया जाता था, जिसमें मूर्त्याकार सूराख हो जाता था। तब उस सूराख के भीतर पिघला कर गर्म ताँबा या अन्य धातुएँ डाल दी जाती थीं, जो कुछ देर बाद ठण्डे होकर मूर्त्ति-रूप में परिणत हो जाती थी और फिर मिट्टी का ऊपरी ढाँचा तोड़ दिया जाता था। नेपाल में हाल तक यही तरीका अपनाया जाता था। पर एक दूसरा तरीका, इससे कुछ भिन्न पूर्व-भारत में प्रचलित था। खर-पुआल का ढाँचा पहले तैयार किया जाता था और उसपर मोम की मूर्त्ति बनाई जाती थी। उसके ऊपर गीली मिट्टी के कई बार लेप उपर्युक्त विधि से ही दिये जाते थे। सूखने के बाद इसे गर्म किया जाता था। इससे मोम गल जाता था, और निश्चित सूराख में पिघली धातु डाल दी जाती थी। इस प्रकार धातु की मूर्त्ति तैयार हो जाती थी। इस तरीके में फायदा यह था कि मिट्टी के ढाँचे को बर्बाद करने के बाद भी धातु की मूर्त्ति के नीचेवाला (भूसा-युक्त मिट्टी का बना) अन्तर्भाग (Core) बचा रह जाता था, जो बार-बार काम में लाया जाता था। सुलतानगंज की बुद्ध-प्रतिमा इसी तरीके से बनाई गई थी।

गुप्त-कला का उचित मूल्यांकन उस समय की सुवर्ण-मुद्राओं को बाद दे देने पर अधूरा ही रह जायगा, यद्यपि चन्द्रगुप्त और समुद्रगुप्त के सुवर्ण-सिक्के भारतीय इतिहास में भारतीय राजवंश की प्रथम सुवर्ण-मुद्राएँ हैं और इन पर शक-संस्कृति का प्रभाव स्पष्ट है, तथापि यह मानना ही पड़ेगा कि कलात्मक दृष्टिकोण से ये कृतियाँ अत्यन्त उच्च कोटि की हैं। समुद्रगुप्त के सुवर्ण-सिक्कों की जब हम चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के सुवर्ण-सिक्कों से तुलना करते हैं, तब स्पष्ट हो जाता है कि किस तीव्र गति से विदेशी प्रभाव के स्थान पर, भारतीयकरण की यह धारा प्रवाहित हो रही थी। इन सिक्कों पर लक्ष्मी पूर्णरूपेण भारतीय वेश-भूषा और मुद्रा में हैं। सम्राट् को भी भारतीय धोती में दिखाया गया है। चन्द्रगुप्त द्वितीय के सिंहनिहंता प्रकार के सिक्कों पर सम्राट् और सिंह की पारस्परिक सक्रिय चेष्टाओं और मुद्राओं की अत्यन्त वेगवती अभिव्यक्ति हुई है। राजा और सिंह के युद्ध का सजीव और स्वाभाविक चित्रण हुआ है।[1] इसी सम्राट् के अश्वारोही प्रकार की मुद्राओं पर दौड़ते हुए तेजस्वी और गौरवान्वित घोड़ों का अत्यन्त स्वाभाविक और ओजस्वी चित्र है।[2] बयाना-निधि में 'चक्रविक्रम' प्रकार की विलक्षण सुवर्ण-मुद्रा मिली है, जिसमें चक्रपुरुष सम्राट् विक्रमादित्य को प्रभुता की तीन शक्तियाँ, प्रसाद रूप में, दे रहा है और सम्राट् बड़े भक्ति-भाव से ले रहा है। पूरा दृश्य अत्यन्त सुन्दर और भक्ति-भावना से ओत-प्रोत है।[3] प्रकाशादित्य के सिक्के एक ही प्रकार के हैं; पर वे बड़े आकर्षक हैं। राजा घोड़े पर सवार हो सिंह का शिकार कर रहे हैं। इस दृश्य में राजा और सिंह की पारस्परिक स्फूर्त्ति, दाँव-पेंच और युद्ध के निर्णय का डाँवाडोल दिखाना बड़ा ही कौशलपूर्ण है।[4] सभी भाव चित्रपट की तरह आँखों के सामने घूमते हैं। इसी प्रकार, समुद्रगुप्त ने दिग्विजय के बाद अश्वमेध

१. चित्र-संख्या—८२
२. चित्र-संख्या—८३
३. चित्र-संख्या—८४; (पटना-संग्रहालय) में एक पाल-युग की चक्रपुरुष-प्रतिमा है।
४. चित्र-संख्या—८५

यज्ञ के उपलक्ष्य में, जो अश्वमेध प्रकार के सुवर्ण-सिक्के प्रचलित किये, उनपर अश्व का स्वस्थ और प्रतिष्ठित रूप अत्यन्त कलापूर्ण है।[1] इसमें किंचिन्मात्र भी संशय नहीं कि ये सिक्के पाटलिपुत्र (राजधानी) के टकसाल में ही ढाले गये होंगे। बिहार की कला में इसलिए इनका अध्ययन उचित ही है।

गुप्तकालीन कला के मुख्य गुणों को सूत्रात्मक रूप में जानने के लिए एक नजर डालने पर हम देखते हैं कि गुप्तकालीन मूर्त्तिकला अत्यन्त समृद्ध और आकर्षक है। शुद्धता, शिष्टता, स्वाभाविकता, सरल अभिव्यक्ति और प्रबल आध्यात्मिकता इस कला के उत्तम लक्षण या गुण हैं। इन विभिन्न गुणों के सन्तुलित समावेश ने तत्कालीन कला को चिर अमरता और नैसर्गिक सौन्दर्य प्रदान किया है। शिष्टता और संयत भावना से ओत-प्रोत ये मूर्तियाँ गुप्तकालीन श्रेष्ठ संस्कृति के उत्कृष्ट विकास के सजीव उदाहरण हैं। विभिन्न धर्मों की इन मानवीय या अमानवीय मूर्त्तियों में एक सामान्यता प्राप्त होती है, जो उनका आध्यात्मिक आधार और प्रयोजन रूप है। इस काल में अपनी पूर्व-कालीन परम्पराओं और प्रवृत्तियों को निश्चित रूप दिया गया और शैली पुष्ट और परिपक्व हुई। साँची, बोधगया और भरहुत में हम पाषाणों पर उत्कीर्ण मूर्त्तियाँ देखते हैं; क्योंकि तब उत्कीर्ण मूर्त्ति (Relief Sculptures) परम्परा ही प्राचीन भारतीय मूर्त्ति-कला का प्रधान अंग थी। गुप्त-काल की स्वतन्त्र और चौकोर काटी हुई खड़ी या बैठी मूर्त्तियों में प्राचीन परम्परा से अनुप्राणित होने के प्रमाण-स्वरूप ही एक अद्भुत प्रभावलि-मण्डित परम्परा का प्रचार हुआ। इस प्रकार स्वतन्त्र मूर्त्तियाँ बनाने की कला की सफलता के बावजूद आचारवादी सिद्धान्त की परम्पराओं को भुलाया नहीं गया। सौन्दर्य की नई परिभाषा की गई, जिसमें पवित्रता, ओज, आध्यात्मिकता और मानवीय लालसा को एक साथ स्थान मिला। मनियार-मठ की मूर्त्तियों में इन्हीं गुणों का सामंजस्य है। उनका इकट्ठे प्रभाव अत्यन्त हृदयग्राही है और यह भारतीय कला के पूर्व-विकास का चरमोत्कर्ष है। गुप्त-कला राष्ट्रीय कला है, जिसमें भारत की आत्मा और ऐतिहासिक परम्परा प्रतिष्ठित है। इस समय की मूर्त्तियाँ अधिकतर बड़े कद की हैं, जो कुषाण और मौर्य-काल की सीध में हैं; फिर भी इन विशाल मूर्त्तियों में कुषाण-उदाहरणों की अपेक्षा अंगों की रचना अत्यन्त कोमल और कमनीय है। गोल चेहरा, गोल-गोल बाँहें, मांस-पेशियों (muscles) का अभाव, ओठों पर रहस्यमयी मुस्कान, ऊपर का ओठ निचले ओठ पर इषत् गड़ा और नीचे का ओठ कुछ मोटा तथा लटका हुआ, गुप्त-मूर्त्तियों के विशिष्ट लक्षण हैं; बुद्ध की मूर्त्तियों में आभूषणों के अभाव हैं और बोधिसत्त्वों की मूर्त्तियों में भी साधारण और कम आभूषण हैं। आभूषणों के द्वारा शरीर की सुन्दरता को ढकने की कोशिश नहीं की गई है और पारदर्शक वस्त्र से नग्नता की भावना को छिपाकर शील-भावना को प्रकट किया गया है।

बिहार-प्रदेश में प्राप्त गुप्तकालीन कला के अवशेषों से यह स्पष्ट है कि सौभाग्यशाली राजधानी पाटलिपुत्र, वज्रासन (बोधगया) और नालन्दा-महाविहार में अनेक संस्कृतियों के निरन्तर सम्मेलन होते रहे। गुप्त-कला सैकड़ों वर्ष तक भारत के विभिन्न अंगों पर

१, चित्र-संख्या—८६

छाई रही। दक्षिण में अजन्ता, पूर्व में बंगाल, पश्चिम में मथुरा और उत्तर में तीरभुक्ति (तिरहुत) और हिमालय की तराई गुप्तकला-परम्परा के अंचल में थे।

गुप्त-साम्राज्य की अवनति के साथ-साथ कला का अखिल भारतीय रूप धूमिल होने लगा और सर्वमान्य परम्पराओं और कला-कौशल को क्षेत्रीय जामा पहनाया जाने लगा। यद्यपि गुप्त-कला की परम्पराएँ चलती रहीं, तथापि सातवीं सदी के उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि इनमें उस समय की गति अब नहीं रही। बिहार में, विशेषकर मगध में, गुप्त-कला के स्वर्णिम दिनों में भी यहाँ के कलाकारों ने नये विशष्ट गुणों का समावेश किया था। जीवन के प्रति स्वाभाविक दिलचस्पी और मानव के प्राकृतिक भावावेशों को मगध के शिल्पियों ने आध्यात्मिक शान्ति की खोज में भुलाया नहीं था, वरन् उनका पूरे ओज के साथ और सौहार्दपूर्ण चित्रण किया था। मनियार-मठ की मूर्त्तियों में हम नर-नारी के प्रेम और विलासमय जीवन के जीवित चित्र देखते हैं। नारी के स्वाभाविक सौन्दर्य, कोमल अंग, मद-भरी आँखें तथा आकर्षक चेष्टाएँ हमें भरहुत, बोधगया और पाटलिपुत्र की यक्षिणियों की स्वाभाविक और रसवन्ती मूर्त्तियों की याद दिलाती हैं। इन मूर्त्तियों में शारीरिक सौन्दर्य और शृंगारिक हाव-भाव के साथ गुप्त-कला की पवित्रता और आन्तरिक आध्यात्मिकता का संयत रूप चित्रित हुआ है। पहाड़पुर (बंगाल) में अनेक मूर्त्तियाँ मिली हैं, जिनमें हमें मनियार-मठ की मूर्त्तियों के समान ही मानवीय भावनाओं और स्वाभाविक जीवन-चित्रों की झाँकी मिलती है। पर, यहाँ दूसरे प्रकार की मूर्त्तियाँ भी मिली हैं, जिनके शरीर भारी हैं और मुद्राएँ कड़ी हैं। यह स्वतन्त्र स्थानीय शैली का प्रयास हैं।[1] शक्तिशाली पाल-साम्राज्य की स्थापना के बाद इस शैली का विकास हुआ। पूर्व-भारत (बिहार और बंगाल) में गुप्त-कला और स्थानीय कलाओं का जो सामञ्जस्य हो रहा था, पाल-युग में इस प्रवृत्ति और सांस्कृतिक धारा को बड़ा बल मिला। इस प्रकार गुप्त-कला के आधार पर ही, पाल-कला का विकास सम्भव हुआ। प्राथमिक पाल-कला के उदाहरणों में हम गुप्तकालीन शालीनता और गतिशीलता का अनुभव करते हैं। चेहरे की बनावट, केश-विन्यास, ओठों की रचना और उनपर अधखिली साधारण मुस्कान तथा अल्प आभूषणों के चित्रण गुप्त-कला की प्रत्यक्ष सीध में हैं।

---

१. *S. K. Saraswati—'Early Sculptures of Bengal'; Journal of Department of Letters*, xxx *p.p.* 1 – 40.

सप्तम अध्याय

बिहार में पाल-कला

आठवीं सदी के पूर्वार्द्ध में अराजकता से तंग आकर जनता और नेताओं ने बंगाल के गोपाल नामक व्यक्ति को राजा चुना, जिसने पाल-राजवंश की स्थापना की। गोपाल द्वारा बिहार-प्रदेश पर विजय प्राप्त कर लेने पर उसके पुत्र धर्मपाल ने सम्भवतः पाटलिपुत्र को फिर से बसाया और अपनी राजधानी बनाया। देवपाल ने मुद्गगिरि या मुँगेर में अपनी राजधानी रखी। मगध की ऐतिहासिक गरिमा से प्रभावित होकर ही बंगाली पालवंशियों ने इसे अपना केन्द्र बनाया और उसे यहीं से पाल-साम्राज्यवादी नीति तथा पाल-कला और संस्कृति की किरणें उत्तर-भारत में चमकीं। पाल-साम्राज्य धर्मपाल और देवपाल के समय में पूर्व में आसाम और पश्चिम में कन्नौज तक फैल चुका था, पर पाल-राजाओं को बराबर भीषण-युद्ध में उलझा रहना पड़ा। भारतीय सार्वभौम सत्ता के लिए राष्ट्र-कूटों, गुर्जर-प्रतिहारों और पालों में कई पीढ़ियों तक संघर्ष होते रहे। कुछ समय के लिए तो गुर्जर-प्रतिहारों ने बिहार और उत्तर-बंगाल को भी पदाक्रान्त किया था। इस प्रकार, पाल-युग में राजनीतिक वातावरण अत्यन्त अशान्त और अनिश्चित रहा। फिर भी यह मार्के की बात है कि राजनीतिक उथल-पुथल के बावजूद पाल-राजाओं के तीन सौ वर्ष तक के शासन में बिहार-बंगाल में कला का महत्त्वपूर्ण विकास होता रहा। कला-परम्पराओं की जीवनी शक्ति का इससे अच्छा प्रमाण और क्या हो सकता है? पाल-राजाओं के प्रत्यक्ष प्रोत्साहन और संरक्षण में बड़े-बड़े बौद्ध-विहार या विक्रमशिला और उदन्तपुरी-जैसे विश्वविद्यालय स्थापित हुए थे। नालन्दा अपनी शान-शौकत से खड़ा था ही। इन विश्वविद्यालयों में उन्नत शिक्षा के साथ-साथ 'कला' की अनवरत सेवा होती रही; क्योंकि मूर्त्ति-पूजा महायान और वज्रयान का अभिन्न अंग बन चुकी थी। राजनीतिक उतार-चढ़ाव से एक हद तक निःस्पृह रहकर बौद्ध-विहारों में धर्म और कला के सेवक उन्नत साहित्य और कला के विकास में संलग्न रहे। हिन्दू-धर्म में भी अनेक देवी-देवताओं को विभिन्न मुद्राओं और वेशभूषाओं में कल्पना की जा चुकी थी। इसलिए, पूजा के निमित्त विभिन्न प्रकार की मूर्त्तियाँ विभिन्न भावों या पौराणिक कथाओं को अभिव्यक्त करने के लिए बनाई जाने लगी थीं। उस समय कलाकार की कल्पना को पूर्ण स्वतन्त्रता नहीं थी कि वह अपनी निजी कल्पना और साधना के आधार पर प्रतिमा का निर्माण करे। शास्त्रकारों ने प्रतिमा के निश्चित लक्षण निर्धारित कर दिये थे, और मूर्त्तिकार को उनका पालन करना आवश्यक था, वरना उसके द्वारा बनाई गई मूर्त्तियों का

कोई धार्मिक मूल्य ही नहीं होता था। इन नियमों को हम कलाकार के लिए एक बन्धन समझ सकते हैं। उसकी कल्पना की उड़ान पर रोक लगाई गई। उसके पंख कतर दिये गये और पिंजरबद्ध पक्षी की तरह चहकने की इजाजत दी गई। पर, एक दृष्टि से इसका पूर्ण महत्त्व था और आवश्यक भी था। इसके द्वारा कलाकारों को निश्चित आधार के आदर्श पर मूर्त्ति-निर्माण की ओर मोड़कर वैयक्तिक लाभ की भावना को धार्मिक और लोकोपयोगी भावना की ओर प्रेरित किया गया। यह अत्यन्त उत्साहवर्द्धक बात है कि शायद इसी बन्धन के कारण ही भारतीय कलाकार अपने सीमित क्षेत्र में ही अपनी कार्यपटुता और कलात्मक प्रतिभा को अभिव्यक्त करने में दत्तचित्त हो गये और इसी कारण मानवीय आकृतियों की स्वाभाविकता से रहित होकर भी वे मूर्त्तियाँ अत्यन्त आकर्षक बनीं। कलाकार ने मूर्त्तियों के अंगों की रचना में मानवीय विषयी भावना और आध्यात्मिक भावना का समावेश किया है। मूर्त्तियाँ अधिकतर एक ओर झुकी-सी हैं या किसी विशेष अंग को गतिशील मुद्रा में चित्रित किया गया है। इसका परिणाम यह हुआ कि मूर्त्ति में ही 'गति' अभिव्यक्त हुई है। प्राथमिक पालकालीन मूर्त्तियों में हम देवी और देवताओं को सुन्दर और आकर्षक रूप में मूर्त्त देखते हैं। देवियों की मूर्त्ति में सुडौल और पूर्ण प्रस्फुटित स्तन तथा कोमल चिकने गोलाई लिये अंग शृंगारी भावना को उकसाते हैं। पुरुष-मूर्त्तियों में भी चौड़ा वक्षःस्थल, पतली कमर और कोमल बाँहें अत्यन्त मनोहर हैं। तान्त्रिक प्रभाव के कारण 'शक्ति' का महत्त्व इतना बढ़ गया था कि पुरुष-देवताओं की मूर्त्तियों में भी नारी-सुलभ कोमलता चेहरे पर व्याप्त दिखाई गई। पालकालीन प्रस्तर-मूर्त्तियाँ अधिकतर काले पत्थर (Black Basalt), कसौटी के पत्थर या स्लेट-पत्थर की बनी हैं। राजमहल और मुँगेर के खड्गपुर-पहाड़ी में यह अधिक मिलता है। मुँगेर जिले में सीता-कोहबर में प्राचीन स्लेट-पत्थर निकालने की खान का पता चला है, जिससे बहुत बड़े पैमाने पर (शायद पाल-युग में ही) पत्थर निकाला गया, यह स्पष्ट है।[1]

पाषाण-शिला या चौखटों पर उत्कीर्ण मूर्त्ति (Relief sculpture) की परम्परा कायम रही, और इस समय जब स्वतन्त्र और तृतीय आयाम की मूर्त्तियाँ भी बनती थीं, तब भी अत्यन्त विशाल और अलंकृत प्रभावलि से मूर्त्ति को पीठ की तरफ से जोड़ दिया गया है। इस कारण दर्शक की नजर मूर्त्ति की पीठ पर वस्तुतः आसानी से नहीं पड़ती है और इसका परिणाम यह हुआ कि पीछे चलकर कलाकार ने मूर्त्ति की पीठ गढ़ने में उतनी तत्परता और लगन नहीं दिखाई, जितनी कि तृतीय आयाम की मूर्त्ति बनाने में चाहिए थी। इस कारण सामने और बगल से मूर्त्तियाँ पूरी और चौकोर कटी मालूम पड़ती हैं, पर पीछे चिपटी-सी हैं। बौद्ध-मूर्त्तियों में बोधिसत्त्वों और तारा की मूर्त्तियाँ अत्यन्त आकर्षक हैं। बोधिसत्त्वों के सिर पर मुकुट और शरीर पर अनेक प्रकार के आभूषणों को चित्रित कर कलाकार ने भारतीय अलंकारप्रियता की परम्परा को प्रतिष्ठित करने का बहाना ढूंढ़ लिया। आभूषणों का चाव इतना अधिक बढ़ा कि विरागी बुद्ध को भी सिर पर मुकुट और गले में हार लिये प्रदर्शित किया जाने लगा। ऐसी मुकुटधारी बुद्ध की मूर्त्तियाँ राजगृह और नालन्दा में मिली हैं, जिनमें कुछ पटना-संग्रहालय की शोभा बढ़ा रही हैं।

१. *A. S. I.; A. R. 1925-26, pp. 152-153.*

अनेक सिर और हाथोंवाली मूर्त्तियाँ अमानवीय आकृति की हैं और उनके गढ़ने में कलाकार को शास्त्रीय नियमों का अक्षरशः पालन करना था। इन मूर्त्तियों का धार्मिक प्रयोजन था; पर कला के उचित विकास में पीछे चलकर यह एक प्रतिबन्ध बन गया, और मूर्त्तियाँ निष्क्रिय-सी अत्यन्त नियमनिष्ठ और आचार-परायण-सी हैं। बारहवीं सदी की अनेक मूर्त्तियों में विषमता, आकृति में कठोरता और भाव में स्थिरता दिखाई पड़ती है। पर, इस वातावरण में यह गर्व की बात है कि कलाकारों ने कुछ मूर्त्तियों में अपनी रचनात्मक और सर्जन-प्रतिभा का प्रमाण दिया है। कलाकारों ने लोकेश्वर या विष्णु की प्रतिमाओं में ईषत् स्मित और मुँह पर आध्यात्मिक कांति अभिव्यक्त कर आश्चर्यजनककला-कौशल का परिचय दिया है।

तिब्बती इतिहासकार तारानाथ ने 'धीमान' और उसके पुत्र 'वित्तपाल' को पूर्वी भारत की शिल्प-कला के जन्मदाता बनने का श्रेय दिया है। इनका समय ९ वीं सदी था, जिस समय धर्मपाल और देवपाल सम्राट् थे। नालन्दा की खुदाई से यह सिद्ध हो गया है कि नालन्दा-विश्वविद्यालय पाल-कला का एक प्रमुख केन्द्र था। बहुत संभव है कि 'धीमान' और 'वित्तपाल' ने नालन्दा में ही पाल-कालीन मगध-शैली का विकास किया और अष्टधातु की मूर्त्तियाँ ढालीं। श्री चन्दा का यह निश्चित मत है कि प्रथम शक्तिशाली पाल-राजाओं के संरक्षण में ही मध्यकालीन पूर्वीय शैली का, मगध में ही, अभ्युदय हुआ।[1] नालन्दा योगाचार और वज्रयान का प्रधान केन्द्र था और इसलिए सम्भवतः यहीं इनसे सम्बद्ध मूर्त्तियाँ बनी हों और उनके रूप निश्चित किये गये हों। तान्त्रिक बौद्ध-धर्म का प्रधान सिद्धान्त था—शक्ति की आराधना। इसलिए, स्त्री-मूर्त्तियाँ विभिन्न मुद्राओं और आसनों में शक्ति के विभिन्न रूपों और गुणों को अभिव्यक्त करती हुई बनने लगीं। यह बराबर ध्यान में रखा गया कि सभी मूर्त्तियाँ अत्यन्त आकर्षक और शृङ्गार-रस से पूर्ण हों। बौद्ध मातृदेवियाँ आदिमाता और नारी की सर्जन-शक्ति—दोनों भावनाओं की प्रतीक मानी गईं। उनकी विध्वंसक शक्ति भी पूजनीय थी। तान्त्रिक विचार और शक्ति की आराधना हिन्दू-धर्म में भी प्रवेश कर चुकी थी। इस समय की हिन्दू और बौद्ध देवी-मूर्तियों में कोई मौलिक भेद नहीं है, उन्हें सिर्फ विशिष्ट लक्षणों या आयुधों से ही पहचाना जा सकता है। पुरुष और प्रकृति तथा शक्ति और ब्रह्म का सम्बन्ध अविच्छिन्न है और इनके संयोग में ही सृष्टि का रहस्य छिपा है। उमा-महेश्वर की कल्पना और उसके कलात्मक प्रतिरूप के पीछे यही भावना और विश्वास है। इसीलिए, इस युग की पुरुष-मूर्त्तियों में तथा बोधिसत्त्व और अन्य देवताओं की मूर्त्तियों में नारी-सौन्दर्य और शक्ति का समावेश है। इनका गोलाकार चेहरा, कोमल और चिकने अंग, सरस प्रवाह के साथ-साथ चौड़ा वक्षःस्थल और खड़ी मुद्रा पुरुष और नारी के मिश्रित गुणों का सामञ्जस्य है।[2] पुरुष-मूर्त्तियों में नारी-सुलभ कोमलता और आकृति स्पष्ट है। यक्ष-मूर्त्ति से बिहार की कला कितनी दूर आगे निकल आई, यह यहाँ प्रत्यक्ष है।

---

१. *A.S.I.;A.R, 1923-24 p. 101*

२. चित्र-संख्या (भारतीय संग्रहालय) इसकी तुलना कीजिए तारा की मूर्त्ति से—
(Pala & Sena Sculpture, Fig. 19)

धर्मपाल के राज्य के छब्बीसवें वर्ष में बोधगया में चतुर्मुख लिंग की स्थापना की गई। कला के दृष्टिकोण से यह एक रूक्ष उदाहरण है।[१] पर धर्मपाल के पुत्र देवपाल के समय में मूर्तिकला का अत्यन्त प्रशंसनीय विकास हुआ। पालकालीन मूर्त्तियों की यह विशेषता है कि वे किसी विशेष कार्य में रत दिखाई गई हैं और इससे पूरी मूर्त्ति में गति का संचार हो गया है। सिर्फ अकेली मूर्त्ति में भी विभिन्न आसनों मुद्राओं और हाथ की अंगुलियों के परिचालन-भाव से भी किसी विशेष कार्य में रत होने की चेष्टा के भाव को प्रकट किया गया है। बुद्ध की मूर्त्तियों में प्रधान मूर्त्ति के अलावा बुद्ध के जीवन के प्रमुख दृश्य अंकित हैं। प्रभावलि के किनारे सुन्दर नक्काशी है। ९ वीं सदी की मूर्त्तियों में भी बुद्ध का करुणामय मुख और सुडौल अंगों का कलात्मक प्रदर्शन हुआ है। बुद्ध की ऐसी मूर्त्तियाँ भी मिली हैं, जिनमें उनके जीवन के कई प्रमुख दृश्य चित्रित हैं। बोधगया में एक सुन्दर मूर्त्ति मिली है, जिसमें बुद्ध पर्यंकासन पर बैठे हैं और उनके हाथ एक-पर-एक गोद में पड़े हैं तथा एक बड़ा कटोरा हाथों की तलहथी पर रखा हुआ है। दाहिनी ओर एक बन्दर कटोरा लिये खड़ा है।[२] एक जातक (कुरंग जातक)-कथा है कि भगवान् बुद्ध को वैशाली में एक बंदर ने तालाब के किनारे एक मधु से भरा पात्र भोजन के लिए दिया था। इस चित्र में यही कथा कही गई है। बन्दर स्वयं मधु से भरा पात्र लाकर बुद्ध को देता है और वे उसे प्रेम से ग्रहण करते हैं। यह पूरी कहानी एक चित्र के माध्यम से चलचित्र की तरह आँखों के सामने प्रकट कर दी गई है। बन्दर के हाथों में मधुपात्र दिखाकर पूरी मूर्त्ति में कहानी की गति अभिव्यक्त की गई है। भगवान् बुद्ध दोहरे कमल (Double lotus-throne) पर आसीन हैं। चबूतरे के नीचे दोनों ओर सिंह पञ्जा उठाये खड़े हैं। यह दृश्य मूर्त्ति में और भी गति की भावना स्पष्ट करता है। प्रभावलि पर आकर्षक बेल-बूटों की नक्काशी है। मूर्त्ति में बन्दर और सिंह की चेष्टाओं से गति अभिव्यक्त हुई है, यद्यपि प्रधान बुद्ध-मूर्त्ति शान्त और स्थिर है। नालन्दा से कुछ दूर पर स्थित जगदीशपुर ग्राम से एक विशाल बुद्ध-प्रतिमा मिली है, जिसकी प्रभावलि काफी बड़ी और अलंकृत है। इस मूर्त्ति में बुद्ध वज्रासन पर ध्यानावस्थित हैं और मार (कामदेव) अपनी पूरी सेना के साथ दैत्यों और अप्सराओं के साथ उनका ध्यान-भङ्ग करने की विफल चेष्टा कर रहा है। अन्त में पराजित हो सदल-बल मुँह लटकाये वह जा रहा है। मूर्त्ति की कहानी वास्तविक की योग्यता से मंडित है। जीवन के प्रमुख दृश्य प्रधान मूर्त्ति के चारों ओर उत्कीर्ण हैं। बुद्ध जन्म लेने के तुरन्त बाद ही सात पग चल पड़े थे। इस किंवदन्ती का यहाँ गान्धार-परम्परा के अनुसार चित्रण हुआ है। प्रभावलि के ऊपरी भाग पर परिनिर्वाण का दृश्य उत्कीर्ण है। बुद्ध की चिर शय्या के नीचे भक्तों का करुण विलाप और दुःख नाटकीय ढंग से अंकित हैं। इस समय की मूर्त्तियों का नाटकीय गुण वास्तव में उल्लेखनीय है। इसी प्रकार के दृश्य बोधगया से मिली उस शिला पर भी उत्कीर्ण है, जो अब पटना-संग्रहालय की शोभा बढ़ा रही है। दृश्य तीन पंक्तियों में अंकित हैं। सबसे ऊपरकी पंक्ति में छह संकलित स्तूप हैं और परि-निर्वाण का दृश्य है। मध्य की पंक्ति में तीन विभिन्न चेष्टाओं में बुद्ध की तीन खड़ी मूर्त्तियाँ हैं।

१. '*Art of the Pala Empire*'; p. 6.

२. चित्र-संख्या—८७ (पटना-संग्रहालय-सं० १०६)

इनमें बुद्ध के जन्म का भी दृश्य है। अन्तिम पंक्ति में बुद्ध भगवान् धर्मचक्र, भूमिस्पर्श, श्रावस्ती और ध्यानमुद्रा, इन चार मुद्राओं में क्रमशः बैठे हैं।[1] लक्खीसराय (मुँगेर) से एक अत्यन्त प्रभावोत्पादक और सुन्दर बुद्ध-प्रतिमा मिली है। साढ़े पाँच फीट ऊँची बुद्ध-मूर्त्ति अभय-मुद्रा में खड़ी है। ब्रह्मा उनके दाहिने और इन्द्र बायें भाग में छत्र लिये खड़े है। बुद्ध के तुषित-स्वर्ग से नीचे उतरने का दृश्य है।[2] बुद्ध घर से राज-राग छोड़कर ज्ञान की खोज में चले थे। उन्होंने अपने आभूषण निकाल फेंके थे और सिर के लम्बे केश भी काट डाले थे। इसलिए, जब बुद्ध की मूर्त्तियाँ बनने लगीं, तब उनके शरीर पर न आभूषण और न सिर पर मुकुट दिखाया जाता था। बोधिसत्त्वों की प्रतिमाओं में मुकुट और आभूषण चित्रित किये जाते थे। बुद्ध और बोधिसत्वों की मूर्त्ति पहचानने में इस अन्तर को ध्यान रखना चाहिए। अन्त में देवी-देवताओं के आभूषणों से सज्जित करने की परम्परा इस तरह लोकप्रिय हो गई कि बुद्ध को भी आभूषण-मंडित किया गया। प्रमाणस्वरूप, नालन्दा में मिली बुद्ध-मूर्त्ति के सिर पर मुकुट है और गले में एकावलि है। बिहार में अभय-मुद्रा में बुद्ध की मूर्त्ति के सिर पर मुकुट नहीं हैं, पर गले में हार है।[3] फिर पीछे मुकुटहार, कंगन और बाजूबंद भी दिये गये हैं। ऐसे मुकुटधारी बुद्ध की एक प्रतिमा भारतीय संग्रहालय (कलकत्ता) में है। इस मूर्त्ति में बुद्ध वज्रपर्यंक-आसन पर भूमिस्पर्श-मुद्रा में दोहरे कमल पर बैठे हैं। सिर पर सुन्दर किरीट है और गले में चन्द्रहार। हाथ खाली है। कान लम्बे फटे हैं। शरीर अत्यन्त सुगढ़ और कोमल है। बाँह और कंधे के बीच के पुट्ठों के अभाव से शान्त और आध्यात्मिक रस अनवरत सारी मूर्त्ति में प्लावित हो रहा है। सिंहासन के नीचे दो ओर पूँछ उठाये सिंह, और मध्य में दो मनुष्य भार उठाने की मुद्रा में 'गति' का संचार कर रहे हैं। मूर्त्ति के दोनों ओर, और ऊपर, बुद्ध के जीवन के प्रधान दृश्य उत्कीर्ण हैं।[4] बिसुनपुर (गया) से बुद्ध की एक विशाल प्रतिमा मिली है। बुद्ध भूमिस्पर्श-मुद्रा में बैठे हैं। उनके सिर के बाल अत्यन्त सुन्दर ढंग से जटा के रूप में सज्जित हैं। ललाट पर ऊर्णा स्पष्ट है। आँखें अधखुली हैं, और उत्तरीय दाईं काँख से होते हुए भी बायें कंधे पर से नीचे झूल रहा है। वस्त्र का एक छोर बाईं ओर वक्षःस्थल पर गिरा है।[5] मूर्त्ति अत्यन्त ही सुन्दर है; पर प्रभावलि अलंकृत है।

बुद्ध के अलावा बोधिसत्त्वों और तारा प्रभृति अन्य देवी-मूर्त्तियों के भी उदाहरण बिहार में काफी मिले हैं। इनमें अवलोकितेश्वर की एक अत्यन्त सुन्दर और शिष्ट मूर्त्ति सर्वप्रथम उल्लेखनीय है। अवलोकितेश्वर वरद-मुद्रा में हैं और बायें हाथ में कमल है। गले में एकावलि, बाँह पर बाजूबन्द, कमर में मेखला और हाथों में कंगन है। मूर्त्ति बड़ी ही मनोहर है और शान्त रस की वर्षा कर रही है।[6] बिसुनपुर (गया) से ही मैत्रेय

---

१. चित्र-संख्या—८८ (पटना-संग्रहालय-सं० १५३)
२. चित्र-संख्या—८९ (पटना-संग्रहालय-सं० २३)
३. *A.S.I.A.R; 1921-22, Fig. 37 g.*, (चित्र-संख्या ९०)
४. चित्र-संख्या—९१ (पटना-संग्रहालय-सं० १६५९)
५. चित्र-संख्या—९२ (पटना-संग्रहालय-सं० १६८१)
६. चित्र-संख्या—९३ (पटना-संग्रहालय-सं० ८३७४)

की मूर्ति मिली है। मूर्ति त्रिभंग है और बोधिसत्त्व सुखासन पर बैठे अभय-मुद्रा में प्रतिष्ठित हैं। शरीर भरा और अंग-प्रत्यंग नवनीत-से कोमल और गोलाई लिये हैं। गाल चिकने और भरे है, नासिका ऊँची और सुचारु है। हाथों की अंगुलियाँ अत्यन्त स्वाभाविक ढंग से गढ़ी गई है। मूर्ति प्रत्येक अंग से समविभक्त है और मूर्ति पर चमकीली पॉलिश है।[1] अवलोकितेश्वर की विशाल पाषाण-प्रतिमा भी यहीं से मिली है। बोधिसत्त्व का दाहिना हाथ सीने के सामने अभय-मुद्रा में है और बोधिसत्त्व ललितासन में एक ओर झुके हैं। इस प्रकार मूर्ति में 'गति' की भावना स्पष्ट है।[2] कहलगाँव से लोकेश्वर की मूर्ति मिली है, जिसकी प्रभावलि अत्यन्त ही अलंकृत है और लोकेश्वर के शरीर पर भी विविध आभूषण हैं। लोकेश्वर ध्यानावस्थित हो पद्मासन पर बैठे हैं, दोनों हाथ गोद में हैं। चेहरे पर लावण्य और कोमलता नारी-मूर्ति की याद दिलाती है। बड़े और अलंकृत प्रभावलि से लोकेश्वर का व्यक्तित्व ही फीका-सा लगता है।[3] तारा की सुन्दर मूर्तियों में नालन्दा में मिली मूर्ति उल्लेखनीय है। काले पत्थर की इस प्रतिमा का केवल धड़ ही मिला है। पाल-कला की उन्नत दशा का यह एक सजीव उदाहरण है। सुन्दर और गोल मुँह, आर्कषक केश-विन्यास, आभूषणों का निश्चयात्मक चित्रण पूर्ण प्रस्फुटित और सुडौल स्तन तथा चेहरे पर शान्ति एवं सहानुभूति के भाव अत्यन्त ही स्वाभाविक ढंग से अभिव्यक्त किये गये हैं। कंचुकी स्तन के ऊपरी भाग को ही कसे हुई है और तारा के एक हाथ में कमल है। मूर्ति पर अत्यन्त ही उत्कृष्ट पॉलिश है।[4]

पाल-काल में हिन्दू-देवी-देवताओं की भी पाषाण मूर्त्तियाँ अत्यन्त ही प्रचलित थीं। धर्मपाल के समय में ही चतुर्मुख लिंग की प्रतिष्ठा बोधगया में की गई थी। कलात्मक दृष्टिकोण से हिन्दू और बौद्ध मूर्त्तियों में कोई मौलिक भेद नहीं है। हिन्दू-मूर्त्तियों से सिर्फ हिन्दू-धर्म का प्रचलन और उसके भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के विविध देवी-देवताओं की मूर्त्ति-पूजा का ही पता नहीं चलता, बल्कि बिहार-प्रदेश में पाल-कला का पूर्ण विकसित रूप देखने को मिलता है। शिव, विष्णु, सूर्य, गंगा, सरस्वती सप्तमातृका और उमा-महेश्वर की मूर्त्तियाँ काफी संख्या में मिलती हैं।

शिव-पार्वती के विवाह का दृश्य अत्यन्त भावपूर्ण है। शिव और पार्वती खड़े हैं, पार्वती दाहिनी ओर खड़ी हैं। पार्वती के एक हाथ में आइना है और दूसरा हाथ शिव के हाथ में हैं। शिव के चार हाथ हैं, जिनमें त्रिशूल, डमरू और कपाल है तथा दाहिना हाथ पार्वती का दाहिना हाथ पकड़े हुए है। शिव की जटा स्पष्ट है, और शरीर पर साधारण आभूषण हैं तथा ठेहुने तक वस्त्र है। शिव और पार्वती दोनों की आँखें नीचे झुकी हैं, मानों दुलहा-दुलहिन स्वाभाविक लज्जा का अनुभव कर रहे हों। पार्वती पूर्ण युवती हैं, उनके हाथों में चूड़ियाँ और कंगन हैं। वक्षःस्थल पर कंचुकी है। कमर में

१. चित्र-संख्या—६४ (पटना-संग्रहालय–सं० १६८२)
२. चित्र-संख्या—६५ (पटना-संग्रहालय–सं० १६८०)
३. चित्र-संख्या—६६ (पटना-संग्रहालय–सं० ६५)
४. चित्र-संख्या—६७ (पटना-संग्रहालय–सं० ८४६१)

कमरधनी, गले में हार और कान में कर्णफूल हैं। शिव और पार्वती दोनों के शरीर एक ओर झुके हैं, जिससे मूर्त्ति में 'गति' आ जाती है। नीचे शिव-पार्वती के बीच चतुर्मुख ब्रह्मा पुरोहित के रूप में बैठे हैं। इस आनन्द के अवसर पर शिव के गण नाचने, गाने और बजाने में व्यस्त हैं। पूरा दृश्य ही अत्यन्त स्वाभाविक और 'गतिमय' है, विशेष कर गणों के आनन्दमय भाव।[1] यह मूर्त्ति गया से प्राप्त हुई और डॉ० सुनीतिकुमार चट्टोपाध्याय ने इसका पहले-पहल उल्लेख किया था।[2] बिहारशरीफ से उमा-महेश्वर की भी सुन्दर मूर्त्ति मिली है। चतुर्भुज शिव ललितासन पर बैठे हैं और पार्वती उनकी बाईं ओर गोद में बैठी हैं। एक हाथ से शिव पार्वती की ठुड्ढी का स्पर्श कर रहे हैं, और दूसरा हाथ पीठ की ओर से आलिंगनबद्ध है। एक हाथ पार्वती का बायाँ स्तन छू रहा है। इस तरह शिव और पार्वती की प्रणय-भावना अत्यन्त मधुर है।[3] एक मूर्त्ति में चतुर्भुजी पार्वती के बायें पैर पर कार्त्तिकेय बैठे हैं। इसमें पार्वती का वाहन सिंह है। पार्वती विविध आभूषणों से युक्त हैं। उनके एक ऊपर के दाहिने हाथ में कृपाण है और दूसरा वरद-मुद्रा में है। एक बायें हाथ में पाश है तथा दूसरा वात्सल्यपूर्वक कार्त्तिकेय को पकड़े हुए है। यहाँ मातृभावना की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। बालक कार्त्तिकेय के दोनों पैर आसन से नीचे झूल रहे हैं और पार्वती ललितासन में बैठी हैं।[4] इसी सिलसिले में कार्त्तिकेय की 'शक्ति' का उल्लेख उचित होगा। यह मूर्त्ति कहलगाँव (भागलपुर) में मिली थी। शक्ति वरद-मुद्रा में खड़ी है, और दाहिनी ओर झुकी है। बायाँ हाथ सीने तक उठा है और 'कुछ' पकड़े हुए है, जो स्पष्ट नहीं है। देवी के दाहिने पैर के समीप मोर भक्ति-भावना से खड़ा है। देवी के मुख पर पवित्रता और शान्ति व्याप्त है, शरीर पर आभूषण हैं।[5]

बिहार-प्रदेश की मध्यकालीन सुन्दर मूर्त्तियों में सरस्वती की एक अत्यन्त मनोहर मूर्त्ति उल्लेखनीय है। सरस्वती त्रिभंग स्थिति में खड़ी हैं, जो मूर्त्ति में 'गति' की भावना स्पष्ट करती हैं। सरस्वती पूर्ण युवती के रूप में चित्रित की गई हैं। बायें हाथ में वीणा है और अंगुलियाँ बायें स्तन को छू रही हैं। दाहिना हाथ कटि पर है।[6] राजमहल से प्राप्त दरवाजे की चौखट पर उत्कीर्ण एक खड़ी नारी-मूर्त्ति का सिर दाहिनी ओर जरा मुड़ा है और उसी के अनुपात से सारा शरीर अत्यन्त आकर्षक ढंग से जरा झुका है। चेहरा गोल है, आँखें बड़ी और तिरछी दिखाई पड़ती हैं, भौंहें कमान-सी हैं। शरीर पर आभूषण अत्यन्त साधारण और जरूरत-भर हैं—बाजूबन्द, कड़ा, ६ लड़ियों की कमरधनी और पैर में पायजेब और गले में एकावलि है। केश को जूड़े के

---

१. चित्र-संख्या—९८ (पटना-संग्रहालय—सं० ६०४७)

२. *Modern Review. Jan. – June, 1930; pp. 87-88.*

३. चित्र-संख्या—९९ (पटना-संग्रहालय—सं० १५८३)

४. चित्र-संख्या—१०० (पटना-संग्रहालय)

५. चित्र-संख्या—१०१ (पटना-संग्रहालय—सं० १०३)

६. चित्र-संख्या—१०२ (पटना-संग्रहालय—सं० १६०३)

रूप में सुन्दरता-पूर्वक सजाया गया है।[1] और, केशविन्यास की वक्र लकीरें तरंगवत् लगती हैं। ओठों पर मुस्कान खिल रही है और आँखें मदभरी तथा बोझिल-सी हो रही हैं। स्तन सुडौल और पूर्ण विकसित हैं, नाक ऊँची और सुचारु है। पेट के मांसल भाग अत्यन्त कोमल ढंग से, लकीरों के द्वारा प्रकट किये गये हैं। कपड़ा शरीर से सटा है और अंगों की सुकुमारता और सुन्दरता को शीलपूर्वक अभिव्यक्त कर रहा है। दाहिना पैर जरा पीछे की ओर खींच लिया गया है और बायाँ ठेहुना थोड़ा आगे बढ़ा दिया गया है। पैर की बाईं घुट्ठी उठी हुई है। इस प्रकार, मूर्त्ति के संपूर्ण शरीर में मार्दवपूर्ण 'गति' का संचार किया गया है। दाईं ओर एक पक्षी मालूम पड़ता है, जो अस्पष्ट है। मूर्त्ति अत्यन्त ही मनोहर है[1] जो मन को मादकता और आँखों को रस पहुँचाती है। इसका समय नवीं सदी से पहले का नहीं हो सकता।

नाग-नागिन की एक अत्यन्त ही सुन्दर मूर्त्ति राजगृह के समीप के 'घोरकटोरा' ग्राम से मिली है। प्रतिमा चौड़ी और अंडाकार है। इसमें नाग और नागिन अलग-अलग बैठे हैं। उनके सिर पर फण है और उनका ऊपर का शरीर मानव का है। दोनों की पूँछें परस्पर गुँथी हुई हैं। अंजलि-मुद्रा में नागिन दोनों ओर भक्ति-भाव से खड़ी है। नाग-नागिन के मुँह गोल हैं और चेहरे पर शान्ति विराज रही है। मूर्त्ति का अभिप्राय बौद्ध है।[2]

मुँगेर से एक सूर्य-मूर्त्ति मिली है। सूर्य खड़े हैं और उनके दोनों हाथों में कमल है। वे ठेहुने तक लम्बा और चौड़ा फीते से बँधा बूट पहने हैं। कमर में मेखला, पेट पर अव्यङ्ग है और सिर पर एक विशिष्ट प्रकार का किरीट है। बायें हाथ में दावात लिये पिंगल त्रिभंग-मुद्रा में बाईं ओर खड़ा है, मानो वह मानव के अच्छे और बुरे कार्यों का हिसाब लिख रहा हो और अपनी अनामिका से हमें सचेत कर रहा हो। दाईं ओर बुरों और आततायियों को दण्ड देने के लिए 'दण्ड' दण्ड लिये खड़ा है।[3] सूर्य की एक दूसरी मूर्त्ति में दृश्यों का अधिक समावेश है। सूर्य खड़े हैं और दोनों हाथों में कमल है। सिर पर ऊँचा किरीट है, वक्षःस्थल पर जिरह-बख्तर और कमर में कवच है, पैरों में लम्बे और ऊँचे बूट-जूते हैं। सूर्य यहाँ पूरे उदीच्य और उत्तरी वेश-भूषा में हैं। दाहिनी और बाईं ओर दो स्त्रियाँ खड़ी हैं, जो उनकी पत्नी उषा और प्रत्युषा हैं। उनके हाथों में अंधकार को दूर करने के लिए तीर-धनुष नहीं हैं। इन स्त्री-मूर्त्तियों के नीचे दो पुरुष हैं। बाईं ओर 'दण्ड' एक दण्ड लिये है और दाहिनी ओर 'पिंगल' है। सूर्य के घुटनों के नीचे एक स्त्री-मूर्त्ति है, जो एक हाथ अभय-मुद्रा में उठाये हुई है। उसके सिर पर भी मुकुट है। यह स्त्री-मूर्त्ति सूर्य की एक अन्य पत्नी 'निक्षुभा' है जिन्हें माता पृथ्वी का रूप माना गया है। उनके नीचे सारथि अरुण है। कमलासन पर घोड़े उत्कीर्ण हैं और एक पहिया भी। मूर्त्ति का नाटकीय भाव और कहानी कहने की योग्यता प्रशंसनीय है। दण्ड, पिंगल, उषा, प्रत्युषा आदि के भाव और शरीर के झुकाव से 'गति' की भावना स्पष्ट है।[4]

---

१. चित्र-संख्या—१०३ (पटना-संग्रहालय—सं० १०३७६)
२. चित्र-संख्या—१०४ (पटना-संग्रहालय—सं० ७४६६)
३. चित्र-संख्या—१०५ (पटना-संग्रहालय—सं० ८५)
४. चित्र-संख्या—१०६ (पटना-संग्रहालय—सं० १०६५३)

पालकालीन नृत्य-रत गणेश की मूर्त्ति अत्यन्त ही आकर्षक है। गणेश के छह हाथ हैं। उनका सिर तो दाहिनी ओर है; पर उनकी सूँड़ बाईं ओर मुड़ी है, क्योंकि उसी ओर के हाथ में लड्डू है। दाहिने हाथों में परशु और पाश है और तीसरा पेट का स्पर्श कर रहा है। बायें हाथों में फणधर नाग, पुस्तक और लड्डू हैं। बाईं ओर स्त्री-मूर्त्तियाँ नृत्य-मुद्रा में हैं, और उनका एक हाथ अपने स्तन पर है। गणेश भी आनन्द से नृत्य कर रहे हैं, ऐसा मालूम होता है। गणेश का बड़ा पेट और किरीटकलित जटा उल्लेखनीय है। सिंहासन पर छोटा चूहा (गणेश का वाहन) उत्कीर्ण है। पूरी मूर्त्ति अत्यन्त ही गतिमय है, और आनन्द तथा मंगल का वातावरण प्रकट करती है।[१]

विष्णु (गोविन्द) की विशाल प्रतिमा किसुनगंज (पूर्णियाँ) से मिली है। इसकी प्रभावलि अत्यधिक अलंकृत है। और, इस पर विष्णु के विभिन्न अवतार उत्कीर्ण हैं। विष्णु के दोनों ओर लक्ष्मी और सरस्वती खड़ी हैं।[२] मूर्त्ति १२ वीं सदी की है, जब भाव की अभिव्यक्ति के बदले अलंकार पर ही विशेष ध्यान दिया जाने लगा था।

धातु-मूर्त्तियाँ

पाल और सेन-कालीन पाषाण-मूर्त्तियों के उल्लेख के बाद तत्कालीन धातु-मूर्त्तियों का अध्ययन भी उचित होगा। कुर्किहार (गया) और नालन्दा में अनेक मूर्त्तियाँ, संकलित स्तूप और बर्त्तन मिले हैं जो अष्टधातु के बने हैं। श्री भट्टशाली ने यह सिद्ध कर दिया है कि धातु की ये मूर्त्तियाँ लगभग आठ धातुओं के सम्मिश्रण से बनी हैं। इस सम्मिश्रण में ताँबा, टिन, सीसा, जस्ता, स्रोतोञ्जन, लोहा, सोना और चाँदी की मिलावट है। सोना और चाँदी का व्यवहार बहुत कम है, फिर भी कुर्किहार और नालन्दा में प्राप्त कुछ मूर्त्तियों में सोना का पानी फेरा गया है और ऊर्ण और हस्तकमल तो चाँदी के बने हैं। डच विद्वान् कैम्पर्स ने यह प्रमाणित करने की चेष्टा की है कि नालन्दा में मिली अष्टधातु की मूर्त्तियाँ पालयुग की हैं।[३] कुर्किहार में करीब सौ मूर्त्तियाँ मिली हैं, जिनमें अधिकांश पटना-संग्रहालय में हैं। इन पर जो अभिलेख खुदे हैं, उनसे पता चलता है कि इनका समय देवपाल से लेकर महीपाल (१०२६ ई०) तक है।[४] चौसा (शाहाबाद) और मानभूमि जिलों से भी कुछ धातु-मूर्त्तियाँ मिली हैं, जिनके समय के बारे में कोई निश्चित मत नहीं है। 'चौसा' की कुछ टूटी मूर्त्तियों से यह पता चलता है कि पहले मिट्टी का खाका बना लिया जाता था, जिसके ऊपर मोम का पुतला बनाया जाता था, जिस पर गीली और गर्म धातु ढाल दी जाती थी। मूर्त्ति पर सोने का पानी चढ़ाने की क्रिया इस प्रकार की थी—"मूर्त्ति के चिकने शरीर पर पारे का एक लेप चढ़ाया जाता था और इसके बाद सुवर्ण-धूल और पारा से मिश्रित एक गीले रंग से मूर्त्ति को रँगा जाता था। तब मूर्त्ति को गोयठे की आग पर गर्म किया जाता था, जिससे पारा तो उड़ जाता था; पर मूर्त्ति के शरीर में सुवर्ण-धूल स्थायी रूप से सटी रह जाती थी।"[५]

---

१. चित्र-संख्या—१०७ (पटना-संग्रहालय-सं० १०६०१)
२. चित्र-संख्या—१०८ (पटना-संग्रहालय-सं० ८२०३)
३. *The Bronzes of Nalanda and Hindu-Javanese Art*; p. 7
४. *J. B. O. R. S. XXVI; pp. 237 ff.*
५. *'Early Sculptures of Bengal'; J. D.L. XXX, p. 28*

अष्टधातु की ये मूर्त्तियाँ अत्यन्त सुन्दर और आकर्षक हैं। इनमें भी शरीर के चमड़े की कोमलता, शास्त्रीय नियमों का पालन, अलंकारों के निश्चयात्मक रूप, सिर पर जटा या मुकुट, वस्त्रों की सिलवटें और अत्यन्त अलंकृत प्रभावलि का सुन्दर चित्रण हुआ है। मार्के की बात तो यह है कि पालकालीन पाषाण-मूर्त्ति-कला के आदर्श और लक्षण हू-ब-हू इन धातु-मूर्त्तियों में भी उतार लिये गये हैं। यह भी ध्यान में रखने की बात है कि कला का माध्यम पाषाण से भिन्न है। इसलिए, पाषाण-मूर्त्तिकला और धातु-मूर्त्तियों में शैली के दृष्टिकोण से कुछ अन्तर है। अधिकांश धातुमूर्त्तियाँ अत्यन्त ही उन्नतकला के उदाहरण हैं।[१] बुद्ध की कुछ धातु-मूर्त्तियों में सौम्य भाव का प्रदर्शन, उत्तरीय को पकड़े रहने का ढंग, सिर पर घुँघराली लटें, गोल चेहरा, शरीर की नवनीतता आदि हमें गुप्तकालीन उन्नत कला के आदर्श की याद दिलाते हैं। पर, इसके साथ ही दोहरा या इकहरा कमलासन, अलंकृत प्रभावलि, व्याल की मूर्त्तियाँ, प्रभावलि के ऊपरी भाग पर कीर्त्तिमुख और किन्नरों का चित्रण पाल-कला के अनुकरण हैं। ऊर्णा का भी इतना व्यापक प्रचलन गुप्त-काल के बाद ही हुआ। उत्तरीय के अन्तिम छोर की घनी सिलवटों में हंसों के पंख की अनुकृति का चित्रण पाल-काल की विशेषता है। अधिकतर मूर्त्तियों में कमलासन के अतिरिक्त मूर्त्ति को बैठने या खड़ा होने के लिए एक चबूतरा (Pedastal) भी है, जिसके दोनों ओर सिंह पंजा उठाये चित्रित हैं। इससे 'गति' का ज्ञान होता है। गतिशीलता की भावना को व्यक्त करने के लिए कुछ प्रतिमाओं में मूर्त्ति एक ओर झुकी है और हाथ की विविध मुद्राओं से भी गति की भावना ही व्यक्त होती है। कुछ बुद्ध-प्रतिमाओं में बुद्ध के सिर पर मुकुट और शरीर पर आभूषण भी हैं। बुद्ध की कुछ मूर्त्तियों में बायें कन्धे के समीप, उत्तरीय का अन्तिम छोर झूलता दिखलाया गया है। यह भी पाल-काल की मूर्त्ति-कला की विशेषता है।[२] बोधिसत्त्व अवलोकितेश्वर की कुछ मूर्त्तियों में चार या छह हाथ हैं, और तारा की एक मूर्त्ति में तो १८ हाथ दिये गये हैं।[३] इतने अधिक हाथों का संयत रूप से चित्रण करना कलाकार की उच्चतम प्रतिभा का प्रमाण है। नालन्दा में एक मूर्त्ति बुद्ध की धर्मचक्र-मुद्रा में मिली है, जिसमें बुद्ध दोनों पैर नीचे लटकाये, यूरोपीय ढंग में बैठे हैं।[४] यह एक विलक्षण बुद्ध-मूर्त्ति है। ऊपर दोनों ओर बुद्ध दोहरे कमलासन पर अभय और भूमिस्पर्श-मुद्रा में बैठे हैं। सिंहासन के दोनों ओर एक-एक बुद्ध-मूर्त्ति है। नालन्दा की ही 'जम्भल' की मूर्त्ति भी उल्लेखनीय है। मोटी तोंद, भारी-भरकम शरीर, चौड़ा मुँह, आभूषणों से अलंकृत, बायें हाथ में धन की थैली, दाहिने हाथ में जमीरी नीबू और पैर के नीचे उल्टा हुआ घड़ा, गले में उत्पल-पुष्पों की माला आदि उपकरणों से 'जम्भल' के प्रभावशाली व्यक्तित्व में चार चाँद लग गये हैं।[५] नालन्दा से प्राप्त मारीची की अष्टधातुवाली प्रतिमा भी आकर्षक है। इसमें सातों

१. *The Bronzes of Nalanda; p. 10.*

२. वही, पृ० २५-२६

३. चित्र-संख्या—१०६ (पटना-संग्रहालय)

४. चित्र-संख्या—११० (पटना-संग्रहालय,)

५. चित्र-संख्या—१११ (पटना-संग्रहालय)

सूअर के बच्चे (देवी के वाहन) नहीं हैं। मारीची के तीन सिर हैं, दाहिनी ओर सूअर का मुँह है। सिर पर अलंकृत मुकुट है, आठ हाथ हैं, एक हाथ बाईं जाँघ पर और दूसरे हाथ की अँगुलियों से स्तन का स्पर्श हो रहा है। देवी प्रत्यालीढ आसन में हैं।[1] गंगा और सरस्वती की भी सुन्दर प्रतिमाएँ नालन्दा से मिली हैं। सरस्वती दो सेविकाओं के साथ हैं। देवी दाहिनो ओर कुछ झुकी हैं, और हाथ में वीणा है। पारदर्शक वस्त्र पहने हुई हैं, जिससे बायाँ स्तन तो पूरी तरह ढका है और दाहिना स्तन का कुछ भाग खुला है। पाल-शैली की यह विशेषता पाषाण-मूर्त्तियों में भी मिलती है। देवी के गले में दानों का हार है। नीचे एक सेविका घट लिये हुई है और दूसरी जलपात्र लिये। दोनों मूर्त्तियाँ एक ओर झुकी हैं। सरस्वती का बायाँ हाथ वीणा पर है, मानो वीणा के तार झंकृत हो रहे हों। देवी की त्रिभंग-स्थिति से और वीणा पर अँगुलियों के द्वारा कलाकार ने 'गति' और सक्रिय भावना को व्यक्त करने का सफल प्रयास किया है।[2] गगा की मूर्त्ति में गङ्गा मकर पर खड़ी हैं और कंधे तक उठे बायें हाथ की हथेली पर कलश लिये हुई हैं, दाहिना हाथ नीचे लटका हुआ है। मूर्त्ति अत्यन्त शोभनीय है।[3] वज्रहुंकार-मुद्रा में त्रैलोक्यविजय की मूर्त्ति अत्यन्त ही भयंकर और प्रभावोत्पादक है। देवता के चार मुख हैं, आँखों में चाँदी की बनी पुतलियाँ हैं, और गले में रुण्डमाल है। रूप अत्यन्त ही रौद्र और चेष्टा उग्र है। बायाँ पैर आगे बढ़ा है, और दाहिना पैर जरा मुड़ा है। मूर्त्ति इसी पैर पर भार देकर झुकी है। पैर के नीचे शिव-पार्वती रौंदे जा रहे हैं। इस मूर्त्ति में रौद्र-भावना, कठोर आकृति और विनाशकारी कार्यशीलता की अच्छी अभिव्यक्ति हुई है।[4]

गया से लगभग १५ मील दूरी पर 'कुर्किहार' ग्राम की खुदाई में अनेक अष्टधातु की बनी वस्तुएँ मिली हैं। 'कुर्किहार' प्राचीन 'कुक्कुटपादगिरि विहार' की आधुनिक स्थिति है। वर्त्तमान सतह से २५ फीट नीचे से अष्टधातु की चीजें मिलीं। इनमें कुछ पर लेख टंकित हैं इन मूर्त्तियों और नालन्दा की मूर्त्तियों में शैली की कुछ विशेष विभिन्नता नहीं पाई जाती। सभी पाल-काल की हैं। इन पर खुदे अभिलेखों से भी यह स्पष्ट है। दोहरे कमलासन पर अभय-मुद्रा में खड़े बुद्ध की सुन्दर प्रतिमा अत्यन्त ही सौम्य और आध्यात्मिक भावना को व्यक्त करती है। भोला चेहरा, करुण भाव से भरी अधखुली आँखें; ओठों पर हल्की मुस्कान की पवित्रता आदि अत्यन्त ही मधुर और संयत रूप से प्रकट हैं। सूक्ष्म पार-दर्शक वस्त्र और गले की समानान्तर सिकुड़न से बुद्ध के स्वस्थ और कोमल शरीर का अभिव्यक्तीकरण परिपूर्ण हो गया है। आँखें और ऊर्णा चाँदी के बने हैं।[5] 'कुर्किहार' से ही मिली तारा की एक मूर्त्ति भी उल्लेखनीय है। तारा के दो हाथ हैं। स्तन गोल और पूर्ण प्रस्फुटित हैं। दोनों स्तनों के बीच सीने पर पतला हार झूल रहा है। उत्पल-पुष्प की माला भी गले में लटक रही है। सिर पर मुकुट नहीं है; पर केश को ही आकर्षक

---

१. *A.S.I., A.R, 1923—24, p. 101. pl. XXXVI C.* चित्र-संख्या—११२
२. चित्र-संख्या—११३ (पटना-संग्रहालय)
३. चित्र-संख्या—११४ (पटना-संग्रहालय)
४. चित्र-संख्या—११५ (पटना-संग्रहालय)
५. चित्र-संख्या—११६ (पटना-संग्रहालय)

ढंग से जटा बनाकर मुकुटाकार में बाँधा गया है। हाथों में बन्द के साथ सात चूड़ियाँ हैं और बाजूबन्द है। कानों में गोलाकार इयरिंग हैं। वस्त्र की गहरी सिलवटें प्रत्यक्ष हैं। एक स्तन अर्द्धनग्न है। दाहिने पैर के नीचे वस्त्र का अन्तिम छोर हंस के फैले हुए पंख के समान घनी सिकुड़नों में फैला है। तारा ललितासन में बैठी हैं, एक पैर नीचे लटका हुआ है। महीन कपड़े के भीतर से पेट के मांसल भाग का, सिकुड़नों के द्वारा, बड़ा ही सुन्दर और स्वाभाविक चित्रण हुआ है। नाभी और खड़ी नाक आकर्षक हैं। मूर्त्ति बाईं ओर झुकी हैं। प्रभावलि निश्चयात्मक ढङ्ग से अलंकृत है।[१] हयग्रीव की मूर्त्ति में उसके दोनों बाहों पर नाग लिपटे हैं, और सिर के केश घोड़े के अयाल की तरह है। देवता की आकृति भयंकर है, और पूरी मूर्त्ति ही स्वर्णिम है।[२] उमा-महेश्वर की मूर्त्ति अत्यन्त ही स्वाभाविक ढङ्ग की है। चार हाथ वाले शिव ललितासन में बैठे हैं, और उनके नीचे लटकते हुए पैर साँड़ की पीठ पर टिका है। उमा प्रेम-विभोर हैं। आँखें सलज्ज नीचे झुकी हैं, पर मुँह और शरीर के झुकाव से प्रणय-भावना अभिव्यक्त होती है। एक हाथ से शिव उमा को आलिङ्गन करते दिखाई देते हैं, दूसरे हाथ से सलज्ज नतमस्तक पार्वती के चिबुक को पकड़ कर प्रेमपूर्वक ऊपर उठा रहे हैं। उमा के पैर के नीचे सिंह खड़ा है।[३] 'कुर्किहार' से प्राप्त सूर्य-मूर्त्ति में सूर्य के दोनों हाथ में कमल है। सिर पर आकर्षक ढङ्ग का किरीट है, और शरीर पर जिरह-बख्तर और कवच। बाईं ओर तलवार लटक रही है। सूर्य रथ पर खड़े हैं। सारथि 'अरुण' और रथ के सातों घोड़ों का स्वाभाविक चित्रण हुआ है। चबूतरे के अधोभाग में भक्त बैठा है।[४]

बक्सर के समीप के चौसा ग्राम से अनेक धातु-मूर्त्तियाँ मिली हैं। इनमें अधिकतर जैन तीर्थङ्करों की हैं। ऋषभदेव कायोत्सर्ग स्थिति में खड़े हैं। दोनों हाथ शरीर से सटे नीचे लटके हैं। सिर के बाल तरंगवत् लकीरों में चित्रित है। मूर्त्ति की आकृति कठोर है।[५] 'कल्पवृक्ष' भी उल्लेखनीय है। कल्पवृक्ष की नौ शाखाएँ हैं और इनमें गेहूँ की बालियाँ लटक रही हैं। वृक्ष की चोटी पर देवी बैठी हैं, जिनकी गोद में शायद गेहूँ की बालियाँ हैं।[६] मानभूमि जिले की चन्दनकियारी से अनेक जैन-मूर्त्तियाँ मिली हैं, जिनमें पार्श्वनाथ की मूर्त्ति उल्लेखनीय है। नालन्दा और कुर्किहार की अष्टधातु की बनी मूर्त्तियों की तुलना में चौसा और मानभूमि की मूर्त्तियाँ रूक्ष और भद्दी हैं, फिर भी चेहरे पर शान्ति की अभिव्यक्ति और सिर पर के घुँघराले केश, लम्बे कान प्रभृति लक्षण इन्हें प्राचीन परम्परा की सीध में ही रखते हैं।

बिहार की पूर्व-मध्यकालीन मूर्त्ति-कला के अनेक उदाहरणों को देख लेने पर हमें पालकालीन मूर्त्तिकला के विशिष्ट लक्षणों को समझने में दिक्कत नहीं होगी। पाल-मूर्त्तिकला के उचित मूल्यांकन के लिए यह आवश्यक भी है। इन मूर्त्तियों को देखने से

१. चित्र-संख्या—११७ (पटना-संग्रहालय)
२. चित्र-संख्या—११८ (पटना-संग्रहालय)
३. चित्र-संख्या—११९ (पटना-संग्रहालय)
४. चित्र-संख्या—१२० (पटना-संग्रहालय)
५. चित्र-संख्या—१२१ (पटना-संग्रहालय)
६. चित्र-संख्या—१२२ (पटना-संग्रहालय)

यह स्पष्ट हो जाता है कि कलाकार मूर्त्ति-विज्ञान को ध्यान में रखकर ही मूर्त्ति का निर्माण करते थे। उन्हें 'विष्णुधर्मोत्तर पुराण' या 'साधनमाला' की तरह शिल्पशास्त्र की पुस्तकों का पूर्ण हृदयंगम करने की आवश्यकता अनिवार्य थी। उनकी प्रधान चिन्ता यही थी कि मूर्त्ति निश्चित और पूर्व-स्वीकृत नियमों के अनुकूल उतरे, वरना समाज में उसका मूल्य ही क्या होगा—जब मूर्त्ति का प्रयोजन विशुद्ध धार्मिक और साम्प्रदायिक था। सजीव और रचनात्मक प्रतिभा का इस प्रतिबन्ध की सीमा में पनपना दुष्कर था। यही कारण है कि अधिकतर पालकालीन मूर्त्तियाँ गुप्तकालीन उत्तम कृतियों की तुलना में फीकी लगती हैं। मूर्त्ति के सभी अंग कुछ ऐसे निश्चयात्मक ढंग से गढ़े गये हैं, जो कलाकारों की अनुभूति को व्यक्त न करके शास्त्रीय सिद्धान्तों के यन्त्रवत् अनुकरण के उदाहरण हैं। प्रधान मूर्त्ति के शरीर के अणु-अणु से कार्य-संचालन और गति की भावना स्पष्ट नहीं होती है। कलाकारों ने इसी कमजोरी को छिपाने के प्रयास में या शास्त्रीय नियमों में बँधे रहने के कारण अथवा अन्य क्षेत्र में प्रयोग करने की चेष्टा में, प्रभावलि, प्रभामंडल और शरीर पर विभिन्न अलंकारों के चित्रण में ही अपनी क्रियात्मक प्रतिभा का परिचय दिया। मूर्त्ति एकहरे या दोहरे कमलासन पर खड़ी या बैठी है। प्रधान देवता और देवी के साथ उसके परिवार, परिवारक इत्यादि का चित्रण भी अत्यन्त स्वाभाविक हुआ है। विष्णु के साथ भूदेवी या लक्ष्मी अथवा सरस्वती; सूर्य के साथ उषा, प्रत्युषा, दण्ड, पिंगल; अवलोकितेश्वर के साथ तारा या भृकुटी और बुद्ध के साथ उनके जीवन के विभिन्न प्रधान दृश्यों का चित्रण स्वाभाविक हो गया था। मूर्त्तियों के शरीर पर आभूषणों की भरमार, सिर पर अलंकृत किरीट और प्रभावलि पर बेल-बूटे, कृतिमुख, विद्याधर, किन्नर, व्याल और सिंह का चित्रण इतना बारीक और बड़े पैमाने पर होने लगा कि मानों कला के प्रधान विषय प्रधान मूर्त्ति नहीं, वरन् प्रभावलि या आभूषण ही हैं। उत्तर-पालकालीन मूर्त्तियों में अलंकारों और प्रभावलि पर की बारीक नक्काशी का यह परिणाम हुआ है कि दर्शक मूर्त्ति के भाव और आन्तरिक सौन्दर्य के बदले बहिःसौन्दर्य की चमक से चकाचौंध हो जाता है। आन्तरिक भावों को व्यक्त करने में कुछ असफल रहने पर भी कलाकारों ने पत्थर या धातु मूर्त्ति पर बारीक नक्काशी, भिन्न-भिन्न आकृतियों, मुद्राओं और जीवों को चित्रित करने में अत्यधिक निपुणता प्राप्त की है। शास्त्रीय नियमों से बँधे रहने पर भी कलाकारों ने प्रतिमाओं में गति और सक्रियता लाने की पूरी चेष्टा की है। अधिकतर प्रधान मूर्त्तियाँ त्रिभंग-स्थिति में हैं, एक ओर शरीर का भाग कुछ झुका हुआ है। इस प्रकार कलाकारों ने निष्क्रियता के प्रभाव को (जो नियमनिष्ठ मूर्त्ति के लिए स्वाभाविक था) कम करने का प्रयास किया है। मूर्त्तियाँ अपने आन्तरिक गुणों के कारण जब स्वयं 'गतिशील' नहीं हो सकीं, तब कलाकारों ने उनके शरीर को ही त्रिभंग-स्थिति में चित्रित कर 'गति' अभिव्यक्त की है। इसी 'गति' की भावना को और भी अधिक स्पष्ट करने के लिए ही मानों कलाकार ने इष्टदेव या देवी के परिवारों की सृष्टि की और उनके हाव-भाव, मुद्रा तथा शारीरिक झुकाव के चित्रण में स्वतन्त्र रहने के कारण कलाकारों ने इनके माध्यम से 'गति' और सक्रियता को अभिव्यक्त किया। महिषासुर-मर्दिनी दुर्गा की प्रतिमा अत्यन्त

नियमनिष्ठ होने के कारण यद्यपि गतिपूर्ण नहीं मालूम पड़ती है—मुँह की आकृति कठोर और शरीर में कड़ापन है—तथापि सारा दृश्य ही पूर्ण 'गतिशील' है। पालकालीन मूर्त्तियों के मुख और अंग-प्रत्यंग की बनावट से नारी-सुलभ कोमलता और शृंगारिक भावना अभिव्यक्त हुई है, जो तान्त्रिकवाद का प्रभाव था। यह कहा जा चुका है कि इस मूर्त्तिकला का भी आदिस्रोत मगध ही था। एलिस् गेट्टी ने कहा है[1] कि मगध में ही इन देवताओं की सृष्टि हुई है। मगध को ही ऐसी मूर्त्तियों के बनाने का श्रेय है, जिनके लम्बे-पतले पैर, लहराते विस्तृत नितम्ब, आभूषणों से लदे शरीर विशिष्ट लक्षण हैं। संसार के प्रति पूरी जागरूकता मूर्त्ति की अधखुली आँखों से प्रकट होती है। आँखें अन्तस्तल की ओर नहीं, वरन् बाहर देख रही हैं, मानों भक्तों के प्रति आकृष्ट हैं, जिनसे आध्यात्मिक भावना दबी मालूम पड़ती हैं।

उपर्युक्त दोषों के रहते हुए भी पाल-कला में कुछ ऐसी शक्ति और तेज वर्त्तमान था, जिसके कारण यह बिहार और बंगाल में तीन सौ वर्षों से अधिक समय तक जीवित और सक्रिय रही तथा पड़ोसी राज्यों में एवं दक्षिण-पूर्व एशिया में सदियों तक फूलती-फलती रही। इससे यह तो मानना ही पड़ेगा कि सदियों तक भारतवासियों की धार्मिक और आध्यात्मिक भावनाओं और आकांक्षाओं की सेवा करनेवाली पाल-कला निश्चय ही प्रभावशाली और ओजस्वी थी। आज भी जब यही कला नेपाल और तिब्बत की धार्मिक कला का आदर्श है, तब तो मानना ही पड़ेगा कि दोषपूर्ण होते हुए भी पाल-कला महान् कला है।

यह सर्वमान्य है कि प्राचीन मूर्त्तिकला के उद्देश्य धार्मिक थे, इसलिए इन मूर्त्तियों के अध्ययन से तत्कालीन कला का ही नहीं, वरन् धार्मिक स्थिति का भी ज्ञान होता है। विविध धर्मों से सम्बन्धित मूर्त्तियों की उपस्थिति से प्रत्यक्ष है कि बिहार-प्रदेश में उस समय विविध धर्म एक साथ प्रचलित थे। ऐसी स्थिति तत्कालीन राजाओं की धर्म-निरपेक्षता और जनता की समदृष्टि तथा धार्मिक स्वतंत्रता की भावना का परिचायक है। पाल-सम्राट् धर्मपाल बौद्ध-धर्मावलम्बी था; पर उसके राज्यकाल के छब्बीसवें वर्ष में बोधगया के बुद्ध-मन्दिर के प्रांगण में ही चतुर्मुखी लिंग की स्थापना हम देख चुके हैं। हिन्दू-धर्मावलम्बी गुप्त-सम्राटों ने नालन्दा-महाविहार की प्रतिष्ठा की थी और वे उसके पोषक थे। धार्मिक सहनशीलता का इससे सुन्दर उदाहरण और क्या होगा कि नालन्दा (पटना) और कुर्किहार (गया) ऐसे विशुद्ध बौद्ध-केन्द्रों में बौद्ध-प्रतिमाओं के साथ-साथ अनेक हिन्दू-देवी-देवताओं की मूर्त्तियाँ प्रतिष्ठित की गईं, जो आज प्राप्त हुई हैं। बौद्ध-देवताओं में अनेक हिन्दू-देवताओं के ही रूप दिये गये। जैसे—जम्भल में कुबेर का। सप्तमातृका की प्रतिमा की पूजा हिन्दू और बौद्ध दोनों करते थे। हिन्दू-देवी दुर्गा को ही बौद्धों ने तारा के रूप में बदल दिया था। हिन्दुओं ने भी अनेक बौद्ध तान्त्रिक देवियों को अपने देव-समुदाय में स्थान दिया। ब्रह्मा और इन्द्र को बुद्ध के साथ चित्रित किया गया। बड़गाँव (नालन्दा के निकट) में एक मूर्त्ति का पता चला है,

---

१. *Alice Getty : Gods of Northern Buddhism ; p. XLIII.*

जिसमें बौद्ध देवी 'भृकुटी' के साथ इन्द्र और गणेश हैं। इस प्रकार हम विभिन्न धर्मों का समन्वय देखते हैं, जिसे Relegious syncreticism कहते हैं; अर्थात् भिन्न-भिन्न धार्मिक रीतियों या पंथों का समन्वय। इसका एक अत्यन्त आकर्षक उदाहरण बिहारशरीफ में मिला है, जिसमें हरिहर के अगल-बगल बुद्ध और सूर्य हैं।

इसी प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति हिन्दू-मूर्त्तियों से भी होती है। उस समय भी आज की तरह हिन्दू-धर्म में वैष्णव, शैव, शाक्त, सूर्योपासक आदि विभिन्न पंथ थे। अर्द्धनारीश्वर की मूर्त्तियों में हम शिव और शक्ति (आदि-मा) का संयुक्त मिलन देखते हैं। कुर्किहार में एक अष्टधातु की मूर्त्ति मिली है, जिसमें शिव और सप्तमातृका का सम्बन्ध स्पष्ट है। 'हरिहर' की मूर्त्ति से वैष्णव और शैव सम्प्रदायों का पारस्परिक सम्बन्ध—समवाय—प्रमाणित हो जाता है। हरिहर की एक मूर्त्ति पटना-संग्रहालय में सुरक्षित है।[1] बिहारशरीफ से ही एक चतुर्मुख लिंग मिला है, जिसमें दो ओर गणेश और विष्णु दिखाये गये हैं।[2]

धार्मिक समन्वय के इन अनेक उदाहरणों के प्रतिकूल भी कुछ ऐसी मूर्त्तियाँ हैं, जो धार्मिक कट्टरता तथा अन्य धर्मों के प्रति निरादर की भावना अभिव्यक्त करती हैं। प्राचीन और मध्यकाल के प्रथम भाग में भारत में धार्मिक विचार और प्रचार की पूर्ण स्वतन्त्रता थी, इसलिए विभिन्न सम्प्रदाय अपने-अपने पंथ को ऊँचा दिखाने में स्वभावतया प्रयत्नशील थे। भक्त की अपने इष्टदेव के प्रति अटूट श्रद्धा और विश्वास ही भक्ति का मूल आधार था और उसके लिए उसके इष्टदेव या देवी ही सर्वशक्ति-समर्थ थे। इसलिए, प्रत्येक भक्त अपने इष्टदेव से अन्य देवी-देवताओं को छोटा दिखाने की चेष्टा करता था। हिन्दू-पौराणिक कथाओं में एक देवता के दूसरे देवता पर विजय पाने के अनेक उदाहरण मिलते हैं। इनमें से कुछ कथाओं के आधार पर मूर्त्तियाँ भी बनाई गई। उदाहरण के तौर पर 'शरभ' के रूप में शिव नरसिंह को मारते दिखाये गये हैं। 'एकपाद' मूर्त्ति में शिव एक पैर पर खड़े हैं और ब्रह्मा एवं विष्णु उनकी दाईं और बाईं ओर से निकले आ रहे हैं। दक्षिण-भारत की एक त्रिमूर्ति में मध्य मूर्त्ति वासुदेव (विष्णु) की है और दोनों ओर शिव तथा ब्रह्मा हाथ जोड़े हैं। इन्द्र और ब्रह्मा का चित्रण, बौद्ध-मूर्त्ति-विज्ञान में, आरम्भ से ही बुद्ध के सेवक के रूप में हुआ है। 'बौद्ध-साधनमाला' में ब्रह्मा, शिव, इन्द्र और विष्णु को 'मार' (असुर और बुद्ध के पराजित शत्रु) कहा गया है।

किन्तु, धर्मान्धता तब अत्यन्त गाढ़ी दिखाई पड़ती है, जब हम प्रधान हिन्दू-देवी-देवताओं को बौद्ध देवी-देवताओं के द्वारा लांछित और प्रताडित देखते हैं। हिन्दुओं के यहाँ गणेश सिद्धिदाता और विघ्ननाशक माने गये हैं, पर बौद्धों के लिए गणेश 'विघ्न' माने गये हैं। पटना-संग्रहालय में एक मूर्त्ति है, जिसे बौद्ध देवी अपराजिता एक पैर से गणेश को कुचल रही है और देवी का एक हाथ चपत मारने की मुद्रा में ऊपर उठा है। गणेश अपने दोनों हाथों को अपने पैर पर रखे लुढ़क गये हैं। देवी का बायाँ पैर गणेश के दाहिने पैर पर है। कला की दृष्टि से मूर्त्ति अत्यन्त ही सजीव है और देवी का क्रुद्ध रूप

१. चित्र-संख्या—१२३ (पटना-संग्रहालय)
२. चित्र-संख्या—१२४

चपेटन-मुद्रा से स्पष्ट है।[1] हरिहरहरिवाहनोद्भव बोधिसत्त्वलोकेश्वर, सिंह के ऊपर गरुड और उसके ऊपर विष्णु और विष्णु पर स्वयं आरूढ हैं। सिंह, गरुड और नारायण सभी को 'हरि' कहा जाता है, इसीलिए इनकी सवारी करनेवाले बौद्ध-देवता का नाम 'हरिहरहरिवाहनोद्भव लोकेश्वर' पड़ा।[2] भारतीयसंग्रहालय (कलकत्ता) में पर्णशवरी की टूटी मूर्त्ति है, जिसमें तीन सिरवाली और छह हाथोंवाली देवी प्रत्यालीढ आसन में वामपाद गणेश (विघ्न) पर रखे हुई है और गणेश चित पड़े हैं।[3] उच्छुष्म जम्भल के पैर से कुबेर कुचले जा रहे हैं।[4] बौद्ध-देवता 'विघ्नान्तक' का वाहन गणेश बन गये हैं, जिनपर देवता आरूढ हैं।[5] वज्रहुंकार भैरव (शिव के गण) को कुचलते दिखाये गये हैं। बिहार से 'वज्रहुंकार' की धातु-मूर्त्ति मिली है। नालन्दा से त्रैलोक्य-विजय की मूर्त्ति मिली है। त्रैलोक्य-विजय प्रत्यालीढ स्थिति में शिव और गौरी को अपने पैरों से दबाये हुए हैं।[6]

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि सर्वसहिष्णु भारत में उस समय भी कुछ ऐसे धर्मान्ध कट्टरपंथी थे, जो अपने पंथ को सर्वोच्च प्रमाणित करने के जोश में अन्य धर्मों के प्रधान देवी-देवताओं को भी लांछित और प्रताड़ित करने से बाज नहीं आते थे। किन्तु, भारत के विशाल समुद्र-जैसे धार्मिक इतिहास में इन स्रोतों का स्थान बिलकुल नगण्य है, फिर भी मूर्त्ति-विज्ञान के क्षेत्र में इनका अकादमिक (Academic) महत्त्व जरूर है। नालन्दा के इतिहास से पता चलता है कि नालन्दा के बौद्ध-भिक्षुओं और ब्राह्मण तीर्थकों में अनबन हुई थी और नालन्दा महाविहार में आग लगा दी गई थी। शायद इसी विषाक्त वातावरण में इन मूर्त्तियों का निर्माण हुआ हो, तो सन्देह नहीं।

स्थापत्य

पाल-युग के स्थापत्य के अवशेष बिहार में पर्याप्त नहीं मिलते, किन्तु इसमें शक नहीं कि इस समय अनेक विहार, मन्दिर और राजकीय भवनों का निर्माण हुआ था। धर्मपाल के 'खलीमपुर'-अभिलेख से यह स्पष्ट है कि उसके समय में पाटलिपुत्र एक अत्यन्त समृद्ध नगर था और यहाँ पाल-सम्राट् के सामन्तों का समय-समय पर दरबार होता था। मुँगेर (मुद्गगिरि) भी देवपाल और नारायणपाल के समय में स्कन्धावार था। शायद पीछे राजधानी भी बना था। मुँगेर में पाल-काल के अवशेष मिल सकते हैं। बेगूसराय-सबडिवीजन में 'नवलागढ़' और 'जयमंगलागढ़' में पाल-कालीन किले के अवशेष मिले हैं। लक्खीसराय, क्यूल, जमुई और दिघवारा की उचित खोज और खुदाई से पाल-स्थापत्य के नमूने मिल सकते हैं। नालन्दा में पालकालीन विहारों के अवशेष मिले हैं।

१. चित्र-संख्या—१२५ (पटना-संग्रहालय)
२. *The Indian Buddhist, Iconography* ; *p. 44. pl, XXIII b.*
३. वही, *pl. XXVIII b.*
४. वही, *p. 115*
५. वही, *pl. XXXIX b,*
६. चित्र-संख्या १२६, (पटना-संग्रहालय)

विहार-सं० १ नौ बार बना और नष्ट हुआ। वहाँ देवपाल का अभिलेख मिला था, यवद्वीप के राजा 'बालपुत्र देव' का बनाया हुआ था। यह विहार पक्की ईंटों का बना है और २०५ फीट लम्बा और १६८ फीट चौड़ा है। इसकी दीवार ६'-६" मोटी है। ईंटों की जुड़ाइयाँ इतनी अच्छी हैं और जोड़ को घिस-घिसकर इतना चिकना किया गया है कि जोड़ का वस्तुतः पता ही नहीं चलता। दीवार पर पलस्तर की गई है और साधारण सजावट भी है। पश्चिमी दीवार के मध्य में प्रवेश-द्वार है, जहाँ बत्तीस फीट चौड़ी आलीशान सीढ़ी मिली है। बाहर से पश्चिमी दीवार २५ फीट ऊँची है और भीतरी दीवार के चारों ओर १० फीट वर्गाकार कमरे हैं, जिनमें ६'-१" लम्बी चौकी बनी है। कमरों के सामने लम्बा बरामदा है, जो १०'-६" चौड़ा है। यह विहार दो-मंजिला था या इससे अधिक मंजिल थे। पूर्व-मध्य में मुख्य मन्दिर था। मुख्य मन्दिर के सामने पत्थर के चबूतरे हैं, जिनमें पायों की आधार-शिलाएँ स्थित हैं। शायद इस चबूतरे पर से शिक्षक आँगन में बैठे विद्यार्थियों के लिए भाषण देते हों। विहार-सं० १० के दरवाजों में लकड़ी के लिंटल की जगह पर प्रायः सच्चे-मिहराब (True Arch) के चिह्न मिले हैं और मिट्टी के गारे से ही जुड़ाइयाँ हुई हैं। विहारों के प्रवेश-द्वार की बगल में एक गुप्त कमरा था, जिसमें कीमती चीजें सहेजकर रखी जाती होंगी। विहारों के साथ चैत्य भी बने थे। चैत्यों का आकार वर्गाकार था। स्तूप-सं० ३ और १२ प्रमुख हैं। ये गुप्तकालीन पुराने स्तूपों पर बने थे। चैत्य-सं० १३ के समीप धातु गलाने की भट्ठी के कमरे का पता चला है। यह भट्ठी ईंटों की बनी थी और इसमें चार कमरे थे। प्रत्येक में हवा आने-जाने के लिए और आग जलते रहने के लिए दो-दो पाइप थे। इस भट्ठी में से धातु की टूटी चीजें मिली थीं।[1]

नालन्दा के पालकालीन विहार अधिकतर दो-मंजिले हैं। उपरले मंजिल के बरामदे पर स्तंभ थे, जिन पर छत टिकी थी। विहार-सं० ६ की खुदाई में उपरले मंजिल का स्तम्भाधार पाषाण मिला था। शायद आग लगने के कारण यह विहार जल गया था और उपरला बरामदा भरभराकर गिर पड़ा था। लकड़ी के ही पाये उपरले बरामदे के लिए व्यवहार में लाये गये थे। विहार-सं० ६ अत्यन्त विशाल था और इसका द्वार पश्चिम की ओर था। यह द्वार मध्य-स्थित था और पत्थर का बना था। कुछ पत्थर के टुकड़े अभी लिंटल (lintels) में चिपके हैं। इस विहार में ३७ छोटे कमरे थे, और एक मुख्य मन्दिर था। पश्चिम की ओर के कमरों के बाद दो भांडार के कमरे हैं, जिनमें दरवाजे नहीं थे। विस्तृत आँगन ईंटों से पटा है और दो-आँचिया चुल्हों की तीन कतारें आँगन में ही बनी हैं। अठपहल एक कुँआ भी है और ईंटों की बनी नाली है, जिसे ऊपर से पत्थर की पाटियों से ढका गया था। बरामदा के स्तम्भ पत्थर की आधारशिला पर खड़े किये गये थे और पाये लकड़ी के ही थे। यह विहार भी दो-मंजिला था, और ७'-१०" चौड़ी सीढ़ी के अवशेष मिले हैं। विहार-सं० ११ की विशेषता यह है कि बरामदा के कुछ स्तम्भ अब भी खड़े हैं। ये पाषाण-स्तम्भ हैं। यह भी सम्भव है कि उपरले बरामदे की छत भी इसी प्रकार पाषाण-स्तम्भों पर

---

१. *Guide to Nalanda : p. 18.*

टिकी हों। बिहार-सं० ६ में लकड़ी के पाये थे, किन्तु बिहार-सं० ११ के पाषाण-स्तम्भ उल्लेखनीय हैं। विहारों की नींव बड़ी सावधानी से दी जाती थी। कहीं ईंटों और बालू का क्रम से व्यवहार किया जाता था, तो कहीं ईंटों की सतह के नीचे तीन से पाँच फीट मोटी बालू की सतह बिछाई जाती थी। भूकम्प के दौरे का भय बराबर रहता था, शायद इसीलिए यह उपाय व्यवहार में लाया गया था।

बिहार-सं० ७ के उत्तर-पश्चिम एक पाषाण-मन्दिर का अवशेष है। प्लीन्थ के निचले भाग के चारों ओर पत्थर की पट्टियाँ लगी हैं, जिनपर अनेक प्रकार के दृश्य उत्कीर्ण हैं। बहुत सम्भव है कि ये उत्कीर्ण दृश्य पाल-काल के पहले के हों, पर यह मन्दिर तो पाल-युग का ही है और संभव है, इसमें ये चौखट जोड़ दिये गये हों, इनमें कुछ नोकदार वृत्त (Pointed Arch) के आकार भी उत्कीर्ण हैं। चैत्य-सं० १२ एक दूसरे के ध्वंसावशेष पर दो बार बना। यह चैत्य भी प्रायः समचतुर्भुजाकार या वर्गाकार— १७० × १६५ फीट है। इसपर जो चैत्य पीछे बनाया गया, वह भी वर्गाकार है, पर इसका प्रवेश-द्वार (Facade) पहले की अपेक्षा एकदम सादा है। इस चैत्य के चारो कोनों पर चतुर्भुजाकार प्रलम्ब बाहु पर चार मन्दिर स्थित थे।

गया में पालकालीन अवशेष मिले हैं। महाबोधि के प्रांगण में तारा का मंदिर है, जिसका शिखर महाबोधि के शिखर से मिलता-जुलता है। गिरियक पहाड़ी पर ईंटों का बना डमरूनुमा स्तूप भी पाल-काल का ही है।[1] गया के विष्णुपद-मन्दिर में प्राचीन बौद्ध-स्मारकों के उपकरण व्यवहार में लाये गये हैं। आधुनिक मन्दिर के सामने के अर्द्ध मंडप का भाग पाल-काल का ही है। अभिलेखों से यह पता चलता है कि जनार्दन और गदाधर के मन्दिर पाल-राजा नयपाल के समय में, ११ वीं सदी में, बने थे। बटेश्वर-मन्दिर और पितामहेश्वर-मन्दिर का निर्माण विग्रहपाल तृतीय के समय में हुआ था। विश्वादित्य के पुत्र यक्षपाल के अभिलेख से यह पता चलता है कि इस समय 'गया' में शिवलिंग, और सूर्य प्रभृति देवताओं के मन्दिर बनाये गये थे। गया की समुचित खोज और खुदाई से बहुत-कुछ अब भी प्राप्त हो सकता है। उदन्तपुरी (बिहारशरीफ) और विक्रमशिला (भागलपुर) में भी पाल-स्थापत्य के नमूने ढूँढ़ने की आवश्यकता है।

चित्रकला

चित्रकारी मानव की अत्यन्त प्राचीन मनोरंजन की सामग्री रही है। स्वभावतः मनुष्य बचपन से ही रेखाओं के द्वारा चित्र बनाने में दिलचस्पी लेता रहा है। जब मनुष्य गुफा-जीवन व्यतीत करता था, तभी वह गुफा की दीवारों पर अपने अनुभवों और जीवन के दृश्यों को चित्रित करने का प्रयास करता था। बौद्ध-ग्रन्थों के अनुसार वैशाली में अम्बपाली के विशाल शयनागार की दीवारों पर राजकुमारों के चित्र अंकित थे, जिन्हें देखकर ही अम्बपाली बिम्बिसार के प्रति मोहित हुई थी। पर, अभाग्यवश भारत की प्राचीनतम चित्रकला के अवशेष उपलब्ध नहीं हैं। सुरगुजा-स्थित रामगढ़ पहाड़ी की जोगिमारा गुफाओं की भीतरी दीवार पर ज्यामितिक रेखाचित्र, मकर, मछली और अन्य विचित्र

1. *Eastern School of Indian Sculpture ; pp. 152-153*

दानवों के रंगीन चित्रों के अवशेष मिले हैं। ब्लॉक के अनुसार इनका समय ३०० ई०-पूर्व है; पर अधिकतर विद्वान् पहली सदी-पूर्व समझते हैं।[१] साँची और भरहुत-रेलिङ्ग और तोरण-द्वार पर उत्कीर्ण दृश्य के आधार भित्ति-चित्र थे। अजन्ता और बाघ-गुफाओं की चित्रकारी के उदाहरणों से भारतीय चित्रकला की उन्नत अवस्था का पता तो चलता है, पर इसके विकास के प्रारम्भिक इतिहास के प्रामाणिक अवशेष नहीं मिले हैं। नालन्दा में चैत्य-सं० १४ के मन्दिर के अन्दर मूर्त्ति के आसन (pedastal) की आलाओं में चित्रकारी के नमूने मिले हैं, पर उपलब्ध उदाहरण अत्यन्त निम्न हैं, एक मृग और सिंह दिखाई पड़ते हैं। अतः बिहार में पाल-काल की चित्रकला के ही नमूने उल्लेखनीय हैं। कैम्ब्रिज-विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में पाल-युग की दो ताल-पत्र-हस्तलिपियाँ सुरक्षित हैं, जिनके किनारों पर सुन्दर और छोटे-छोटे रंगीन चित्र बने हैं।[२] ये सभी चित्र बौद्ध-धर्म-सम्बन्धी हैं। तान्त्रिक विचार से प्रभावित इन चित्रों का पाल-कालीन मूर्त्तिकला से निकटतम सादृश्य है। शास्त्रीय नियमों का पालन और अलंकारों का बाहुल्य यहाँ भी स्पष्ट है। चित्रों में पालकालीन उद्वेगपूर्ण कम्पन (Nervous tension) और शृंगारिक भावना प्रकट है। कलात्मक प्रतिमा के दृष्टिकोण से ये चित्र विकसित हस्तकला के अत्यन्त सुन्दर उदाहरण हैं। डा० राधाकमल मुकुर्जी के विचार में उपर्युक्त उदाहरण संसार की उच्चतम कलात्मक कृतियों की श्रेणी में रखे जा सकते हैं। ये अजन्ता और एलोरा की परम्पराओं से आगे बढ़कर पालकालीन मूर्त्तिकला की एकलयता से समृद्ध हैं।[३]

---

१. *Cambridge History of India ; vol. I*

२. *India and Indonesian Art ; pp. 114-115*

३. *The Social Function of Art ; p. 225*

अष्टम अध्याय

बिहार की कला का पड़ोसी देशों पर प्रभाव

प्राचीन भारत से पड़ोसी देशों का निकट सम्बन्ध बराबर रहा है। हरप्पा-युग में भी भारत का ईरान और मेसोपोटामिया से घनिष्ठ व्यापारिक और सांस्कृतिक संबंध था। बौद्ध-धर्म के प्रचार के बाद भारतीय संस्कृति का विदेशों में द्रुतगति से प्रसार हुआ। मगध बौद्ध धर्म का केन्द्र था। स्वभावतः मगध ने इस सांस्कृतिक प्रसार में मुख्य हिस्सा लिया। चीन और तिब्बत में बौद्ध-धर्म भारत से गया; पर इसका अधिकतर श्रेय गान्धार और कश्मीर को ही मिलना चाहिए। नेपाल, बर्मा और लंका में पूर्व भारत से ही प्रचारक गये थे। दक्षिण-पूर्व एशिया के चम्पा (Combodia), इण्डोचीन, मलाया, श्याम, जावा, सुमात्रा, बालि प्रभृति प्रायद्वीपों में ब्राह्मण और बौद्ध—दोनों धर्मों का प्रचार हुआ। दक्षिण-भारत, कलिङ्ग और बिहार ने इस महान् सांस्कृतिक अभियान में प्रचुर योगदान किया। चीन में बौद्ध-धर्म पहली सदी से ही फैल रहा था। और यह स्वाभाविक था कि धर्म के साथ-साथ, विशेषकर महायान-धर्म के साथ-साथ, भारतीय कला का भी प्रवेश हो। गुप्त-काल में मगध और चीन का अन्यन्त घनिष्ठ सांस्कृतिक सम्बन्ध था और विद्वानों का ताँता एक देश से दूसरे देश में लग गया था। फाहियान ने भारत की तीर्थ-यात्रा के लिए सन् ३६६ ई० में चीन छोड़ा था। वह मगध आया और पाटलिपुत्र में लम्बे अरसे तक रहा। चिह-मिङ्ग सन् ४०४ ई० में चीन छोड़कर भारत पहुँचा और पाटलिपुत्र में ठहरा। बिहार से भी गुणभद्र, धर्मरक्ष, गुणवृद्धि और परमार्थ चीन गये। परमार्थ को ले जाने के लिए चीन से एक सद्भाव-मंडल (Good-will mission) मगध पहुँचा था और उसी की प्रार्थना पर परमार्थ चीन गये। इन धार्मिक और सांस्कृतिक सद्भाव-मंडलों के आवागमन से कला का क्षेत्र अवश्य ही प्रभावित हुआ होगा। गुप्तकालीन समृद्ध और शिष्ट कला का कुछ प्रभाव तो चीन पर अवश्य पड़ा होगा; पर अभाग्यवश तत्कालीन चीनी कलात्मक कृतियों का पता नहीं चलता। युयान-च्वांग जब भारत से चीन लौटा था, तब अपने साथ वह अनेक बौद्ध-मूर्त्तियाँ भी ले गया था। हर्षवर्द्धन के समय में ही चीनी राजदूत मगध से राजदूतावास के कुछ सदस्यों को चीन ले गया था। उनके साथ एक चीनी शिल्पी भी था, जिसने मगध में चित्र बनाना और मूर्त्ति गढ़ना सीखा था। बोधगया के विहार में उसने बुद्ध के पद-चिह्न और मैत्रेय की मूर्त्ति के रेखाचित्र खींचे थे। चीन में जाने के बाद सब उसकी नकल करने लगे। अन्य चीनी यात्रियों ने भी भारत से मूर्त्तियाँ लाने का क्रम जारी रखा और मगध की कला-परम्पराओं के प्रभाव में ही चीनी शिल्पकला के रूप निश्चित हुए। प्रसिद्ध विद्वान् फ्रेंच साहब का कहना है कि तांग-साम्राज्य के समकालीन पाल-साम्राज्य से चीन

और भारत में व्यापारिक सम्बन्ध के साथ ही सांस्कृतिक सम्बन्ध भी था; क्योंकि तत्कालीन चीन और बिहार की मूर्त्तियों में ऊपरी समदृश्य भरपूर है। इस सम्बन्ध के लिए चीन भारत का ऋणी था।"[1] नेपाल की मूर्त्ति-कला पर तो पाल-कला का प्रभाव स्पष्ट है ही। वहाँ भी भारतीय बौद्ध मूर्त्ति-विज्ञान के अनुसार ही बौद्ध देवी-देवताओं की मूर्त्तियाँ मिली हैं। सातवीं सदी से भारतीय सांस्कृतिक धारा तिब्बत में प्रवाहित हुई। नालन्दा के पंडित 'कमलशील' और 'पद्मसंभव' ने वज्रयान का प्रसार तिब्बत में किया। तिब्बत ने भारतीय लिपि अपनाई और आधुनिक बिहारशरीफ-स्थित उदन्तपुरी विहार के ही आदर्श पर तिब्बत में प्रथम बौद्ध विहार बने। तिब्बती बौद्ध मूर्त्तियों पर नालन्दा का प्रभाव प्रत्यक्ष है। अवलोकितेश्वर की मूर्त्ति देखने से पता चलता है कि लंका की प्राचीन धातु-मूर्त्तियों पर नालन्दा की शैली की छाप स्पष्ट है।[2]

बर्मा की बौद्ध और वैष्णव मूर्त्तियों पर नालन्दा का प्रभाव उल्लेखनीय है। बर्मा में म्बाज़ा (Hmawza) में गुप्त-शैली से प्रभावित मूर्त्तियाँ मिली हैं। 'रेजिनल्ड मे' ने लिखा है—"मैं यह भी कह दूँ कि ग्यारहवीं सदी से जब से बोधगया से पगान ब्राह्म राजाओं का निकट-सम्बन्ध स्थापित हुआ, हम दृढ़तापूर्वक कह सकते हैं कि तब से बर्मा की बौद्ध कला पर नालन्दा-शैली का प्रत्यक्ष प्रभाव देखा जा सकता है।[3]" पाल-युग में नालन्दा एक विश्वविद्यालय के रूप में नहीं, वरन् धर्मप्रचारकों की प्रशिक्षण-संस्था के रूप में भी विकसित हुआ था। बर्मा में नालन्दा से अनेक बौद्ध गये और इन्होंने पालकालीन बौद्ध प्रतिमा और मूर्त्तिकला का प्रचार किया। यह मार्के की बात है कि जब बिहार-बंगाल में इस समय बोधिसत्त्वों और अन्य बौद्ध देवी-देवताओं का अत्यधिक प्रचार था, तब बर्मा में बुद्ध की ही प्रतिमा का स्वागत हुआ। बिहार की पालकालीन कला का बर्मा की बौद्ध मूर्त्तिकला पर क्या प्रभाव पड़ा, यह दसवीं सदी की बुद्ध की नालन्दा में मिली प्रस्तर-प्रतिमा (ब्रिटिश-संग्रहालय में सुरक्षित) और पगान की कांस्य बुद्ध-मूर्त्ति की तुलना से स्पष्ट हो जायगा। कांस्य-मूर्त्ति स्थानीय कलाकारों की बनाई हुई है; पर इसके भाव और प्रबन्ध भारतीय हैं। नालन्दा की मूर्त्ति में बुद्ध अभय-मुद्रा में दोहरे कमलासन पर ध्यानावस्थित बैठे हैं। मुख लम्बा है, नासिका अत्यन्त ऊँची और सुचारु है। नासिका के पुल पर से दो धनुषाकार भौंहें ऊपर उठती लम्बी लकीरों की तरह उत्कीर्ण हैं। आँखें अधखुली हैं और नीचे की ओर देख रही हैं। वस्त्र हल्का है और उसका ऊपरी छोर वाम कंधे के ऊपर से होकर नीचे स्तन के ऊपर नुकीले कोंटे की तरह पड़ा है। सिर के बाल घुँघराले लच्छों में हैं। इसी प्रकार पगान की बुद्ध-प्रतिमा में भी नालन्दा-मूर्त्ति की तरह ही पैर एक-पर-एक चढ़ा है। उष्णीष भी अँगुठिये बाल के लच्छों से ढँका है।

---

१. *The Introduction of the Study of the Chinese Sculpture ; pp. 69-70*

२. *Art of the Pala-Empire ; p. 24*

३. *India and Indonesian Art; p. 166.*

४. "I should add that from the eleventh century onward when the first Burmese kings of Pagan had such intimate dealings with Bodh-Gaya in Bihar, we are on firm ground, and can trace the Buddhist art of Burma directly back to the school of Nalanda". —*The Culture of South-East Asia; p. 35.*

भौंहें और नासिका उसी तरह की हैं। शरीर मुलायम और भरा है। सबसे मुख्य बात तो यह है कि बुद्ध के शरीर को ढँकनेवाला वस्त्र ठीक नालन्दा की मूर्त्ति के वस्त्र-जैसा है। साथ ही जब हम कमलासन की ओर ध्यान देते हैं, तब तो निस्सन्देह सिद्ध हो जाता है कि बर्मा की इस बुद्ध-मूर्त्ति की प्रेरणा और कारण पालकालीन (१०-११ वीं सदी की) बुद्ध-प्रतिमा ही रही होगी। पगान का बोधिमन्दिर अपने शिखर के साथ गया के महाबोधिमन्दिर के आदर्श पर ही बना, यह तो स्पष्ट ही है।

भारत का, दक्षिण-पूर्व एशिया—विशेषकर स्याम, मलय और इण्डोनेशिया—से भी अत्यन्त निकट सांस्कृतिक और धार्मिक सम्बन्ध था। गुप्त-प्रभाव मलय प्रायद्वीप और स्याम में पाँचवीं सदी से ही स्पष्ट हो जाता है। प्रसिद्ध डच विद्वान् W, F. Stuttirhim और Bosch (बौश्) का निश्चित मत है कि नालन्दा से ही इण्डोनेशिया ने सांस्कृतिक प्रेरणा पाई है। 'श्रीविजय' में मिले एक अभिलेख में, जिसका समय ६८४ ई० है, कुछ ऐसे शब्द और भाव मिले हैं, जिनसे महायान की योगाचार-पद्धति के ज्ञान का पता चलता है। योगाचार-दर्शन का विकास नालन्दा में ही हुआ था। नालन्दा से ही धर्मपाल मलय-प्रायद्वीप गये थे। चीनी यात्री इत्सिङ्ग (सातवीं सदी का अन्त) ने लिखा है कि जावा के 'श्रीविजय-महाविहार' में एक हजार भिक्षु विद्याध्ययन कर रहे थे। वहाँ उन्हीं विषयों का अध्ययन होता था, जिनका स्नातकोत्तर अध्ययन नालन्दा-महाविहार में किया जाता था। यही नहीं, इत्सिङ्ग की यह सलाह है कि नालन्दा-महाविहार की यात्रा के इच्छुक यात्री 'श्रीविजय-विहार' में कुछ समय ठहरकर नालन्दा-महाविहार के प्रचलित नियमों के पालन के अभ्यासी बन जायँ। इण्डोनेशिया से यात्री नालन्दा की तीर्थयात्रा करते थे। नालन्दा की खुदाई में एक अभिलेख मिला है, जिससे पता चलता है कि देवपाल के राज्यारोहण के ३९ वें वर्ष में यवद्वीप के राजा 'बालपुत्रदेव' ने नालन्दा में एक विहार बनवाया था, जिसकी अनुमति देवपाल से ली गई थी। देवपाल ने बालपुत्र-देव के आग्रह पर इस विहार के पोषण के लिए पाँच ग्राम दान कर दिये थे। इस प्रकार बिहार-प्रदेश और इण्डोनेशिया के निकट-सम्बन्ध का सांस्कृतिक आधार प्रमाणित हो जाता है। इसी पृष्ठभूमि में इण्डोनेशिया और बिहार की मूर्त्ति-कला का तुलनात्मक अध्ययन होना चाहिए।

'शैलेन्द्र'-राज्य के प्राथमिक वर्षों में जावा की कला पर भी पाल-कला का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। सन् १९०९ ई० में ही श्री कुमारस्वामी ने जावा में मिली काँसे की मूर्त्ति और मगध में मिली 'मञ्जुश्री' की अष्टधातु की मूर्त्तियों में महत्त्वपूर्ण सादृश्य देखा था।[1] जब नालन्दा में धातु-मूर्त्तियों का ढेर मिला, तब डच विद्वान् बौश् ने यह विचार व्यक्त किया कि नालन्दा की इन मूर्त्तियों को मध्य-जावा की मूर्त्तियाँ कहा जा सकता है। श्री केम्पर्स ने नालन्दा और जावा की धातु-मूर्त्तियों का तुलनात्मक अध्ययन कर यह प्रमाणित करने की चेष्टा की है कि जावा की कुछ मूर्त्तियों की वेशभूषा और आकार-प्रकार नालन्दा की कुछ मूर्त्तियों से भिन्न हैं, और कुछ मूर्त्तियों में समानता है। एक जगह की

१. *J. R. A. S., 1909; p. 291*

मूर्त्तियों के प्रतिरूप दूसरी जगह नहीं मिलते।[1] अतः यह अनुमान उचित है कि नालन्दा और जावा की धातु-मूर्त्ति-कला में पारस्परिक सम्पर्क रहते हुए भी विभिन्न कला-परम्पराएँ विकसित हुईं; क्योंकि नालन्दा की अत्यधिक धातु-मूर्त्तियाँ देवपाल के विहार में ही मिलीं और नवीं सदी के पहले जावा में ऐसी धातु-मूर्त्तियाँ प्रचलित थीं, यह विचार, कि नालन्दा की ये मूर्त्तियाँ जावा से ही आईं या नालन्दा की धातु-मूर्त्ति-कला जावा की कला की देन है—'अटकल पचे डेढ़ सौ' ही है।[2] हमने देखा है कि पाल-काल से पहले ही मगध में अष्टधातु-मूर्त्ति-निर्माण की कला विकसित थी और यह सुल्तानपुर की बौद्ध-मूर्त्ति से स्वयंसिद्ध है। फिर, राखालदास बनर्जी के विचार में भी नालन्दा में मिली एक धातु-प्रतिमा में गुप्त-शैली का अनुकरण स्पष्ट है। इनके मतानुसार नालन्दा में ही पाल-काल के पहले की धातु-मूर्त्तियों के उदाहरण मिले हैं। फिर, अष्टधातु-मूर्त्ति-कला तो वस्तुतः पाषाण-मूर्त्ति-कला के ही आधार और आदर्श पर विकसित हुई, अलग से इसकी कोई अपनी सत्ता नहीं है। इसलिए, नालन्दा की धातुमूर्त्ति-कला की प्रेरणा वहाँ की ही शिल्प-कला की देन थी, इसके लिए जावा जाने की कोई जरूरत नहीं थी। सच्ची बात तो यह है कि जावा में कला (धार्मिक कला) का आरम्भ भारतीय प्रभाव के कारण ही हुआ। उस समय की जावा की कला ही भारतीय तत्त्वपूर्ण (Indianesque) कला कही जा सकती है। आठवीं-नवीं सदी में स्थानीय परम्पराओं को प्रतिष्ठित करने का आन्दोलन सफलता पाने लगा था, इसलिए भारतीय तत्त्व के होते हुए भी उसपर स्थानीय रंग चढ़ा और कला वस्तुतः जावा की कला बन गई। इसी कारण नालन्दा के उदाहरणों के सभी प्रतीक जावा में नहीं मिलते; क्योंकि वहाँ स्वतन्त्र परम्परा का प्रवाह जोर पर था। 'केम्पर्स' ने ऐसा ही माना भी है कि इण्डोनेशिया में अनेक धातु-मूर्त्तियाँ मिली हैं, जिनमें बिहार में मिली पाल-मूर्त्तियों के विशिष्ट गुण वर्त्तमान हैं। जावा की मूर्त्तियों के सिंहासन और प्रभावलि पर उत्कीर्ण हाथी के ऊपर व्याल के आरूढ होने का दृश्य, भारतीय परम्परा का प्रतीक है, न कि इण्डोनेशिया का। नालन्दा में मिली मुकुट-युक्त बुद्ध की प्रतिमाओं के आदर्श पर ही जावा में मुकुटधारी मूर्त्तियाँ बनीं। बोरोबदुर-स्तूप की बाहरी दीवारों पर बौद्ध दृश्य या मूर्त्तियाँ व्यापक रूप से उत्कीर्ण हैं, जिनमें पाल-कला की छाप स्पष्ट है। यह कला कोमल रमणीयता और नवनीतता में अपनी जननी पाल-कला से किसी तरह भी न्यून नहीं है। १३ वीं सदी के मध्य में भी हम पाल-कला का प्रभाव जावा की कला पर पाते हैं। वहाँ की तत्कालीन भृकुटी की मूर्त्ति में पाल-प्रभाव स्पष्ट है।[3]

आधुनिक 'अन्नाम' या प्राचीन 'चम्पा' में प्राचीनकाल से भारतीय धर्म और संस्कृति की धारा प्रवाहित थी। यहाँ के मन्दिरों के शिखर उत्तर भारतीय शैली (महाबोधि-विहार) से प्रभावित दीख पड़ते हैं। चम्पा में चीनी संस्कृति का भी प्रभाव प्रबल था। प्राचीन काम्बोज या कम्बोडिया, दक्षिण स्याम और कोचीन-चीन को मिलाकर फूनान का राज्य था। पहली सदी में ही ब्राह्मण कौण्डिन्य ने फूनान पर पैर रखा था, और

---

१. *Bronzes of Nalanda.*

२. वही; पृष्ठ-सं० ७१

३. *Cultural History of S. E. Asia (Fig. 80)*

यहाँ की राजकुमारी सोमा से ब्याह कर यहाँ का राजा बन बैठा। पाँचवीं सदी में फूनान का राज्य भारतीय सभ्यता के आधार पर संगठित हो चुका था। पाँचवीं, छठी और साँतवीं सदी तक फूनान की कला वास्तव में भारतीय कला के देशान्तर का ही एक रूप था। यह कला 'भारतीय' थी। ईंटों के कई प्राचीन मन्दिरों के अवशेष मिले हैं, जिनपर गुप्तकालीन वास्तु-विद्या का प्रभाव देखा जा सकता है। लोकेश्वर की एक अत्यन्त सुन्दर मूर्त्ति फूनान में मिली है, जिसपर भारतीय प्रभाव स्पष्ट है। साथ में भृकुटी और तारा भी हैं। मूर्त्ति में अद्भुत शक्ति-संयम और अत्यन्त गूढ एवं इन्द्रिय-लोलुप विषयों का, जो साथ-साथ चित्रण हुआ है, वह उल्लेखनीय है।[१]

स्याम में मिली अनेक बुद्ध-प्रतिमाओं में गुप्त-कला का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित है। मध्य और दक्षिण स्याम में जो बौद्ध-मूर्त्तियाँ मिली हैं, उनसे पता चला है कि पाँचवीं सदी में ही गुप्त-शैली यहाँ पहुँच चुकी थी। मलय-राज्य में क्वारिट्च वेल्स (Quaritch Wales) ने गुप्त-शैली की बुद्ध-मूर्त्तियाँ पाई हैं। इन मूर्त्तियों या सिरों (Heads) में जो अमरावती-शैली पाई गई है, उससे गुप्त-कला के विकास का इतिहास स्पष्ट हो जाता है। विष्णु की प्रतिमा भी मलय-स्थित श्रीविजय के राज्य में मिली है। लोकेश्वर की एक प्रस्तर-मूर्त्ति स्याम के राष्ट्रीय संग्रहालय में है, जिसका मुख और धड़ अत्यन्त कुशलतापूर्वक गढ़े गये हैं[२] और जो पाल-कला की अनुकृति हैं। बोधगया में मिली बुद्ध-प्रतिमा से इसका अत्यन्त सादृश्य है[३]।

---

१. *A History of Indian and Indonesian Art*; *p. 183, Fig. 164.*

२. *Cultural History of South-East Asia*; *Fig. 52.*

३. *Mahabodhi*; XXVI *(i)*

नवम अध्याय

बिहार की प्राचीन कला का अन्त

बिहार में प्राचीन भारतीय कला के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि पाल-युग में हिन्दू और बौद्ध मूर्त्तिकला तथा वास्तुकला का चरमोत्कृष्ट विकास हुआ।[1] यह ठीक है कि नवीं सदी की मूर्त्तियों में पूर्व-पाल-युग की कान्ति और कोमलता की प्रशंसनीय अभिव्यक्ति हुई है; फिर भी कालान्तर में नियमनिष्ठता के कठोर व्रत और रूढ़िग्रस्त रूप तथा आकृति की बनी रहने के कारण वे उदास-सी लगती हैं। यद्यपि यह कला प्रधान मूर्त्ति के भाव को व्यक्त करने में उतनी हद तक सफलता नहीं प्राप्त कर सकी, तथापि इसने संगतराशी में अप्रत्याशित उन्नति की और प्रभावलि की सजावट और आभूषणों को उत्कीर्ण करने में कलाकारों ने विलक्षण प्रखर कला-कौशल का परिचय दिया है। ग्यारहवीं और बारहवीं सदियों में हिन्दू देवी-देवताओं की मूर्त्तियों और मन्दिरों का तीव्र गति से निर्माण होने लगा। मूर्त्तियाँ विशाल बनीं और उन्हें अत्यधिक अलंकृत किया गया तथा प्रभावलि का कोना-कोना नानाविध नक्काशी और चित्रित दृश्यों से भर गया। नवीं से लेकर बारहवीं सदी तक मूर्त्ति-निर्माण कला का जितना जोर बिहार-प्रदेश में रहा, उतना भारत के अन्य किसी भाग में नहीं रहा। किन्तु, भारत के सर्वांगीण विकास और गौरवपूर्ण स्थिति के साथ-साथ बारहवीं सदी के बाद इस कला का भी अचानक अन्त हो गया।

कला के पतन के कारणों पर कुछ विचार करना उचित है। पाल-राजवंश के पतन के बाद ब्राह्मण धर्मावलम्बी सेन-राजवंश का अधिकार बंगाल पर हो गया। कर्णाटक-राज्यवंश की स्थापना मिथिला में नान्यदेव ने की। दक्षिण-बिहार पाल-वंश के अन्तिम टिमटिमाते प्रदीप गोविन्दपाल के अधीन रहा। कहना मुश्किल है कि सेन-राजवंश का अधिकार दक्षिण-बिहार के किसी भूभाग पर हुआ या नहीं। सेन-राज्य के समय में ब्राह्मण-धर्म को अधिक बल मिला और बिहार में प्राप्त विशाल वैष्णव-मूर्त्तियाँ—किसुनगंज पूर्णियाँ में मिली मूर्त्ति के अनुसार—शायद सेन-काल की हैं।

बख्तियार खिलजी ने बिहार पर १२ वीं सदी के अन्त में आक्रमण किया और इसे तहस-नहस कर अपने अधीन कर लिया। बिहारशरीफ (उदन्तपुरी) प्रभृति प्रसिद्ध स्थान दुर्दशाग्रस्त हुए। इसमें सन्देह नहीं कि बख्तियार खिलजी के आक्रमण के फलस्वरूप दक्षिण-बिहार मुस्लिम सल्तनत का अंग बन गया, जिससे बौद्धधर्म को गहरा धक्का लगा। विक्रमशिला-महाविहार को मुसलमानों ने नष्ट कर दिया था और उसके पत्थरों को उखाड़-

कर गंगा में फेंक दिया था। नालन्दा पर भी बराबर बिहारशरीफ की ओर से आक्रमण होते रहे, पर १२३६ ई० तक नालेन्दा-विश्वविद्यालय किसी हद तक कायम रहा। तिब्बती यात्री धर्मस्वामी की आत्मकथा हाल ही में उपलब्ध हुई है, जिससे यह पता चलता है कि उस समय (१२३४-३६) भी नालन्दा में ७२ विद्यार्थी थे और राहुल श्रीभद्र उस समय के उपकुलपति थे। बौद्ध-विहार धर्म के ही नहीं; वरन् कला के केन्द्र थे। बिहार-प्रदेश की पालकालीन कला वस्तुतः बौद्ध-विहार की ही कला (Monastic art) थी। नालन्दा, उदन्तपुरी, विक्रमशिला, वज्रासन, कुक्कुटपादगिरि प्रभृति बौद्ध-विहारों के प्रोत्साहन और उनकी माँग के कारण ही मूर्त्ति-कला का अत्यधिक विकास हुआ था। हिन्दू देवी-देवताओं की मूर्त्तियाँ भी यहीं बनती थीं, मानों ये केन्द्र मूर्त्ति बनाने के कारखाने थे। इसलिए, बौद्ध विहारों के पतन के कारण कला को अत्यन्त क्षति पहुँची। कला के स्रोत ही सूख गये। और जिससे कला की लहलहाती फसल अकस्मात् जल गई। कलाकार दक्षिण-भारत, नेपाल या दक्षिण-पूर्वी एशिया चले गये और वहाँ कला कुछ समय तक पल्लवित-पुष्पित होती रही।

बौद्ध-धर्म के पतन और कला की समाप्ति का सारा उत्तरदायित्व बख्तियार खिलजी के सिर मढ़ना गलत होगा। यद्यपि अफगानों के आक्रमण और विजय से बौद्ध-धर्म पर भीषण आघात हुआ, जिसके कारण वह फिर सँभल नहीं सका, तथापि उस समय तक बौद्ध-धर्म में इतनी आन्तरिक त्रुटियाँ घर कर गई थीं कि बौद्ध-धर्म का पतन स्वाभाविक और अनिवार्य-सा हो गया। तान्त्रिकों और वज्रयानियों ने अनाचार फैला दिया था—बौद्ध-मठों की पवित्रता और सादगी विदा हो गई थीं। मुस्लिम आक्रमण ने इसकी पतनोन्मुख गति को अत्यन्त तीव्र कर दिया। इस तरह भारतीय कला—विशेषकर पाल-कला—को बख्तियार खिलजी के आक्रमण से भारी क्षति पहुँची, यह विवाद से परे है। पर, ग्यारहवीं और बारहवीं सदी की कला के उदाहरणों से यह भी प्रत्यक्ष है कि कला इतनी अधिक नियमनिष्ठ और निश्चित रूप पा चुकी थी कि उसमें जीवनी-शक्ति का वस्तुतः अभाव हो गया था। शास्त्रीय नियमों को पग-पग पर मानकर चलनेवाले शिल्पी अपनी कला के पंख काट चुके थे और कठोर प्रतिबन्धों में जकड़ी कला तड़प-तड़पकर मरणोन्मुख हो रही थी। कला को जीवित रहने के लिए मुक्त वातावरण के साथ कलाकार को एक सीमा तक स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए, जिससे वह अपने अनुभवों को मूर्त्ति में उतारकर उसमें जीवन डाल सके। किन्तु, तत्कालीन मूर्त्ति-विज्ञान के शास्त्रीय नियम अत्यन्त ही व्यापक और अनुदार थे, जिसके अनुसार मूर्त्ति बनाने के लिए कलाकार बाध्य था। अब वह ध्यानावस्थित हो अपने मानसिक पटल पर अंकित मूर्त्ति को पत्थर या धातु पर उतार नहीं सकता था; बल्कि मूर्त्ति-विज्ञान या प्रतिमा-शास्त्र की प्रामाणिक पुस्तक को सामने खोलकर छेनी चलाता था। ध्यानों के निश्चित रूप, अंगों और मुद्राओं की निर्जीव अकड़ आदि मूर्त्तिकला के विकास में घातक बन गये। मूर्त्तिकार अब वास्तव में संगतराश हो गया। मूर्त्ति की उदासी और अपनी कैदी प्रतिभा को वह प्रभावलि पर बारीक नक्काशी का प्रदर्शन कर सान्त्वना देने लगा। इस तरह मूर्त्ति-कला का जब प्रधान विषय (मूर्त्ति) ही गौण हो गया, तब कला का समय भी पूरा हो गया। मौर्य-

काल में सिर्फ मूर्त्ति ही बनती थी और गुप्त-काल में सरल प्रभावलि जोड़ी गई; पर अकेली मूर्त्ति पर ही कलाकार अपनी कला और श्रद्धा न्योछावर करता था; किन्तु ग्यारहवीं-बारहवीं सदी में कलाकार मूर्त्ति से अधिक प्रभावलि, सिंहासन, आभूषण आदि के चित्रण में ही अपनी सार्थकता समझने लगे। इन प्रतिमाओं में अलंकारों और बारीक नक्काशी की भरमार है; पर मूर्त्तियों में स्वाभाविक गति और लोच का अभाव है। हाथ की विभिन्न मुद्राओं से या गर्दन के झुकाव से या सम्पूर्ण शरीर की त्रिभंग स्थिति से कुछ मूर्त्तियों में स्वाभाविक गति की अभिव्यक्ति नहीं होती, बल्कि ऐसा लगता है मानों शिल्पी ने बरबस अंगों को तोड़-मरोड़कर इधर-उधर घुमा दिया हो। तत्कालीन कला के ऐसे अनेक उदाहरण हैं, जो कला की सच्ची परिभाषा के विपरीत ही माने जायँगे। ऐसी कला अधिक दिनों तक और नहीं जीवित रह सकती थी; इसका तुर्क-अफगान आक्रमण ने केवल नाटकीय ढंग से पटाक्षेप कर दिया।

परिशिष्ट—१

मूर्त्ति-विज्ञान

मूर्त्तियों के विभिन्न आसन, हस्त-मुद्राओं और शरीर के झुकाव के भिन्न-भिन्न नाम दिये गये हैं, जिनसे देवी-देवताओं की पहचान में सहायता मिलती है। हाथ की तलहत्थी की विशेष स्थिति से मुद्राओं का बोध होता है। जैसे—अभय, शान्तिप्रद, वरद, दान आदि मुद्राएँ, जिनका उल्लेख पहले किया जा चुका है। पूरी बाँह या हाथ शरीर के किस भाग पर और कैसे रखे गये हैं, इस मुद्रा को 'हस्त' कहा जाता है। कमर पर हाथ की स्थिति को 'कटिहस्त' कहते हैं, हाथ से किसी ओर इंगित करने की मुद्रा को 'सूचीहस्त' कहते हैं। एक हाथ पर दूसरे हाथ को रखे जाने पर प्रार्थना या याचना की मुद्रा को 'अञ्जलिवन्दनी' स्थिति कहा जाता है। 'ज्ञान-मुद्रा' में हाथों की बीचवाली अँगुली और अंगूठे की अग्र-नोंक हृदय के समीप जुड़ी रहती है, और हाथ की तलहत्थी हृदय की ओर घूमी रहती है। व्याख्यान-मुद्रा में इसका ठीक उलटा होता है। इसमें अंगूठे और कानी अंगुली की नोंक एक-दूसरी को स्पर्श करती हुई एक वृत-सा बनाये रखती है और अन्य अँगुलियाँ खुली रहती हैं। हाथ की तलहत्थी हृदय की ओर नहीं, बल्कि बाहर खुली रहती है। श्रावस्ती में भगवान् बुद्ध के द्वारा अन्य धर्मों के पंडितों पर विजय प्राप्त करने के दृश्य में बुद्ध को व्याख्यान-मुद्रा में ही दिखाया गया है। 'धर्मचक्र-मुद्रा' में दायाँ हाथ सीने की ओर उठा हुआ है तथा अंगूठा और तर्जनी परस्पर स्पर्श कर रहे हैं। बाकी अँगुलियाँ खुली हैं और तलहत्थी बाहर की ओर खुली है। बायाँ हाथ 'ज्ञान-मुद्रा' में है, अर्थात् अंगूठा और उसके बाद की तर्जनी अँगुली परस्पर स्पर्श कर रहे हैं। तथा बाकी तीन अँगुलियाँ खुली हैं और तलहत्थी बाहर की ओर खुली है। गुप्तकाल से 'धर्मचक्र-मुद्रा', 'व्याख्यान' और ज्ञान-मुद्राओं का संयोग है। 'तर्जनी-हस्त' में दाहिने हाथ की तर्जनी अंगुली (Forefinger) ऊपर उठी है, जैसे किसी को सचेत किया जा रहा हो, या डाँटा जा रहा हो।

खड़ी मूर्त्ति एक सीध में तनकर खड़ी रहने पर कायोत्सर्ग' मूर्त्ति कही जाती हैं। किसी ओर से मूर्त्ति झुकी नहीं रहती है। जैन-तीर्थङ्करों की ऐसी मूर्त्तियाँ 'बक्सर' और यह 'सिंहभूमि' से मिली हैं, जो पटना-संग्रहालय की शोभा बढ़ा रही हैं। ऐसी मूर्त्तियों को 'समभंग' भी कहा जा सकता है। पर, जब मूर्त्ति का ऊपरी या निचला हिस्सा दोनों एक ओर जरा झुका हो, तो उसे 'अभंग' कहा जाता है? यदि मूर्त्ति का निचला भाग (कमर से पैर तक) दाहिने या वाम भाग में खिसका रहे, और कमर से लेकर गले तक

का धड़ बायें या दाहिने भाग में झुका हो और सर दाहिने या बायें फिरा हो, तो उसे 'त्रिभङ्ग' कहते हैं। 'अतिभङ्ग' मूर्त्तियों में 'त्रिभङ्ग' की ही अतिशयोक्ति होती है और देवी या देवता के उग्र रूप की अभिव्यक्ति होती है। आलीढपाद में मूर्त्ति खड़ी रहती है और उसका दाहिना ठेहुना आगे बढ़ा रहता है और पैर पीछे की ओर रहता है। प्रत्यालीढ में इसके ठीक विपरीत चेष्टा रहती है। यह धनुर्धर का रूप है। वीरासन में जाँघ एक दूसरे से सटी रहती है और बायाँ पैर दाहिनी जाँघ पर और बाईं जाँघ दाहिने पैर पर रहती है। 'शयन' या जिसे कुछ विद्वान् 'पर्यंकासन' कहते हैं, उसमें मूर्त्ति लेटी रहती है, मानों पालकी पर कोई लेटा है। 'वज्रपर्यंक-आसन' 'वज्रासन', या 'पद्मासन'-सा ही है। 'अर्धपर्यंक-आसन' या 'ललितासन' में एक पैर तो आसन पर रहता है और दूसरा नीचे की ओर झूलता रहता है। 'सुखासन' भी इसी प्रकार का है। इसमें बायाँ पैर साधारणतः आसन पर मुड़ा रहता है और दाहिना पैर नीचे लटकता है। 'योरोपीय आसन' में दोनों पैर नीचे लटके रहते हैं। बुद्ध की भी ऐसी प्रतिमाएँ मिली हैं। डा० बनर्जी इसे 'पर्यंकासन' ही कहते हैं।[1] 'भद्रासन' में एक-पर-एक चढ़े पैरों की एँड़ियाँ अंडकोष के नीचे हैं और पैर के अंगूठों को हाथ से पकड़ा गया है।[2]

---

१. *Elements of Hindu Iconography; p. 297*

२. वही, पृ० २६५

परिशिष्ट—२

बौद्धमूर्त्ति-विज्ञान

बौद्ध देवी-देवताओं की मूर्त्तियों के अभिप्राय और प्रभाव समझने के लिए हमें बौद्ध-मूर्त्ति-विज्ञान का ज्ञान रखना चाहिए। मूर्त्ति-विज्ञान स्वयं ही बौद्धधर्म के क्रमिक विकास पर अवलम्बित है, इसलिए बौद्ध धर्म के क्रमिक रूपान्तर और उसके दर्शन के विकास के इतिहास से भी हमें अवगत रहना होगा। भगवान् बुद्ध ने प्रत्येक व्यक्ति के लिए जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त हो अर्हत्-पद की प्राप्ति का ध्येय निश्चित किया था, जिसे 'हीनयान' की संज्ञा दी गई। वे कल्पना की उड़ान में दूर नहीं जाना चाहते थे और न किसी को इसके चक्कर में फँसा देखना चाहते थे। अर्हत्-पद की प्राप्ति के लिए प्रत्येक व्यक्ति को सदाचरण तथा निश्चित नियमों का पालन करना था। पर इतने से ही बराबर सब संतुष्ट नहीं रह सके, और कनिष्क के समय में 'महायान'-पंथ का प्रभाव बढ़ने लगा। हेतुशास्त्र के 'अनुमान' की रुचि बढ़ने लगी, और शून्यवाद का प्रतिपादन किया गया। पीछे विज्ञानवाद और योगाचार-पद्धति का विकास हुआ। नागार्जुन की अष्टसाहस्रिका-प्रज्ञापारमिता शून्यवाद का और पंचविंशति-साहस्रिका-प्रज्ञापारमिता विज्ञानवाद का मूल आधार बनी। शून्यवाद और योगाचार की पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता सदियों तक चलती रही, पर आठवीं सदी में महासुखवाद के सिद्धान्त का भी विकास हुआ। इस प्रकार, साधारण निर्वाण के बाद तीन विश्राम-स्थानों (Stages) की कल्पना की गई। महासुखवाद से ही वज्रयान-पंथ का सूत्रपात हुआ और वज्रयान में भिन्न-भिन्न मूर्त्तियों की कल्पना की गई।

हीनयान में व्यक्ति अपने निर्वाण के लिए चिन्तित और प्रयत्नशील रहता था। महायान के आधारभूत सिद्धान्त के अनुसार महायानी सभी जीवों के प्रति असीम करुणा का भाव रखते थे और उन सब के निर्वाण के निमित्त—अपने निर्वाण की चिन्ता से अधिक—प्रयत्नशील रहते थे। हीनयानी बुद्ध को एक महापुरुष मानते थे, पर महायानी बुद्ध को अनश्वर देवता मानने लगे, जो संसारी जीवों को 'मार' के प्रभाव से मुक्त करने के लिए पृथ्वी पर अवतरित होते थे। बुद्ध, धर्म और संघ-बौद्धधर्म के त्रिरत्न माने जाते हैं और बौद्ध मूर्त्ति-विज्ञान में त्रिरत्न को प्रमुख स्थान दिया गया है। हीनयान में बुद्ध का स्थान सर्वोपरि है, पर महायान में, त्रिरत्न की सूची में, धर्म को बुद्ध के पहले रखा गया है। इस सम्प्रदाय में धर्म शाश्वत और सर्वप्रधान है और बुद्ध तो धर्म के ज्ञान के लिए 'उपाय' मात्र हैं, ठीक उसी तरह, जिस तरह हिन्दुओं के लिए वेदमन्त्र शाश्वत हैं और वैदिक ऋषियों को उनका केवल साक्षात् हुआ था। पीछे चलकर 'संघ' को भी बोधिसत्त्व में परिवर्तित कर दिया गया। बोधिसत्त्व से अभिप्राय था—सिद्ध पुरुष। बोधिसत्त्व अपने ही

निर्वाण के लिए आतुर नहीं थे, संसार के कल्याण के लिए अभिलाषा रखते थे। बोधिसत्त्व बोधिचित्त-अवस्था की प्राप्ति के फलस्वरूप बराबर ऊपर ही उठते रहते हैं, और इस प्रकार साथ-ही-साथ पुण्य का संचय करते हुए वे अकणिष्ठ स्वर्ग की ओर बढ़ते जाते हैं, जहाँ असीम ज्योतिपुञ्ज-युक्त अमिताभ बुद्ध निवास करते हैं।

विश्व २६ लोकों (स्वर्गों) में विभक्त है, ऐसा बौद्ध मानते हैं। इन्हें तीन प्रधान भागों में बाँटा जा सकता है—काम, रूप और अरूप। 'काम'-लोक में बोधिसत्त्व विषयी अभिलाषाओं से प्रभावित रहते हैं, और 'रूप'-लोक बोधिसत्त्व इन विषयी भावनाओं से विरक्त या परे रहकर भी, अपनी आकृति और रूप बनाये रखते हैं; पर तृतीय लोक, 'अरूप', में बोधिसत्त्व' के रूप की स्थिति का ही पता नहीं रहता है। अरूप लोक के अन्तिम भाग में बोधिसत्त्व निर्वाण प्राप्त कर लेते हैं, जो सिद्धि का सर्वोत्तम फल माना गया है। योगाचार-दर्शन के अनुसार इस स्थिति में भी बोधिसत्त्व विज्ञान या सचेत अवस्था में रहते हैं। योगाचारियों के अनुसार निर्वाण-प्राप्ति के बाद भी 'चेतना' रहती है ; किन्तु शून्यवादियों या माध्यमिक दर्शन के अनुसार निर्वाण की प्राप्ति के बाद ऐसी स्थिति की प्राप्ति होती है, जहाँ आदि और अन्त, स्थिति अथवा अस्थिति का कोई सवाल ही नहीं उठता।

महायान, योगाचार तथा शून्यवाद के सिद्धान्त अत्यन्त गूढ दार्शनिक विषय हैं, जिनका सरल अभिप्राय समझना आसान नहीं है। बौद्धधर्म जनधर्म था, और साधारण था। जनता के लिए बोधिसत्त्व को निर्वाण-प्राप्ति के लिए अनवरत प्रयास करते रहना समझना मुश्किल था। प्रज्ञा, उपाय, निर्वाण, बोधिचित्त इत्यादि के दार्शनिक अभिप्राय उनके लिए और भी गूढ थे। इसीलिए, इन भावों को मूर्त्तरूप देकर जनता को आकृष्ट और शिक्षित करने का प्रयास किया गया। नैरात्मा को शून्य का प्रतीक माना गया, बोधिचित्त का शून्य में विलयन की भावना को निरात्मा (स्त्री-शक्ति) के साथ प्रगाढ़ आलिंगन के रूप में मूर्त्त किया गया। निरात्मा की देवी के रूप में कल्पना की गई, जिसके आलिंगन में बोधिचित्त और बोधिसत्त्व बद्ध रहते हैं तथा शाश्वत सुख और आनन्द की स्थिति में विराजते रहते हैं। इस प्रकार महासुखवाद की यह मूर्त्त कल्पना जनता और दार्शनिकों की समझ में आ गई।

उपर्युक्त स्त्री-बोधक निरात्मा की कल्पना और उसके मूर्त्त स्वरूप के आधार पर विकसित बौद्ध-सम्प्रदाय 'वज्रयान' कहलाया। वज्रयान का तात्पर्य था वज्र के माध्यम से निर्वाण की प्राप्ति करना। 'वज्र' न टूटता है, न जल सकता है और न कभी नष्ट हो सकता है। भगवान् बुद्ध के बोधगयावाले आसन को भी इसी तात्पर्य से 'वज्रासन' कहा गया है। वज्र शून्य का ही एक दूसरा नाम है। वज्राचार्यों और गुरुओं का वज्रयान में अत्यधिक महत्त्व था ; क्योंकि इन्होंने जनसाधारण के लिए मुक्ति के आसान मार्ग बतलाये। इनके लिए इन्होंने धारणियों की रचना की जिन्हें गाने से पुण्य की वृद्धि होती थी। पीछे चलकर छोटे-छोटे मन्त्रों की रचना की गई, जिनका भी यही अभिप्राय था। ऐसा विश्वास था कि इन विशिष्ट मन्त्रों से ही विशेष देवी-देवताओं की उत्पत्ति हुई है। मन्त्रों के जपने से वे ही लाभ होते हैं, जो साधना के अनुकूल इष्ट देवताओं की पूजा करने से होते हैं। इस प्रकार जनसाधारण इन मन्त्रों को रटने और जपने में ही लगे रहे तथा गुरुओं या वज्राचार्यों की प्रतिष्ठा ऊँची चोटी पर पहुँच गई।

इसी प्रसंग में तन्त्रों का समावेश भी वज्रयान या योगाचार-विचारधारा और धार्मिक पंथ में पूर्णरूपेण हो गया। तन्त्रों के विषय अनेक हैं, पर मोटे तौर पर यह 'शक्ति' की पूजा ही इसका आधार है। स्त्री-शक्ति की पुरुष-शक्ति के साथ ही पूजा की जाती है। हरप्रसाद शास्त्री के सिद्धान्तानुसार स्त्री-शक्ति और पुरुष-शक्ति का पारस्परिक मिलन ही तन्त्र का सार है। जनसाधारण और वज्राचार्यों की मनोवृत्ति का यह हाल था कि यह सिद्धान्त बड़ी खुशी से अपनाया गया और इसकी आड़ में अनेक प्रकार की बीभत्स क्रियाओं की साधना हुई तथा उसका प्रचार किया गया। पर कला के क्षेत्र में स्त्री-तत्त्व की प्रधानता के कारण इसका प्रचुर विकास हुआ और इस ओर जनसाधारण का भी आकर्षण हुआ। बौद्ध देवी-देवताओं की लम्बी तालिका के लिए हम वज्रयानियों के प्रति ही आभारी हैं; क्योंकि देवताओं के साथ उनकी अपनी शक्तियों, अर्थात् उनकी स्त्रियों की भी पूजा होती थी, जिन्हें कभी देवता के साथ, कभी अलग और कभी देवता की गोद में भी चित्रित किया गया। कुछ भक्तों ने तो देवता को अपनी शक्ति के साथ प्रगाढ़ प्रेमालिंगन में ही चित्रित किया। सृष्टि के इस सर्जन-चित्रण में उनकी धार्मिक मनोवृत्ति और दर्शन के साथ-साथ उनकी कामुक भावना को भी पूरा प्रश्रय मिला।

यद्यपि बुद्ध और अन्य बौद्ध देवी-देवताओं की मूर्त्तियाँ गान्धार और मथुरा-शैलियों में (जैसे—जम्भल, मैत्रेय, हारीति, प्रभृति की मूर्त्तियाँ) मिलती हैं, तथापि गुप्तकाल में ही हम तान्त्रिक बौद्ध मूर्त्तियों का प्रचार देखते हैं। इस काल की मूर्त्तियों में षडक्षरी लोकेश्वर, मञ्जुश्री, तारा, मारीची, पाँचों ध्यानी बुद्ध इत्यादि की मूर्त्तियाँ आती हैं। नालन्दा, विक्रमशिला और उदन्तपुरी महाविहारों में वज्रयान के अत्यन्त विकसित रूप निश्चित किये गये और नालन्दा से अनेक तान्त्रिक मूर्त्तियाँ मिली हैं। गया में कुर्किहार से भी ऐसी मूर्त्तियाँ पर्याप्त संख्या में मिली हैं। बिहारशरीफ (प्राचीन उदन्तपुरी) और विक्रमशिला की खुदाई और खोज से ऐसी मूर्त्तियों का मिलना अत्यन्त सम्भव है। तान्त्रिक और वज्रयानी देव-समूह की कब कल्पना की गई, इसका कोई ठोस प्रमाण नहीं मिला है। 'सुखावती-व्यूह' में अमिताभ बुद्ध और उनकी सुखावती (स्वर्ग) का उल्लेख आया है, जिसका दूसरी सदी में चीनी भाषा में अनुवाद हुआ। पीछे चौथी सदी के एक अन्य चीनी अनुवाद में अक्षोभ्य और मञ्जुश्री का उल्लेख है। फाहियान ने मञ्जुश्री, मैत्रेय और अवलोकितेश्वर के नाम लिये हैं। हुएनच्वांग ने हारीति, पद्मपाणि, वैश्रवण, यम, शाक्य बुद्ध और बोधिसत्त्व का उल्लेख किया है। इससे वज्रयानी देवता-समूह (Pantheon) के आरम्भ का पता चलता है। वज्रयान का प्रभाव ७०० ई० तक सीमित था, यद्यपि यह महायान पंथ में प्रवेश पा चुका था। तारानाथ नामक तिब्बती लामा ने भी इसी आशय का मत प्रकट किया है कि सातवीं सदी के उत्तरार्द्ध तक तन्त्र गुप्त रहस्य की वस्तु माने जाते थे।

तन्त्रों की विशेष व्याख्या और तान्त्रिक देवी-देवताओं और उनकी धारणियों का उल्लेख पहले-पहल नालन्दा के पंडित शान्तिदेव ने ही किया। इनका समय सातवीं और आठवीं सदी के मध्य में रखा जा सकता है। इनके ग्रन्थ 'शिक्षासमुच्चय' में अक्षोभ्य तथागत, अमिताभ तथागत, चुण्ड, मारीची, मञ्जुघोष आदि का उल्लेख है। इसके बाद वज्रयान में देवसमूह की वृद्धि होती रही और पाल-युग में तान्त्रिकों का बोलबाला रहा।

विक्रमशिला-विहार तान्त्रिक विद्या और संस्कृति के लिए प्रसिद्ध था। अतः यह स्पष्ट है कि तान्त्रिक धर्म और मूर्त्तियों के विकास में प्राचीन बिहार का अत्यन्त प्रभावशाली योगदान रहा। बिहार-प्रदेश में प्राचीन काल से ही, शक्ति की पूजा, ग्राम-देवियों की पूजा और रहस्यमय टोटके पर विश्वास का प्रभाव कायम रहा। विनयतोष भट्टाचार्य के विचार में 'आदिबुद्ध' की कल्पना नालन्दा में १० वीं सदी में पहली बार हुई। वज्रयान के पुजारी भी कई पंथों में बँट गये, और उनमें प्रत्येक ध्यानी बुद्ध को ही आदि बुद्ध मानने लगा तथा अपने देवी-देवताओं को अपने इष्ट ध्यानी बुद्ध के चिह्न से विभूषित करने लगा।

वज्रयान में पाँच ध्यानी बुद्धों की कल्पना की गई है और उनके साथ उनकी शक्तियों की भी। स्वर्ग में निवास करते हुए ध्यानी बुद्ध ने अपनी शक्तियों के द्वारा बोधिसत्त्वों को जन्म दिया, और बोधिसत्त्वों की 'शक्तियों' को भी नारी-मूर्त्ति में अभिव्यक्त किया गया। पहले इन देवताओं को अपनी देवियों के साथ या अलग चित्रित किया जाता था; पर पीछे चलकर इन्हें प्रगाढ़ आलिङ्गन-बद्ध दिखाया जाने लगा। इस प्रकार इन पाँच ध्यानी बुद्धों से अनेक देवी-देवताओं की उत्पत्ति हुई और उनके भिन्न-भिन्न रूप, लक्षण और गुणों की अभिव्यक्ति की जाने लगी। 'साधनमाला' में इन सब का विस्तारपूर्वक वर्णन है।

अमिताभ, अक्षोभ्य, वैरोचन, अमोघसिद्धि और रत्नसम्भव—पाँच ध्यानी बुद्ध हैं। पीछे वज्रसत्त्व को भी इस सूची में जोड़ा गया। ध्यानी बुद्ध शाश्वत हैं और स्वर्ग में सतत ध्यानावस्थित रहते हैं। कार्य करना उनका स्वभाव नहीं ; पर उनसे उत्पन्न बोधिसत्त्वों का स्वभाव है। ध्यानी बुद्ध से अगणित देवता उत्पन्न होते हैं। भिन्न-भिन्न रंग, आयुध, हाथ, पैर, सिर इत्यादि के आधार पर विभिन्न देवी-देवताओं की कल्पना की गई और उसके अनुसार मूर्त्तियाँ बनीं। इस प्रकार हिन्दुओं की तरह बौद्धों में भी विशाल देव-समूह का विकास हुआ।

सभी ध्यानी बुद्ध देखने में एक-से लगते हैं। सभी ध्यानावस्थित, योगासीन, दुहरे कमलासन पर बैठे दिखाई देते हैं। पर रंग में फर्क, हाथ की विभिन्न मुद्राओं और अपने विशिष्ट वाहनों के द्वारा वे अलग-अलग पहचाने जा सकते हैं। 'वैरोचन' ध्यानी बुद्ध का रंग श्वेत है और वे 'धर्मचक्र-मुद्रा' में हैं। 'रत्नसम्भव' ध्यानी बुद्ध का रंग पीत और मुद्रा 'वरद' है; अर्थात् एक हाथ नीचे झुका है और खुली तलहत्थी से वे भक्त को वर दे रहे हैं। ध्यानी बुद्ध अमिताभ का रंग लाल है और वे 'ध्यानमुद्रा' में हैं और उनके दोनों हाथ गोद में पड़े हैं। 'अमोघसिद्धि' ध्यानी बुद्ध का रंग हरा है और वे 'अभयमुद्रा' में हैं। वे एक हाथ ऊपर उठाकर तलहत्थी को बाहर रखकर अभयदान दे रहे हैं, मानों भक्तों को सभी विपत्तियों से बचा लेने का वचन देते हैं। ध्यानी बुद्ध 'अक्षोभ्य' का रंग नीला है और वे भूमि-स्पर्श मुद्रा में हैं, जिस मुद्रा में बुद्ध ने 'मार' पर विजय प्राप्त कर भूमि को इसका साक्षी बनाया था। 'अक्षोभ्य' का वाहन एक जोड़ा हाथी और संकेत-लक्षण वज्र है। 'वैरोचन' का वाहन संरक्षनाग (Dragon) या व्याल है और चोटी पर चक्र है। 'रत्नसम्भव' का वाहन एक जोड़ा सिंह और चूड़ामणि 'मणि' है। 'अमिताभ' का वाहन एक जोड़ा 'मोर', तथा चूड़ामणि, एक पूर्ण विकसित कमल है। 'अमोघसिद्धि' का वाहन एक जोड़ा गरुड और लक्षण दुहरा वज्र है। कहीं-कहीं सात फणवाला सर्प उनके पीछे है और उसके फैले पंख छत्र का काम करते हैं।

'वज्रसत्त्व' को भी ध्यानी बुद्ध की ही सूची में रखा गया है और यह बराबर ध्यानासन में दिखाये जाते हैं। इनके एक हाथ में वज्र, जो सीने के सामने है, और दूसरे में घंटा है, जो बाईं जाँघ को स्पर्श करता है। इन्हें अपनी शक्ति के साथ आलिंगन-पाश में भी दिखाया जाता है। शक्ति एक हाथ में कर्त्तरी और दूसरे में कपाल लिये हुई है। वज्रसत्व के सर पर अलंकृत मुकुट रहता है और शरीर पर राजसी पोशाक। कहीं-कहीं मुकुट पर अक्षोभ्य की मूर्त्ति भी देखी गई है।

उपर्युक्त प्रत्येक ध्यानी बुद्ध की शक्ति को भी नारी-रूप में मूर्त्त किया गया है। ये सभी 'ललितासन' में बैठी हैं और इनके दोनों हाथों में कमल है। एक हाथ 'अभयमुद्रा' में है और दाहिना हाथ वरदमुद्रा में दायें पैर के आगे पड़ा है। विशिष्ट शक्ति ध्यानी बुद्ध के वाहन और रंग से पहचानी जाती है। 'वैरोचन' की बुद्ध-शक्ति वज्रधात्वीश्वरी, अक्षोभ्य की लोचना, रत्नसम्भव की मामकी, अमिताभ की पाण्डरा, अमोघसिद्धि की आर्यतारा और वज्रसत्त्व की वज्रसत्त्वात्मिका है। इसी तरह प्रत्येक ध्यानी बुद्ध और उसकी शक्ति से उत्पन्न अलग-अलग बोधिसत्त्व भी हैं।

बोधिसत्त्व का ही धर्म है कार्य-रत रहना। पहले संघ का प्रत्येक सदस्य 'बोधिसत्त्व' कहा जाता था और पीछे चलकर बौद्धधर्म का महान् सन्त और पंडित बोधिसत्त्व कहा जाने लगा। साथ ही, ईश्वरीय विभूतियों को भी बोधिसत्त्व कहा जाने लगा, जो तबतक बुद्ध का काम करते रहेंगे, जबतक पुनः बुद्ध का मनुष्यावतार धरती पर न हो जाय। आजकल मैत्रेय बुद्‌ध के अवतार न हो जाने तक अमिताभ ध्यानी बुद्‌ध के बोधिसत्त्व पद्मपाणि मानव-बुद्‌ध का काम कर रहे हैं।

बोधिसत्त्व प्रधानतः पाँच हैं। पीछे एक और बढ़ाये गये। ये बोधिसत्त्व भिन्न-भिन्न आसनों में बैठे या खड़े दिखाये गये हैं। उनके सिर पर मुकुट रहता है और मुकुट के मध्य में अपने ध्यानी बुद्ध की मूर्त्ति अंकित रहती है, जिससे बोधिसत्त्व भलीभाँति पहचाने जा सकते हैं। उनका शरीर वस्त्र से ढँका है और शरीर के उपरले भाग पर चादर है। साधारणतः उनके हाथों में सनाल कमल रहता है, जिसपर अपने ध्यानी बुद्ध का विशिष्ट लक्षण (चूडामणि) अंकित है। 'वैरोचन' के बोधिसत्त्व समन्तभद्र, अक्षोभ्य के वज्रपाणि, रत्नसम्भव के रत्नपाणि, अमिताभ के पद्मपाणि, अमोघसिद्धि के विश्वपाणि और वज्रसत्त्व के बोधिसत्त्व घण्टापाणि हैं।

मैत्रेय बुद्ध अभी तुषित स्वर्ग में हैं और वे शाक्य-बुद्ध के निर्वाण के चार हजार वर्ष बाद पृथ्वी पर मानव के रूप में अवतार लेंगे। मैत्रेय की पूजा हीनयानी और महायानी— दोनों करते हैं और उनकी मूर्त्तियाँ पहली सदी-पूर्व से ही बनती थीं। मैत्रेय अनेक आभूषणों से विभूषित और दाहिने हाथ में कमल-नाल लिये साधारण दिखाये गये हैं। उनके मुकुट पर 'चैत्य' अंकित है और इसी विशिष्ट चिह्न के द्वारा उन्हें पद्मपाणि से भिन्न रूप में हम पहचानते हैं। 'साधनमाला' के अनुसार मैत्रेय के तीन मुख और चार हाथ हैं। वे पर्यंक-आसन में एक जानवर पर बैठे हैं। उनके दो हाथ व्याख्यान-मुद्रा में हैं, तीसरे में कमलनाल है और चौथा वरद-मुद्रा में है।

मञ्जुश्री अत्यन्त प्रमुख बोधिसत्त्व हैं। यह वास्तव में एक महान् बौद्ध भिक्षु थे और पीछे चलकर इन्हें बोधिसत्त्व माना जाने लगा। बौद्धों के अनेक बोधिसत्त्व और हिन्दुओं के

अवतार इसी प्रकार पहले महापुरुष थे, जिन्हें ईश्वरीय पद दिया गया। मञ्जुश्री को, अन्य बोधिसत्त्वों की तरह, किसी विशिष्ट ध्यानी बुद्ध से उत्पन्न माना गया है। किन्तु, मार्के की बात यह है कि बौद्ध इन्हें भिन्न-भिन्न ध्यानी बुद्धों के अंश मानते आये हैं। इस प्रकार, मञ्जुश्री के अनेक रूप, लक्षण और नाम भी मिलते हैं। अमिताभ ध्यानी बुद्ध से उत्पन्न वाक् और धर्मधातुवागीश्वर मञ्जुश्री के ही रूप हैं। वाक् वज्रपर्यंक आसन पर 'ध्यान-मुद्रा' में है और अमिताभ उनके मुकुट या जीभ पर अंकित है। मूर्त्ति आभूषणों से विभूषित है। धर्मधातुवागीश्वर की मूर्त्तियाँ विरले ही मिलती हैं। देवता के चार मुख और आठ हाथ हैं। उनके मुकुट में पाँच रत्न हैं। देवता ईश्वरीय वस्त्रों से सज्जित हैं और रसिक भावना अभिव्यक्त है। हाथों में धनुष, बाण, पाश, अंकुश, पुस्तक, कृपाण, घंटा और वज्र हैं। देवता साधारणतः ललितासन में बैठे हैं। अक्षोभ्य से उत्पन्न मञ्जुश्री के विभिन्न रूपों में मञ्जुघोष उल्लेखनीय हैं। मञ्जुघोष सिंह पर आसीन हैं। वे कभी ललितासन में और उनके दोनों हाथ व्याख्यान-मुद्रा में अंकित हैं। बाईं ओर कमल है, और देवता विविध आभूषणों से सुशोभित हैं। मञ्जुश्री के चार अन्य प्रकार, पाँचों ध्यानी बुद्धों से, उत्पन्न माने गये हैं। इनमें वागीश्वर उल्लेखनीय हैं। वागीश्वर अर्द्धपर्यंक आसन में हैं और सिंह पर बैठे हैं। उनके बायें हाथ में उत्पल (नील कमल) है और मुकुट पर पाँचों ध्यानी बुद्धों की मूर्त्तियाँ हैं। मञ्जुवर ललित या अर्द्धपर्यङ्क-आसन और धर्मचक्र-मुद्रा में हैं और इनके हाथ में कमल है, जिसपर 'प्रज्ञापारमिता' ग्रन्थ चित्रित है। उनके मुकुट पर पाँचो ध्यानी बुद्धों की मूर्त्तियाँ हैं। मञ्जुश्री के कुछ रूपों में किसी विशेष ध्यानी बुद्ध के चिह्न नहीं मिलते। यह मञ्जुश्री का स्वतन्त्र रूप है। शायद पहले मञ्जुश्री बोधिसत्त्व की स्वतन्त्र कल्पना की गई थी, पर जब ध्यानी बुद्धों की कल्पना हुई, तब मञ्जुश्री के भिन्न-भिन्न कल्पित रूप या मूर्त्तियाँ विभिन्न ध्यानी बुद्धों से उत्पन्न मानी गईं। 'अरपचन' मञ्जुश्री का एक ऐसा ही रूप है। इसमें देवता वज्रपर्यंक आसन में दोहरे कमलासन पर आसीन हैं। उनके एक हाथ में तलवार और दूसरे में 'प्रज्ञापारमिता' पुस्तक है। मूर्त्ति आभूषणों से अलंकृत है और कभी अकेले और कभी केशिनी, उपकेशिनी, चन्द्रप्रभा और सूर्यप्रभा नामक चार देवियों के साथ प्रदर्शित किये गये हैं।

बोधसत्त्वों में 'अवलोकितेश्वर' सम्भवतः सबसे अधिक जनप्रिय थे। ये ध्यानी बुद्ध 'अमिताभ' और बुद्धशक्ति 'पाण्डरा' से उत्पन्न माने गये हैं। शाक्य-बुद्ध और मैत्रेय-बुद्ध के बीच के समय में अवलोकितेश्वर ही बोधिसत्त्व हैं। बौद्ध-ग्रन्थों के अनुसार अवलोकितेश्वर ने महान् त्याग किया है; क्योंकि इन्होंने निर्वाण-पद की प्राप्ति को तबतक अस्वीकार किया, जबतक सभी प्राणी सम्बोधि प्राप्त न कर लें। इसलिए, यह सभी जीवों के आध्यात्मिक ज्ञान की वृद्धि के लिए सतत प्रयास कर रहे हैं। इसी कारण इन्हें अनेक रूप धारण करने पड़ते हैं, और 'साधनमाला' में अवलोकितेश्वर या लोकेश्वर के तीस से अधिक प्रकारों का वर्णन है। अवलोकितेश्वर के १०८ रूप के चित्र काठमाण्डू के विहारों में पाये गये हैं। उनके कुछ रूपों का यहाँ उल्लेख किया जाता है—

षडक्षरी लोकेश्वर—इन के चार हाथ हैं और 'अञ्जलिमुद्रा' में है, जो हृदय के सामने है। उनके साथ 'मणिधर' और 'षडक्षरी' महाविद्या है। मगध में साथियों के साथ

'षडक्षरी' की प्रतिमा मिली है, जिसे वैड्डेल ने पाया था और जो आज भारतीय संग्रहालय (कलकत्ता) की शोभा बढ़ा रही है। मूर्त्ति वीरासन में है। गले में हार और कंठा है। हाथ में बाजूबंद और कंगन हैं। शरीर पर वस्त्र है। मूर्त्ति के हाथ अञ्जलि-मुद्रा में सीने के सामने हैं और अन्य दो हाथों में से दाहिने हाथ में जय की माला और बायें में कमल है। सिर पर मुकुट है, जिसके मध्य में अमिताभ बुद्ध की मूर्त्ति है। मूर्त्ति की बाईं ओर महाविद्या और दाहिनी ओर मणिधर हैं। मूर्त्ति दोहरे कमलासन पर आसीन है।[1]

सिंहनाद—अवलोकितेश्वर का एक प्रमुख प्रकार है। देवता महाराज लीला-आसन में हैं। उनका वाहन सिंह है। उनके शरीर पर आभूषण नहीं हैं। बायें हाथ में कमल है, जिसपर तलवार अंकित है, और दायें में त्रिशूल है, जिसमें साँप लिपटे हुए हैं। इस देवता को सभी बीमारियों का दूर करनेवाला माना गया है।

खसर्पण—ललितासन या अर्द्धपर्यंक-आसन में दिखाये गये हैं। इनकी मुद्रा वरद-मुद्रा है। हाथ में कमल है और ये बराबर तारा, सुधनकुमार, भृकुटी और हयग्रीव के साथ चित्रित हुए हैं। मुख्य मूर्त्ति लोकनाथ-जैसी है। इसके दो हाथ, और एक मुख है। 'लोकनाथ' के साथ हयग्रीव और भृकुटी रहते हैं, पर खसर्पण के साथ इनके अलावा सुधनकुमार और तारा भी रहते हैं। 'लोकनाथ' वरद-मुद्रा में पाये जाते हैं और उनका 'लक्षण' कमल है। साथ में भृकुटी और हयग्रीव हैं, पर वे अलग भी प्रदर्शित हुए हैं। उनके जटामुकुट में अमिताभ की मूर्त्ति है। लोकनाथ ललितासन में बैठे हैं और उनके मुख पर पूर्ण शान्ति और कांति विराजती है। दाईं ओर तारा है, जिसके मुख पर शान्ति का भाव अभिव्यक्त है और जो वरदमुद्रा में हैं। वह कमल लिये हुई है। बाईं ओर हयग्रीव है, जो सर झुकाकर अभिवादन करता दिखाई देता है। वह अपने दोनों हाथों में दण्ड लिये है। उसकी भावाकृति भयंकर है, और वह व्याघ्र-चर्म को पसन्द करता है। कभी ऐसे लोकनाथ खड़े भी दिखाये गये हैं।

हरिहरिहरि वाहनोद्भव—एक अत्यन्त रोचक देवता हैं, जिनकी प्रतिमाएँ विरल पाई गई हैं। इस लोकेश्वर के सर पर जटा-मुकुट है, शरीर पर सादा वस्त्र है। इनके छह हाथ हैं। दाहिने तीन हाथों में—एक को तथागत को साक्षी बनाने की मुद्रा में, बीच के हाथ जप करने की मुद्रा में और उपरला हाथ भूले-भटके को शिक्षा देने की मुद्रा में हैं। बायें हाथों में एक में दण्ड या त्रिशूल, बीचवाले हाथ में कृष्ण-मृगचर्म या कभी हाथी, और निचले हाथ में कमण्डल है।

मायाजालक्रम अवलोकितेश्वर—यह भारत में अवलोकितेश्वर के भयंकर रूप का एकमात्र उदाहरण है। देवता के पाँच मुख हैं। बारह हाथ हैं। तीन आँखें हैं और देवता प्रत्यालीढ आसन में हैं। दायें हाथों में डमरू, खट्वाङ्ग, अंकुश, वज्र और बाण हैं और बायें में तर्जनी अँगुली ऊपर उठी है, कपाल, लाल कमल, रत्न, चक्र और धनुष हैं। आकृति भयंकर है। मूर्त्ति नंगी है और प्रत्येक अंग सुन्दर है। ध्यानी बुद्ध अमिताभ की तरह नीलकंठ का अत्यन्त शान्त रूप है। नीलकंठ के गले में यज्ञोपवीत है और मुकुट में अमिताभ की मूर्त्ति। इनके साथ दो साँप भी दिखाये जाते हैं। मूर्त्ति 'ध्यान-मुद्रा' में है। इसके दोनों हाथों में कपाल (कटोरा) है, जिसमें अनेक

१. *Photo XIII, No. V (Buddhist Iconography)*

प्रकार के रत्न सँजोये हैं। इनका गला नीला है, जो विष का प्रभाव दिखाता है। मणिफण-विभूषित गेहुँअन नाग उनके दोनों ओर उन्हें देखते हुए प्रदर्शित किये गये हैं। एक साँप की पूँछ दूसरे से लिपटी हुई है। नीलकंठ को व्याघ्र-चर्म ओढ़े और आभूषणहीन दिखाना चाहिए था। यह बौद्ध-मूर्त्ति सम्भवतः हिन्दू-शिव के आधार पर कल्पित हुई है।

सुखावती लोकेश्वर—इनके तीन मुख हैं और छह हाथ। एक दाहिना हाथ बाण छोड़ने की मुद्रा में दिखाया गया है। अन्य दो हाथों में, एक में जप करने की माला है और दूसरा वरद-मुद्रा में है। बायें हाथों में, एक में धनुष, दूसरे में कमल और तीसरा तारा की जाँघ पर पड़ा है। देवता ललितासन में हैं और वज्रतारा, विश्वतारा, पद्मतारा से घिरे हुए हैं। ऊपर चैत्य है।

ध्यानी बुद्ध अमिताभ से उत्पन्न अनेक देवियों का उल्लेख 'साधनमाला' में आया है। इनमें कुरुकुल्ला प्रमुख हैं। इनके अनेक रूप हैं। एक मुख और दो, चार, छह या आठ हाथ हैं। छह हाथवाली देवी के मुकुट पर ध्यानी बुद्धों की मूर्त्तियाँ रहनी चाहिए। कुरुकुल्ला वशीकरण की देवी हैं। इनकी यथाविधि पूजा से राजा, मन्त्री, स्त्रियों और पुरुषों को वश में किया जा सकता है। शुक्लकुरुकुल्ला के हाथ में जप करने की माला और कमल है। ये वज्रपर्यङ्क-मुद्रा में हैं। तारोद्भव कुरुकुल्ला के चार हाथ हैं। एक बायाँ हाथ अभय-मुद्रा में है और दूसरे में बाण है। दाहिने हाथ में धनुष और लाल कमल है। देवी वज्रपर्यङ्क-आसन में बैठी हैं और कमलासन के नीचे कामदेव और उनकी स्त्री रति राहु पर आरूढ हैं। देवी के मुकुट पर अमिताभ की छवि है। 'ओड्डियान कुरुकुल्ला शायद उड़ीसा में पूजी जाती थीं और इनकी आकृति अत्यन्त भयंकर है। इनके गले में रुण्डमाला है और सिर पर पाँच खोपड़ियाँ हैं। दाँत और जीभ बाहर निकले हुए हैं, बाघ की छाल इनका वस्त्र है, और इनके भूरे बाल सिर के ऊपर आग की लहर-से ऊपर उठ रहे हैं। तीन गोल-गोल और लाल आँखें हैं, जो चंचल हैं। चार हाथ हैं। दो हाथ धनुष-बाण-संधान किये हुए हैं और एक में अंकुश तथा दूसरे में कमल है। यह अर्धपर्यङ्क-आसन में एक नर-शव पर बैठी हैं। पर, अष्टभुजी कुरुकुल्ला' अत्यन्त शान्त, करुणामयी और युवती हैं। दोनों प्रधान हाथ 'त्रैलोक्य-विजय' मुद्रा में हैं। बाकी हाथों में अंकुश, कान तक खींची और शर-संधान्वित प्रत्यंचा, वरद-मुद्रा, पाश, धनुष और उत्पल हैं।

भृकुटी—का एक रूप अमिताभ से उत्पन्न है, और यह अवलोकितेश्वर का एक रूप है। 'खसर्पण' के साथ रहने पर भृकुटी के चार हाथ हैं; दो में त्रिदण्ड और कमण्डल हैं, और एक में जप करने की माला है।

ध्यानी बुद्ध अक्षोभ्य से भी अनेक देवी-देवता उत्पन्न हैं। नीले रंग के अक्षोभ्य से अनेक भयंकर देवताओं की उत्पत्ति हुई है, जिनमें 'चण्डरोषण' एक भयंकर देवता हैं, जिनके हाथों में तलवार और तर्जनीपाश हैं। बायें मुँह से जीभ निकली है और दाँत बाहर हैं। यह नर-मुण्डों पर बैठे हैं, इनका एक पैर नर-मुण्डों पर ठेहुनिया दिये पड़ा है और दूसरा (अवनिनिहित जानु) जमीन को छू रहा है। यह अपनी शक्ति से प्रगाढ़ आलिंगन में बद्ध हैं, और देवता के ओठ शक्ति के कपोल को स्पर्श कर रहे हैं।

'हेरुक'—एक अत्यन्त जनप्रिय देवता हैं। कभी यह अपनी शक्ति के साथ आलिंगनबद्ध दिखाये गये हैं और कभी अकेले। अकेले में 'हेरुक' के दो हाथ होते हैं और यह अर्धपर्यंङ्क-आसन में नृत्यरत रहते हैं। इनके हाथों में वज्र और कपाल हैं। साधारणतः, यह एक नर-शव पर आसीन रहते हैं। बायें कंधे से फहराते पताके के साथ खट्वाङ्ग लटक रहा है। चतुर्भुज 'हेरुक' के चार हाथ हैं और यह अपनी शक्ति 'स्वाभाप्रज्ञा' के द्वारा आलिंगनबद्ध हैं। 'हेरुक' के चारों हाथ में कालवज्र, तलवार, खट्वाङ्ग और रत्न हैं। इनके मुकुट पर 'अक्षोभ्य' सुशोभित हैं। जब 'हेरुक' चित्रसेना के साथ आलिंगनबद्ध हों तब उन्हें 'बुद्धकपाल' की संज्ञा दी गई है। 'हेरुक' यहाँ भी अर्धपर्यंङ्क-आसन में नृत्यरत हैं और उनके चारों हाथों में क्रमशः खट्वाङ्ग, कपाल, कर्त्तरी और डमरू हैं। जब 'हेरुक' 'वज्रवाराही डाकिनी' के साथ आलिंगनबद्ध होते हैं, तब उन्हें 'वज्रडाक' कहा जाता है। 'वज्रडाक' के अनेक भेद हैं। सप्ताच्तर (वज्रडाक) के तीन मुख और छह हाथ हैं। यह 'आलीढ'-आसन में रहते हैं और 'वज्रवाराही' से आलिंगनबद्ध। जब 'हेरुक' बुद्धडाकिनी के साथ आलिंगनबद्ध होते हैं, तब उन्हें 'महामाया' कहा गया है। इनके चार मुख और चार हाथ हैं। यह अर्द्धपर्यंङ्क-आसन में नृत्यरत हैं, इनकी आकृति भयंकर है और इनके बाल आग की लहर के सदृश ऊपर फहरा रहे हैं। इनके गले में कंठा और हाथ में कंगन है। इनका पहनावा मनुष्य का चमड़ा है। इनके प्रत्येक सिर में तीन आँखें हैं और शरीर से अग्नि-ज्वाला निकलती दीख रही है। यह वज्रडाकिनी, रत्नडाकिनी, पद्मडाकिनी और विश्वडाकिनी से क्रमशः पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर से घिरे रहते हैं।

ध्यानी बुद्ध अक्षोभ्य से उत्पन्न हयग्रीव का एक और रूप है। इस हयग्रीव के तीन मस्तक और आठ हाथ हैं। प्रत्येक मस्तक पर तीन आँखें हैं। सर्प इनके आभूषण हैं और देवता 'ललितासन' में हैं और क्रुद्ध दिखाई पड़ते हैं। इन्होंने बाघ की छाल लपेट रखी है। इनके मध्यस्थित मुख पर मुस्कान अंकित है, दूसरे मुख से जीभ बाहर निकल रही है और तीसरे से यह अपना ओठ काट-से रहे हैं। चार बायें हाथों में वज्र, दण्ड, करण-मुद्रा और ऊपर उठा तीर हैं। चार दायें हाथों में, एक तर्जनी-मुद्रा में है, एक सीने का स्पर्श कर रहा है, एक में कमल है और एक में धनुष है। मुकुट पर 'अक्षोभ्य' की मूर्त्ति विराजती है।

'यमारि' या 'यमान्तक'—इन की पूजा अनेक रूपों में होती थी। ये अलग और अपनी शक्ति के साथ—दोनों रूपों में—पूजित थे। भैंसा इनका वाहन है और भैंसे का सिर इनके कंधों पर रखा जाता था। तिब्बती किंवदन्ती के अनुसार, जब दो डाकुओं ने एक ऋषि की हत्या की, तब मृत ऋषि के स्थान पर यम मृत साँड़ के सिर के साथ पैदा हो गया और सभी के प्राण के लाले पड़ गये। उसके बाद 'यमान्तक' अवतीर्ण हुए; जिन्होंने 'यम' का नाश किया। 'यमान्तक' या 'यमारि' की एक मूर्त्ति 'नालन्दा' में भी मिली है। इस मूर्त्ति के तीन मुख हैं और छह हाथ। यह आलीढ-आसन पर खड़ी है। तीनों मुख की जीभें बाहर निकली हैं और दाँत बड़े और मांसभक्षक हैं। इनका पेट बड़ा है और गले में नरमुण्डों की माला है। इनके दायें हाथों में वज्र, तलवार और मुसल हैं और बायें हाथों में वैताल, पाश और कुल्हाड़ी हैं। देवता एक बैठे हुए भैंसे पर आरूढ हैं।

'जंम्भल'—एक प्राचीन देवता हैं, जिनकी पूजा शायद बोधिसत्त्वों की कल्पना से पहले ही आरम्भ हुई होगी; क्योंकि 'जम्भल' के कुछ रूपों की उत्पत्ति अमिताभ से और कुछ की 'अक्षोभ्य', 'रत्नसम्भव' या 'वज्रसत्त्व' से मानी गई है। कुछ की उत्पत्ति, पाँचों ध्यानी बुद्धों से मानी गई है। 'अक्षोभ्य' से उत्पन्न'जम्भल' के मुकुट पर 'अक्षोभ्य' विराजमान हैं। इस प्रकार के 'जम्भल' के तीन मुख और छह हाथ हैं। ये अपनी शक्ति के साथ आलिंगनबद्ध दिखाये गये हैं।

'अक्षोभ्य' से उत्पन्न अनेक देवियों की भी कल्पना की गई है। इनमें प्रमुख निम्नलिखित हैं—

महाचीनतारा—इसे उग्रतारा भी कहा जाता है और हिन्दुओं की महाविद्याओं में 'तारा' का यही रूप अपनाया गया है। महाचीनतारा की आकृति अत्यन्त भयंकर है। इनके एक मुख, तीन आँखें तथा चार हाथ हैं। इन हाथों में कृपाण, कमल, कर्त्तरी और कपाल हैं। शरीर नाग-आभूषणों से सुशोभित है। देवी शव पर 'प्रत्यालीढ'-आसन में खड़ी हैं और युवती हैं। गले में नर-मुण्डों की माला है। सिर पर 'अक्षोभ्य' वर्त्तमान हैं। कभी-कभी सिर के चारों ओर अग्नि की लहर उठ रही-सी है। जाङ्गुली सर्प-विष को हरनेवाली देवी है। हाथों में वीणा, अभयमुद्रा और सर्प इनके विशिष्ट लक्षण हैं। किसी रूप में त्रिशूल और मोरपंख भी इनके लक्षण बताये गये हैं। किसी रूप में तीन मुख और छह हाथ हैं। हिन्दू-देवी 'मनसा देवी' जाङ्गुली से बहुत मिलती-जुलती हैं। बौद्ध देवी-देवताओं में **'एकजटा'** बहुत महत्त्वपूर्ण है; क्योंकि एकजटा के प्रसन्न होने से भक्त की सभी विपत्तियाँ हवा हो जाती हैं, और उसे धर्मपथ पर अग्रसर होने में प्रोत्साहन मिलता है। एकजटा के शरीर पर व्याघ्र-चर्म रहता है और उन्हें तीन आँखें होती हैं। उनके भूरे बाल ऊपर उठे रहते हैं। शरीर नाटा कद का और पेट निकला हुआ है। देवी 'प्रत्यालीढ'-आसन में खड़ी रहती हैं। गले में रुण्डमाला है, आकृति भयंकर है और वह शव पर बैठी है। मुकुट पर 'अक्षोभ्य' की मूर्त्ति है। किसी रूप में दो, किसी में चार या आठ हाथ रहते हैं। दो हाथवाली मूर्त्ति के हाथों में कपाल और कर्त्तरी (चाकू) है।[1] चार हाथवाली मूर्त्ति के हाथों में कमल, कर्त्तरी, कृपाण और कपाल रहते हैं। **पर्णशबरी** की पूजा से महामारी का प्रकोप दूर होता है और भयातुरों को ढाढ़स मिलता है। इनके मुकुट पर कभी अक्षोभ्य और कभी अमोघसिद्धि विराजते हैं। इस प्रकार इनकी उत्पत्ति दोनों ध्यानी बुद्धों से मानी गई है। 'साधनमाला' के अनुसार इनके तीन मुख और छह हाथ हैं। प्रत्येक मुख पर तीन आँखें हैं। देवी विहँसती रहती हैं। यह गर्वीली युवती हैं। दाहिने हाथों में वज्र, परशु और तीर हैं तथा बायें में तर्जनीपाश, पत्ते और धनुष हैं। मुकुट पर 'अक्षोभ्य' हैं। देवी प्रत्यालीढ-आसन में हैं और उनके द्वारा विघ्न (गणेश) पैर के नीचे कुचले गये हैं।

प्रज्ञापारमिता—यह महायान के मूल-ग्रन्थ का मूर्त्त रूप है। प्रज्ञापारमिता को अक्षोभ्य और अन्य ध्यानी बुद्धों से उत्पन्न माना गया है। इससे यह अनुमान होता है कि बोधिसत्त्वों की कल्पना के पहले ही प्रज्ञापारमिता की पूजा प्रारम्भ हो गई होगी।

१. *Plate XXVIId* (*Buddhist Iconography*)

'अक्षोभ्य' से उत्पन्न प्रज्ञापारमिता के दो रूप प्रमुख हैं—'सितप्रज्ञापारमिता' और 'पीतप्रज्ञापारमिता'। सितप्रज्ञापारमिता 'वज्रपर्यङ्क'-मुद्रा में हैं और पुस्तक तथा कमल उनकी विशिष्ट पहचान है। पीतप्रज्ञापारमिता व्याख्यान-मुद्रा में हैं। बाईं ओर कमल पर पुस्तक इनकी पहचान है। 'वसुधरा' एक दूसरी प्रमुख बौद्ध देवी हैं और जम्भल की शक्ति हैं। 'साधनमाला' की एक साधना के अनुसार इनके मुकुट पर 'अक्षोभ्य' हैं। अन्य दो साधनाओं में इनकी उत्पत्ति 'रत्नसम्भव' से मानी गई है। 'अक्षोभ्य' से उत्पन्न 'वसुधरा' अनेक आभूषणों से विभूषित हैं और षोडशवर्षीय कुमारी के रूप में हैं। दाहिना हाथ वरद-मुद्रा में है. और बायें में जौ की बाल है; सर पर अक्षोभ्य विराजते हैं। सामने श्रीवसु, दाहिने वसुश्री, बायें वसुमतिश्री और पीछे श्रीवसुमुखी हैं। ये सभी 'वसुधरा' के ही रूप हैं। 'नैरात्मा' बहुत अंशों में 'वज्रवाराही' से मिलती-जुलती हैं। वज्रवाराही के समान यह भी कपाल और कर्त्तरी लिये हुई हैं। 'वज्रवाराही' सीने के बल पड़े शव पर खड़ी हैं और नैरात्मा' पीठ के बल पड़े शव पर खड़ी या बैठी हैं। नैरात्मा के मुकुट पर 'अक्षोभ्य' विराजमान हैं। देवी अर्धपर्यङ्क-आसन में हैं और युवती हैं। उनके स्तन पूर्ण विकसित हैं। इनका मुख भयंकर दीख पड़ता है, जीभ निकली हुई है और नाखून विषैले हैं। हाथ में कर्त्तरी और कपाल हैं, खट्वाङ्ग बायें हाथ पर टिका है, शरीर से अग्नि-ज्वाला चारों ओर निकल रही है। भारतीय संग्रहालय (कलकत्ता) की मूर्त्ति के गले में रुण्डमाला है। सर पर 'अक्षोभ्य' हैं। वह कंठा, कंगन, रत्नमेखला और भस्म या यज्ञोपवीत—इन पाँच सुलक्षणों से विभूषित है। 'वंगीय साहित्य-परिषद्' में नैरात्मा की मूर्त्ति है, जिसके सिर पर 'अक्षोभ्य' नहीं है और मूर्त्ति अर्धपर्यङ्क-मुद्रा में नृत्यरत है।[१]

'वैरोचन' ध्यानी बुद्ध से उत्पन्न देवी-देवताओं में 'मारीची' प्रथम उल्लेखनीय हैं। मारीची वैरोचन की सहगामिनी मानी जाती हैं। यह रथ पर आरूढ हैं। रथ में घोड़ों की जगह सात सूअर के बच्चे हैं, और सूर्य के रथ के सारथी पंगु अरुण के स्थान में बिना पैरवाली एक देवी है या धड़-विहीन सरवाला स्वयं राहु है। मारीची कभी एक मुख और कभी तीन मुख से युक्त दिखाई गई हैं। इनका वाहन सूअर का बच्चा है। मारीची के अनेक रूप हैं। अशोककान्ता मारीची को एक मुँह और दो हाथ हैं। दाहिना हाथ वरद-मुद्रा में है और बायाँ अशोक-वृक्ष की एक डाल पकड़े हुए है। आर्यमारीची के हाथ में सुई और तागा है और अन्य सभी प्रकार से यह अशोककान्ता-जैसी ही है। मारीची पिचुवा के तीन मुख हैं और आठ हाथ। पहले जोड़े हाथ में सूई-तागा है, दूसरे जोड़े हाथ में अंकुश और पाश हैं, तीसरे जोड़े में तीर और धनुष हैं तथा चौथे जोड़े हाथ में वज्र और अशोक-पुष्प हैं। तीनों मुख तीन विभिन्न—शृंगार, क्रोध और शांत—रसों को अभिव्यक्त करते हैं और प्रत्येक मुख पर तीन आँखें हैं। देवी प्रत्यालीढ-आसन में हैं और रथ पर आरूढ हैं, जिसे सात सूअर के बच्चे खींच रहे हैं। नीचे राहु है और देवी के चारों ओर वर्त्ताली, वदाली, वराली, और वराहमुखी देवी हैं। देवी पूर्णयौवना कुमारी हैं। जितनी मूर्त्तियाँ मिली हैं, सभी मारीची के इसी रूप-जैसी हैं।

१. *Buddhist Iconography*; (*pl. XXX, asb*)

दो अष्टभुजी मारीची की मूर्त्तियाँ 'भारतीय संग्रहालय', कलकत्ता में हैं, जिनमें से एक में देवी के पैरों के नीचे स्त्री-सारथी बैठी है। सिंहासन के बीच में सात सूअर के बच्चे रथ खींचते दिखाये गये हैं। चार साथी भी दिखाये गये हैं—दो ऊपर और दो दोनों किनारों पर। सारनाथ में मिली देवी की एक मूर्त्ति के मुकुट में वैरोचन अंकित हैं। दशभुजी और द्वादशभुजी मारीची का भी 'साधनमाला' में उल्लेख है। एक अत्यन्त सुन्दर अष्टभुजी मारीची की मूर्त्ति नालन्दा में मिली थी और अब भारतीय संग्रहालय (कलकत्ता) की शोभा बढ़ा रही है।[1]

वज्रवाराही—हेरुक की पटरानी या अग्रमहिषी कही जाती हैं। इन्हें बराबर नंगा और प्रेम-वासना की भावना से उद्वेलित दिखाया गया है। 'साधानमाला' में इन्हें बुद्ध-डाकिनी और वज्रवैरोचनी भी कहा गया है। इनके दो या चार हाथ होते हैं, और एक साधना में सिर पर दोहरे वज्र का उल्लेख किया गया है। यह प्रत्यालीढ-आसन में हैं। वज्रतर्जनी और कपाल इनकी पहचान है। बाईं ओर खट्वाङ्ग रहता है। यह पट पड़े एक शव पर खड़ी हैं। दाहिने कान के नजदीक निकला हुआ मस्सा या ग्रन्थि इनकी एक विशेषता है।

अमोघसिद्धि—से उत्पन्न देवी-देवताओं में **खदिरवनी** तारा का स्थान सर्वोपरि है। देवी के दो हाथ हैं। दाहिना हाथ वरद-मुद्रा में है और बायें हाथ में नीलकमल (उत्पल) है। इनकी दाहिनी ओर अशोककान्ता मारीची और बाईं ओर दो एकजटा परिचारिकाएँ हैं। खदिरवनी तारा की पहचान ये दो परिचारिकाएँ ही हैं। इनके मुकुट पर अमोघसिद्धि विराजते हैं। इन्हें **श्यामतारा** भी कहा जाता है और यह किसी भी आसन में चित्रित हो सकती हैं। भारतीय संग्रहालय (कलकत्ता) की एक मूर्त्ति में यह धर्मचक्र-मुद्रा में हैं,[2] जो असंगत-सी लगती है। **खदिरवनी तारा** की तरह ही **वश्यतारा** हैं; पर इन्हें भद्रासन में प्रदर्शित करने को कहा गया है और इनके साथ एकजटा और अशोककान्ता मारीची नहीं रहती हैं। **षड्भुज सिततारा** के तीन मुख और छह हाथ बताये गये हैं। देवी अर्धपर्यङ्क-आसन में होती हैं। इनका एक दाहिना हाथ वरद-मुद्रा में और अन्य जप करने की माला और तीर लिये रहते हैं, और बायें हाथों में उत्पल कमल है और धनुष हैं। यह वज्रपर्यङ्क-आसन में भी प्रदर्शित हुई है।

धनदतारा—इनका उल्लेख भी 'साधनमाला' में आया है। ऐसी तारा के चार हाथ हैं, जिनमें क्रमशः माला, वरद-मुद्रा, उत्पल और पुस्तक हैं। देवी अनेक प्रकार के आभूषणों से लदी हैं। आकृति सुन्दर और मंगलकारी है तथा एक पशु पर बैठी है। मुकुट पर अमोघसिद्धि विराजते हैं। अक्षोभ्य से उत्पन्न पर्णशबरी का उल्लेख हो चुका है, पर अमोघसिद्धि से भी उत्पन्न **पर्णशबरी** का वर्णन 'साधनमाला' में आया है और इसकी प्रतिमा भी बंगाल में मिली है। मूर्त्ति पहले ही जैसी है। दोनों में अन्तर इतना ही है कि अक्षोभ्य से उत्पन्न पर्णशबरी के मुख पर मुस्कान खिलती रहती है और अमोघ-

---

१. *A. S. I., A. R. 1923-29; plate XXXVI, c*

२. *Buddhist Iconography, plate XXXII, f*

सिद्धिवाली पर्णशबरी के मुख पर क्रोधजनित अट्टहास अभिव्यक्त है। हयग्रीव और शीतला दोनों बगल में देवी के डर से भागते नजर आ रहे है। महामयूरी के तीन मुख और छह हाथ हैं और यह अर्धपर्यंक-आसन में हैं। एक दाहिने हाथ में मोर का पंख है और दूसरा वरद मुद्रा में है। गोद में घट है। देवी प्रेम-विषयक भावना को अभिव्यक्त करती हैं और पूर्णयुवती हैं। अमोघ-सिद्धि मुकुट पर हैं। वज्रशृंखला के भी तीन मुख हैं, पर आठ हाथ हैं और देवी अर्धपर्यंक-आसन में हैं। एक दाहिने हाथ में वज्रशृंखला (चेन) है। सिर के बाल ऊपर की ओर अग्नि की ज्वाला की तरह लहलहा रहे हैं।

'ध्यानी बुद्ध रत्नसम्भव' से भी अनेक देवी-देवता उत्पन्न बताये गये हैं। 'रत्नसम्भव' का अर्थ ही होता है—रत्न-उत्पन्न। इसलिए, रत्नसम्भव से उत्पन्न प्रमुख 'देवता' जम्भल हिन्दुओं के 'कुबेर' की तरह धन के देवता हैं। जम्भल के अनेक रूप हैं। वे कभी अकेले और कभी अपनी शक्ति के द्वारा आलिंगनबद्ध दिखाये गये हैं। दाहिने हाथ में नेवल और बायें हाथ में जमीरी नींबू है। नेवल धन का खजाना माना गया है और इसे कुचल-कर जम्भल धन उगलवाते हैं। जम्भल का शरीर सुनहला पीतवर्ण है और पेट निकला हुआ है। वे अनेक आभूषणों से अलंकृत हैं। वे अपनी शक्ति 'वसुधरा' से आलिंगनबद्ध होने पर आठ पटलवाले कमल पर आसीन होते हैं। आठों पटल पर आठ यक्ष हैं, जिनमें मणिधर, धनद, वैश्रवण और पूर्णभद्र उल्लेखनीय हैं। सभी यक्ष अपनी-अपनी यक्षिणियों के साथ आलिंगनबद्ध हैं, इनमें सरस्वती, देवी, आर्या और चित्रकाली यक्षिणियाँ स्मरणीय हैं। 'जम्भल' का एक भयंकर रूप है—'उच्छुष्म जम्भल।' यह देवता नंगे हैं और प्रत्यालीढ-आसन में हैं। कुबेर उनका वाहन है। सारनाथ में जो मूर्त्ति मिली है, उसके मुकुट पर न तो 'अक्षोभ्य' हैं और न 'रत्नसम्भव'; बल्कि मुकुट पर अमिताभ हैं। पट पड़े हुए कुबेर को जम्भल अपने पैरों से कुचल रहे हैं और इसीसे इन्हें पहचाना जा सकता है। अपने पेट से सभी धन उगलने के लिए कुबेर बाध्य हो रहा है। 'साधनमाला' में भी 'जम्भल' का बायाँ पैर कुबेर के ललाट पर है और दायाँ उसके दोनों पैरों को कुचलते बताया गया है। 'जम्भल' सर्पों के आभूषण पहने हुए हैं। उनका पेट निकला हुआ है और नाखून विषधर-से लगते हैं। खून से भरे कपाल को उन्होंने अपने सीने के सामने पकड़ रखा है और उनकी तीनों आँखें उसपर टिकी हैं। 'रत्नसम्भव' से उत्पन्न देवियों में 'महाप्रतिसिरा' या 'वसुधरा' उल्लेखनीय हैं। 'महाप्रतिसिरा' को तीन मुखों और दस हाथों और चार मुखों तथा आठ हाथों से युक्त भी बतलाया गया है। किन्तु, वास्तविक मूर्त्ति में देवी के तीन मुख और आठ हाथ ही दिये गये हैं। मुकुट पर 'रत्नसम्भव' दिखाये गये हैं। आठ हाथों में से दाहिनी ओर के हाथों में कृपाण, तीर, खट्वाङ्ग और कपाल तथा बायें हाथों में धनुष, वज्र और परशु हैं। एक बायाँ हाथ तर्जनी-मुद्रा में सीने से सटा है। मूर्त्ति वज्रपर्यंक या अर्धपर्यंक-आसन में है। 'वसुधरा' 'जम्भल' की सहगामिनी है और इनके मुकुट पर रत्नसम्भव या 'अक्षोभ्य' विराजते हैं। 'आसन' का उल्लेख 'साधनमाला' में नहीं है। यह विभिन्न आभूषणों से विभूषित हैं और इनका वर्ण पीत है। इनके हाथ में घट और जौ की बाल है तथा दाहिना हाथ वरद-मुद्रा में है। यह बराबर अपनी परिचारिकाओं के साथ प्रदर्शित हुई हैं।

कुछ देवी-देवता पाँचों ध्यानी बुद्धों से उत्पन्न माने गये हैं। इनमें 'जम्भल' भी एक हैं। जम्भल के दो हाथ हैं। एक में नेवला और दूसरे में जमीरी नींबू है। यह आलीढ-आसन में दो अर्धमनुष्य—शंखमुण्ड और पद्ममुण्ड—को कुचल रहे हैं। महाकाल के एक रूप में पाँचो ध्यानी बुद्ध किरीट पर स्थित हैं। इस एक मुखवाले महाकाल के दो, चार या छह हाथ हैं। कभी आठ मुख और सोलह हाथों का भी उल्लेख 'साधनमाला' में हुआ है। यह एक अत्यन्त भयंकर देवता हैं। सर्प इनके आभूषण हैं और इनका पेट निकला हुआ है। हाथ में कर्त्तरी और कपाल हैं। गले में रुण्डमाला है, सिर पर पाँच कटे मुण्ड हैं और बाये हुए मुँह से खून टपक रहा है। पाँचो ध्यानी बुद्धों से उत्पन्न कई देवियाँ भी हैं, जिनमें वज्रतारा, प्रज्ञापारमिता और कुरुकुल्ला प्रमुख हैं। वज्रतारा की एक मूर्त्ति भागलपुर जिले में मिली थी। यह काँसे की बनी मूर्त्ति कमल के रूप में है।[1] इसका उल्लेख पहले हो चुका है। 'साधनमाला' की एक साधना के अनुसार 'वज्रतारा' आठ मातृदेवियों के वृत्त के मध्य में स्थित हैं। देवी अत्यन्त सुन्दर हैं और कुमारी के सभी सुलक्षणों से विभूषित हैं। इनके किरीट पर पाँचों ध्यानी बुद्ध की मूर्त्तियाँ हैं। देवी नवयुवती हैं और इनके कानों में कर्णफूल लटक रहे हैं। देवी दोहरे कमल पर बैठी हैं, इनके दाहिने हाथ में वज्र, पाश, शंख और तीर हैं और बायें में वज्रांकुश, उत्पल और धनुष हैं तथा एक हाथ तर्जनी मुद्रा में है। देवी वज्रपर्यङ्क-आसन में हैं। आठों कमलपत्रों पर आठ देवियाँ आलीढ-आसन में विराजती हैं। वज्रतारा की पूजा से अनेक प्रकार की मनष्कामनाएँ पूर्ण होती हैं। 'अक्षोभ्य' से उत्पन्न प्रज्ञापारमिता और पाँचों ध्यानी बुद्ध से उत्पन्न प्रज्ञापारमिता में कुछ भेद है। पाँचों ध्यानी बुद्धों से उत्पन्न प्रज्ञापारमिता के दोनों हाथ धर्मचक्र-मुद्रा में हैं और बाईं तथा दाहिनी काँख से कमल निकल रहे हैं, जिनपर प्रज्ञापारमिता (धर्मपुस्तक) अंकित है। अधिकतर ऐसी मूर्त्तियों में पाँचो ध्यानी बुद्धों की मूर्त्तियाँ किरीट पर स्थित हैं। मायाजालक्रमकुरुकुल्ला के किरीट पर पाँचों ध्यानी बुद्ध हैं। देवी वज्रपर्यङ्क-आसन पर हैं, और उनके छह हाथ हैं। वह आठ पटलवाले पर बैठी हैं। हाथ का पहला जोड़ा त्रैलोक्य-विजय-मुद्रा में है, दूसरे जोड़े में से एक हाथ लाल कमल अभय-मुद्रा में है और एक में श्वेत कुन्द का पुष्प है। तीसरे जोड़े में से एक में कमंडल और एक में माला है। यह देवी तक्षक की पीठ पर बैठी हैं।

वज्रसत्त्व से उत्पन्न 'जम्भल' के तीन मुख और छह हाथ हैं तथा किरीट पर वज्रसत्त्व हैं। जम्भल वज्रपर्यङ्क-आसन में हैं और अपनी शक्ति वसुधरा को आलिंगन किये हुए हैं। वज्रसत्त्व से उत्पन्न चुण्डा एक देवी हैं, जिनके चार हाथ हैं। एक दाहिना हाथ वरद-मुद्रा में है और बायें हाथ में कमल है, जिसपर पुस्तक (प्रज्ञापारमिता ?) अंकित है। अन्य दो हाथ गोद में कपाल पकड़े हुए हैं। किरीट पर वज्रसत्त्व विराजते हैं। ब्रिटिश संग्रहालय में सुरक्षित मूर्त्ति वज्रपर्यङ्क-मुद्रा में है। इनका दाहिना हाथ अभय-मुद्रा में न रहकर माला लिये हुए है। देवी के हाथ में चूड़ियाँ हैं और बाँह पर बाजूबन्द है। इनके सिर पर छत्र है, और ऊपर दोनों ओर अमिताभ बुद्ध हैं।[2]

---

१. *Buddhist Iconography*; *pp. XXXVI, fig. b.*
२. *Ibid, plate XXXVII b.*

पंचरक्षा-मंडलवाली देवियाँ ये हैं—महाप्रतिसिरा, महासाहस्रप्रमर्दनी, महामन्त्रानुसारिणी, महामायूरी और महासितवती। 'साधनमाला' के अनुसार इन पाँच देवियों की पूजा करने से सभी प्रकार के संकटों का नाश होता है और आयु लम्बी होती है। महासाहस्रप्रमर्दनी को छोड़कर सभी देवियाँ अत्यन्त शान्त आकृति की हैं। किस पेड़ की छाँह में कौन देवी विश्राम करती है, यही इनकी विशेष पहचान के लक्षण हैं। **महासाहस्रप्रमर्दनी** की आकृति भयंकर है, नर-कपाल और हड्डियाँ इनके आभूषण हैं और तीनों आँखें क्रोध से चंचल हैं। इनके मध्य में **महाप्रतिसिरा** हैं, जो षोडशी के रूप में हैं। किरीट पर चैत्य और चन्द्राकार सिंहासन हैं, जो सूर्य्यमण्डल के भीतर प्रतिष्ठित हैं। देवी के चार सिर हैं और प्रत्येक में तीन आँखें हैं। देवी के आठ हाथ हैं, चारों बायें हाथों में क्रमशः वज्रपाश, त्रिशूल, धनुष और परशु है और चारों दाहिने हाथों में कृपाण, वज्र, चक्र और तीर है। मूर्त्ति के गले में चन्द्रहार, कानों में कुण्डल और पैरों में नूपुर हैं; बाजू में बाजूबन्द और कमर में मेखला है। देवी के ऊपर बोधिवृक्ष की डाल फल-फूलों से झुकी है। महाप्रतिसिरा के पूर्व महासाहस्रप्रमर्दनी हैं, जिनकी आकृति भयंकर है। उनके शरीर से अग्नि-ज्वाला निकल रही है और भौंहें जुटी हैं। तप्त सूर्य उनका आसन है, जिसपर देवी ललितासन में बैठी हैं। वह भूतों और यक्षों को कुचले हुई हैं। शरीर पर आभूषण हैं। देवी के चार मुख हैं और आठ हाथ। पहला दाहिना हाथ वरद-मुद्रा में है और अन्य तीन हाथों में वज्र, अंकुश और कृपाण हैं। चार बायें हाथों में तर्जनीपाश, परशु, धनुष और सोलह रत्नवाला कमल है। उनके सिर पर भी बोधिवृक्ष की डाल है। महाप्रतिसिरा की दाहिनी ओर **'महामायूरी'** हैं, जो एक पशु पर आरूढ हैं। इनके तीन मुख और आठ हाथ हैं। किरीट पर रत्न है और शरीर पर अनेक आभूषण हैं। पहला दाहिना हाथ वरद-मुद्रा में है और अन्य हाथों में रत्नघट, चक्र और कृपाण हैं। बायें चार हाथों में कपाल-स्थित फल, मोरपंख, घंटा, जिसपर विश्ववज्र है और रत्नमंडित पताका हैं। उनके सिर पर अशोक वृक्ष की डाल है। महाप्रतिसिरा के पश्चिम **महामन्त्रानुसारिणी** हैं, जिनके तीन मुँह और बारह हाथ हैं। यह पूर्ण युवती हैं और आभूषणों से विभूषित हैं। प्रथम दो हाथ धर्मचक्र-मुद्रा में हैं और दूसरा जोड़ा समाधि-मुद्रा में है। अन्य दाहिने हाथ वरद और अभय-मुद्रा में दिखाये गये हैं। अन्य हाथों में वज्र और तीर हैं। बायें हाथों में तर्जनी-पाश, धनुष, रत्न और घट पर कमल हैं। सिर पर शिरीष-वृक्ष की डाल है। महाप्रतिसिरा के उत्तर में **'महासितवती'** हैं, जिनके तीन आँखें, तीन मुख और छह हाथ हैं। किरीट पर अमिताभ की मूर्त्ति है। पहला दाहिना हाथ अभय-मुद्रा में, दूसरे हाथ में वज्र और तीसरे में तीर है। पहला बायाँ हाथ तर्जनी-पाश-मुद्रा में, दूसरे में धनुष और तीसरे में रत्नजटित पताका है। उनके ऊपर चम्पक-वृक्ष की डाल है। 'महासाहस्रप्रमर्दनी' ललितासन में और अन्य चार देवियाँ अर्धपर्यङ्क-आसन में हैं। पाँचों के सिर के ऊपर के किरीट पर तारों से युक्त चन्द्रमा है।

तारा के अनेक रूप हैं। कुछ के किरीट पर 'अमोघसिद्धि' हैं और कुछ के सिर ध्यानी-बुद्धों से रहित हैं। इसलिए, इन सातों प्रकार की तारा देवियों की पहचान के लिए

उनके आसन और उनके साथ की परिचारक मूर्त्तियों पर ध्यान देना चाहिए। खदिरवनी, वश्यतारा और आर्यतारा का उल्लेख उनके विशिष्ट लक्षणों के साथ हो चुका है। इन सबका रंग हरा है। **महत्तरी तारा** अकेले और वज्रपर्यंक-आसन से पहचानी जा सकती हैं। **वरदतारा** अर्धपर्यंक-आसन पर बैठी हैं। इनके साथ चार देवियाँ हैं—अशोककान्ता मारीची, महामयूरी, एकजटा और जाङ्गुली। **श्वेततारा, अष्टमहाभयतारा** के रूप में अष्टभुजी हैं और अर्धपर्यङ्क-आसन में हैं, यह दस देवियों से घिरी हैं। **मृत्युवञ्चनतारा** की पहचान है कि इनके सीने पर चक्र है और एकदम अकेली वज्रपर्यङ्क-आसन में हैं। इन सब रूपों में तारा के एक हाथ में उत्पल है और एक हाथ वरद-मुद्रा में है। इनके अलावा असाधारण श्वेततारा के पाँच रूप हैं—चतुर्भुज सिततारा, षड्भुज सिततारा, विश्वमाता, कुरुकुल्ला और जाङ्गुली। **पीत और नील तारा** के भी अनेक रूप हैं। पीततारा के भेदों में, पर्णशबरी, भृकुटी और प्रसन्नतारा हैं। **प्रसन्नतारा** की आकृति अत्यन्त आनन्दवर्द्धिनी और मनोमोहक है। इनके आठ मुख हैं। एक मुख ऊपर है। इनके सोलह हाथ हैं और देवी प्रत्यालीढ-आसन में खड़ी हैं। इनके भूरे बाल उखड़े हैं और पचासों रुण्डों से इनके कंगन बने हैं। यह पूर्ण युवती हैं; और रंग-विरंगे कपड़े पहने हुई हैं। हाथों में खट्वाङ्ग, उत्पल, तीर, धनुष, वज्र, अंकुश, दण्ड, कर्त्तरी, अभय-मुद्रा, तर्जनी-पाश, कपाल, पाश, ब्रह्मा का सिर और रत्नघट हैं। दोहरे कमलासन पर चन्द्रमा है और उसपर यह खड़ी हैं। यह इन्द्र और उपेन्द्र को दाहिने पैरों से कुचले हुई हैं और रुद्र तथा ब्रह्मा को पैरों के बीच दबाये हुई हैं।

इनके अलावा कुछ स्वतन्त्र देवी-देवता हैं, जिनके किरीट पर किसी ध्यानी बुद्ध की मूर्त्ति नहीं है। इनमें 'गणेश' एक हैं। गणेश के बारह हाथ हैं और ये अर्धपर्यंक-आसन में नृत्यरत हैं। इनका वाहन चूहा है। शरीर पर विभिन्न भूषण हैं। देवता के तीन आँखें और एक सूँड है। इनके दाहिने हाथ में कुठार, तीर, अंकुश, वज्र, कृपाण और शूल हैं, और बायें में मूसल, धनुष, खट्वांग, खून से भरा कपाल, सूखे मांस से भरा कपाल और फट्का हैं। सभी मूर्त्तियों में सूँड़ टूटी है। **'विघ्नान्तक'** एक दूसरे देवता हैं, जिनके भी कई भेद हैं। विघ्नान्तक से हिन्दू-देवता गणेश का ही बोध होता है। विघ्नान्तक प्रत्यालीढ-आसन में हैं। इनके एक मुख और दो हाथ हैं, बायें में तर्जनी-पाश और दाहिने में वज्र है। देवता की आकृति भयंकर है, भूरे बाल खड़े हैं और कमल पर आधारित सूर्य इनका आसन है। यद्यपि 'साधनमाला' में कुचले हुए गणेश का उल्लेख नहीं है; पर मूर्त्तियों में गणेश पैर के नीचे कुचले हुए दिखाये गये हैं या विघ्नान्तक उन पर आरूढ हैं। किन्तु, कुचले जाने पर भी गणेश अभय-मुद्रा प्रदर्शित कर रहे हैं। यह गणेश का देवत्व-गुण ही है।

वज्रहुंकार—इनकी आकृति भयंकर है। देवता घण्टा और वज्र लिये वज्रहुंकार-मुद्रा में और प्रत्यालीढ-आसन में है। भैरव को ये कुचल रहे हैं। मूर्त्ति में अत्यन्त क्रोध की भावना स्पष्ट है।

भूतडामर—ये भी भयंकर आकृति के देव हैं। इनके चार हाथ हैं। शरीर से अग्नि-ज्वाला फूट रही है। सर्प इनके आभूषण हैं। दाँत मांसभक्षक हैं। गले में रुण्डमाला है। दाहिने हाथ में वज्र है और एक धमकाने की मुद्रा में तर्जनी दिखा रहा है। देवता प्रत्यालीढ-आसन में हैं। 'अपराजिता' पैर के नीचे कुचली गई है। देवता के अन्य दो हाथ डामर-मुद्रा में हैं।

वज्रज्वालानलार्क—इनके चार मुख और आठ हाथ हैं। देवता आलीढ-आसन में विष्णु और लक्ष्मी को पैर से दबाये हुए हैं। चारों दाहिने हाथों में वज्र, कृपाण, चक्र और तीर हैं। बायें चारों हाथों में घण्टा, धनुष, पाश और रत्नजटित पताका से सज्जित खट्वांग हैं।

त्रैलोक्यविजय—इनके चार मुख और आठ हाथ हैं। देवता प्रत्यालीढ-आसन में हैं और शिव तथा गौरी को पैरों से दबाये हुए हैं। पहले मुख से अतिक्रुद्ध भावना, दाहिने मुख से रोष, बायें से घृणा या अरुचि और पीछेवाले मुख से वीरता अभिव्यक्त होती है। वज्र और घण्टा लिये सीने से सटे दोनों हाथ वज्रहुंकार-मुद्रा में जुड़े हैं। अन्य तीन दाहिने हाथों में खट्वांग, अंकुश और तीर हैं। बायें हाथों में धनुष, पाश और वज्र हैं। प्रत्यालीढ-आसन में खड़े देवता के बायें पैर महेश्वर के सिर पर स्थिर हैं और दायाँ पैर गौरी के सीने को दबा रहा है। इनकी एक मूर्त्ति नालन्दा में और एक बोधगया में मिली है। बोधगया की मूर्त्ति में पड़े हुए शिव और पार्वती 'यब-युम्', अर्थात् आलिंगनबद्ध हैं।[१]

नामसंगीति—यह देवता वज्रपर्यंक-आसन में रहते हैं। इनके बारह हाथ हैं, जिनमें दो सीने के सामने अभय-मुद्रा में और दो अञ्जलि-मुद्रा में हैं। तीसरे दाहिने हाथ में दोहरे कमल पर कृपाण है और चौथा जोड़ा तर्पण-मुद्रा में है, पाँचवा जोड़ा गुलाबपाश-जैसे बर्तन से अमृत छिड़क रहा है और छठा जोड़ा समाधि-मुद्रा में है, जिसपर अमृत-घट रखा है। तीसरा बायाँ हाथ वज्र से सुशोभित खट्वाङ्ग लिये है। देवता कमलासन पर ध्यानावस्थित हैं।

सरस्वती—इनकी पूजा भी बौद्धों में प्रचलित थी। सरस्वती हिन्दुओं की देवी थी, जिसे बौद्धों ने अपनाया और इन्हें ज्ञान और विद्या की देवी माना। सरस्वती के अनेक रूप माने गये हैं। इन्हें कभी दो हाथ और कभी तीन मुख और छह हाथ दिये गये हैं। **महासरस्वती** का एक हाथ वरद-मुद्रा में और दूसरे हाथ में कमल रहता है। देवी अत्यन्त करुणामयी और सुन्दर हैं। यह वयःसन्धि की अवस्था में दिखाई गई है। इनके स्तन अर्धविकसित हैं। सरस्वती के साथ चार देवियाँ—प्रज्ञा, मेधा, स्मृति और मति—सरस्वती की ही आकृति में हैं। गुणवाचक संज्ञाओं को यहाँ मूर्त्त रूप दिया गया है। **'वज्रवीणा सरस्वती'** का विशिष्ट चिह्न यह है कि देवी अपने दोनों हाथों में वीणा लिये हुई हैं, जिसके तारों को वह झंकृत कर रही हैं। **'वज्रशारदा'** की तीन आँखें हैं और बायें हाथ में पुस्तक और दाहिने में कमल है। वह भी चार साथियों के साथ दिखाई गई हैं। नालन्दा में मिली वज्रशारदा की मूर्त्ति में देवी भद्रासन में हैं, अर्थात् दोनों पैर

१. *Buddhist Iconography; plate XXXIXC. (Nalanda ?)*

नीचे जमीन पर एक दूसरे पर चढ़ा हुआ है। **आर्यसरस्वती** षोडशी युवती के रूप में चित्रित हैं और इनके बायें हाथ में कमलनाल है, जिस पर प्रज्ञापारमिता अंकित है। **वज्रसरस्वती** को तीन मुख और छह हाथ हैं। देवी प्रत्यालीढ-आसन में लालकमल पर खड़ी हैं। सिर के बाल खड़े हैं। तीनों दाहिने हाथों में प्रज्ञापारमिता (ग्रन्थ)-युक्त कमल, कृपाण और कर्त्तरी हैं तथा तीनों बायें हाथों में ब्रह्मा का कपाल, रत्न और चक्र हैं। किन्तु, कहीं प्रज्ञापारमिता और ब्रह्मा को छोड़कर सिर्फ कमल और कपाल चित्रित किये गये हैं।

अपराजिता—एक अत्यन्त विलक्षण बौद्ध देवी हैं। यह गणेश को कुचलते हुए तर्जनी-पाश या 'चपेटिका-दान'-मुद्रा में दिखाई गई हैं। 'साधना' के अनुसार इनका एक हाथ चपत मारने की मुद्रा में उठा रहता है। देवी के सिर पर छत्र से छाया करते हिन्दू-देवता उत्कीर्ण हैं। यह कई रत्नों से विभूषित हैं और इनकी आकृति भयंकर है। नालन्दा में अपराजिता की एक टूटी मूर्त्ति मिली है, जिसमें गणेश कुचले हुए दिखाये गये है। देवी का बायाँ पैर गणेश की बाईं जाँघ और कमर पर पड़ा है। फिर भी लुढ़कते हुए गणेश अपना दाहिना हाथ उठाये 'अभयदान' दे रहे हैं। देवी की दाहिनी ओर एक और मूर्त्ति है, जो शायद इन्द्र की है। ये देवी के सिर पर छत्र से छाया कर रहे हैं, छत्र का डण्डा उनके हाथ में दिखाई पड़ता है।[1] भारतीय संग्रहालय (कलकत्ता) में एक सम्पूर्ण मूर्त्ति है, जिसमें देवी की चपेटन-मुद्रा और तर्जनी-पाश स्पष्ट हैं। इन्द्र छत्र लिये हुए हैं। गणेश पूर्णरूपेण पट पड़े हैं। देवी पूर्ण युवती हैं और शरीर पर विविध आभूषण हैं।[2]

वज्रगान्धारी—ये भयंकर आकृति की देवी हैं। इनके छह मुख और बारह हाथ हैं। यह प्रत्यालीढ-आसन में रहती हैं। छह दाहिने हाथों में वज्र, वज्रघण्टा, कृपाण, त्रिशूल, चक्र और तीर हैं तथा बायें पाँच हाथों में खट्वाङ्ग, अंकुश, धनुष, परशु और पाश हैं तथा एक हाथ सीने के सामने तर्जनी-मुद्रा में है।

वज्रयोगिनी—इसके दो रूप हैं। एक में, गले के ऊपर सिर न होकर देवी के हाथ में सिर है। इस रूप में वह हिन्दू-देवी **छिन्नमस्ता** के समान है, जो दशमहाविद्याओं में एक है। वज्रयोगिनी के साथ **वज्रवैरोचनी** और **वज्रवर्णनी** योगिनियाँ बराबर रहती हैं। दूसरे रूप में भी वज्रयोगिनी अत्यन्त भयंकर है। प्रत्यालीढ-आसन में देवी नंगी है, और शव पर खड़ी हैं, बायें हाथ में कपाल और दाहिने में वज्र लिये हुई हैं। आलीढ-आसन ही इन्हें नैरात्मा या वज्रवाराही से अलग करता है। वज्रवाराही और नैरात्मा अर्धपर्यंक-आसन में नृत्यरत रहती हैं।

ग्रहमातृका—इनके तीन मुख और छह हाथ हैं। देवी वज्रपर्यंक-आसन में धर्मचक्र-मुद्रा में दिखाई देती हैं। अन्य दाहिने हाथों में वज्र और तीर हैं तथा बायें हाथों में धनुष और कमल हैं।

---

१. *Buddhist Iconography; pl. XLI d.*

२. वही, *pl.* X *VLII.*

गणपतिहृदया—यह नृत्यरत हैं और इनके दोनों हाथ अभय और वरद-मुद्रा में हैं। यह देवी शायद गणपति की शक्ति हैं।

वज्रविदारिणी--इनके पाँच मुख और दस हाथ हैं। दाहिने हाथों में अंकुश, कृपाण, तीर, वज्र और वरद-मुद्रा, तथा बायें हाथों में पाश, जिरह-बख्तर, धनुष, ध्वज और अभय-मुद्रा हैं। यह प्रत्यालीढ-आसन में रहती हैं।

इस प्रकार, वज्रयान में अनेक देवी-देवताओं की कल्पना हुई है। सभी 'शून्य' की ही अभिव्यक्ति थे। विभिन्न रसों की अभिव्यक्ति करने या विभिन्न कार्यों का सम्पादन करने में इस 'शून्य' को अनेक रूप, आकृति तथा आसन में प्रत्यक्ष होना पड़ता था। बद्ध या 'यब-युम्' मूर्त्तियों में भी इसी 'शून्य' की भावना अभिव्यक्त हुई है।

परिशिष्ट—३

हिन्दू-मूर्त्ति-विज्ञान

हिन्दू-धर्म में भी सहस्रों देवी-देवताओं और उनके विविध रूपों की पूजा होती है। इन सभी मूर्त्तियों में परमात्मा के ही विशिष्ट गुणों की अभिव्यक्ति मानी गई है।

हिन्दू-मूर्त्तियों में त्रिमूर्त्ति प्रधान है। इस मूर्त्ति में ब्रह्मा, विष्णु और शिव के मुख चित्रित हैं। बम्बई के समीप एलिफैण्टा की त्रिमूर्त्ति जगत्प्रसिद्ध है। इस मूर्त्ति में परब्रह्म की सर्जन, पालन और विसर्जन-शक्तियों को ही ब्रह्मा, विष्णु और शिव के रूप में अभिव्यक्त किया गया है। हाल ही में डॉ॰ जितेन्द्रनाथ बनर्जी (कलकत्ता-विश्वविद्यालय) ने एक लेख में (Arts Asiatiques, Tome 2' Fascicule pp. 120 ff, 1955) यह दिखाने की चेष्टा की है कि एलिफैण्टा गुफा की त्रिमूर्त्ति में मध्यस्थित शिव हैं, बाईं ओर उमा हैं, और दाहिनी ओर शिव का रौद्ररूप हैं; जिसे 'भैरव' कहा जा सकता है। इस प्रकार, हम त्रिमूर्त्ति में जहाँ ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और संन्यास-आश्रमों की कल्पना देखते हैं, वहीं इनमें सात्त्विक, राजस और तामस गुणों को भी प्रतिबिम्बित पाते हैं।

विष्णु की पूजा अत्यन्त प्राचीन काल से आ रही है। वेद में भी विष्णु का उल्लेख है। पहले विष्णु सूर्य के ही एक रूप माने गये थे। पीछे चलकर ये अत्यन्त ही प्रमुख देवता माने जाने लगे। पाणिनि ने भागवत धर्म और वासुदेव की मूर्त्ति का भी उल्लेख किया है। प्राचीन पिटुए सिक्कों (Punch-marked coins) पर हम विष्णु के विशिष्ट लक्षण पाते हैं, जिनसे विष्णु का ही अभिप्राय सिद्ध होता है। गरुड़ और मकर-चिह्नों से वैष्णव धर्म का ही संकेत मिलता है। वृष्णि-राजाओं के सिक्कों पर चक्र, विष्णु के सुदर्शन-चक्र का ही प्रतीक है। बसाढ़ की एक मिट्टी की मुहर पर मध्य में त्रिशूल है और दाहिनी ओर एक दण्ड, शंख और चक्र हैं। बाईं ओर चन्द्र और पहिये-सा एक चिह्न है। उसपर उत्कीर्ण अभिलेख है—'श्री विष्णु पादस्वामी न (?) रायण।' यदि यह विष्णुपद (गया) की मुहर है, तो विष्णुपद-मन्दिर तब भी (गुप्तकाल में भी) स्थित था। किन्तु, मध्य में त्रिशूल का रहना गड़बड़ पैदा कर देता है। बहुत सम्भव है कि यह शैव और वैष्णव धर्म के सौहार्दपूर्ण बर्ताव का प्रतीक हो। शिव विष्णु की, और विष्णु शिव की प्रशंसा पुराणों और महाकाव्यों में करते हैं। यहाँ यह भी सम्भव है कि त्रिशूल-सा चिह्न नाग हो। नाग से ही विष्णु को एक कौस्तुभमणि मिली थी, जो विष्णु का विशिष्ट लक्षण है। कुमारस्वामी इसे 'श्रीवत्स' का चिह्न मानते हैं। हाथ में दण्ड लिये शिव और विष्णु भी

कुषाण-सिक्कों पर दिखाये गये हैं। यही पीछे चलकर गदा में परिणत हो गया है। बसाढ़ से भी दो मुहरें मिली हैं, जिनपर वेदी के ऊपर चक्र है तथा दोनों ओर शंख रखे हैं। अभिलेख में अनन्त और अम्बा की विजय का उल्लेख है। अतः अनन्त के रूप में भी विष्णु की कल्पना तभी हो चुकी थी। अम्बा से लक्ष्मी का अभिप्राय था। चन्द्रगुप्त प्रथम के सिक्कों पर सिंहवाहिनी अम्बा लक्ष्मी ही हैं, न कि दुर्गा। भगवद्गीता में भी विष्णु के 'अनन्त' रूप का उल्लेख हुआ है। एक दूसरी मुहर पर श्रीवत्स वेदी पर पड़ा है (ब्लॉक इसे ढाल मान बैठे थे) और दोनों ओर शंख हैं। 'नन्देश्वरी के स्वामी अनन्त की जय हो'—इसी अभिप्राय का लेख इस मुद्रा पर उत्कीर्ण है। अतः नन्देश्वरी भी दुर्गा नहीं, वरन् विष्णु की प्रिया मानी गई थी।[१]

अनन्तशायी नारायण—इसमें विष्णु पर्यङ्क-आसन में सात फणोंवाले शेषनाग पर लेटे हैं। उनके सामने लक्ष्मी बैठी हैं, जिनकी गोद में विष्णु का एक पैर रखा है। नारायण की नाभि से कमलनाल निकला है, जिसपर ब्रह्मा बैठे हैं। विष्णु का एक हाथ उनकी जाँघ पर है और दूसरा सिर को सहारा दे रहा है। गदा, पद्म, शंख और चक्र वहीं पड़े हैं। अनन्तशायी नारायण की ऐसी मूर्त्तियाँ बोधगया के विष्णुपद-मन्दिर में पाई गई हैं।

विष्णु कभी चार मुखों से युक्त दिखाये गये हैं। इनमें एक मुख शान्तरस प्रकट करता है, दूसरा कपिल का प्रतिनिधित्व करता है, जिसमें सिर पर जटा है और मुख पर मूँछें हैं, तीसरा वराह का है तथा चौथा नरसिंह का है। हाथों में गदा, पद्म, चक्र और शंख हैं। ऐसी मूर्त्तियाँ अत्यन्त विरल हैं। एक मूर्त्ति बनारस में भी मिली थी।

विष्णु—इनकी एक सिर और दो या चार हाथोंवाली साधारण मूर्त्तियाँ हैं। दो हाथवाली मूर्त्तियों के एक हाथ में शंख रहता है और दूसरा हाथ शान्ति की मुद्रा में। चार हाथोंवाली मूर्त्तियों में शंख, चक्र, गदा और शान्ति की मुद्रा हैं। सिर पर किरीट और सीने पर श्रीवत्स का चिह्न विष्णु की विशिष्ट पहचान है। इन मूर्त्तियों में परिचारकों की मूर्त्तियाँ अनुपस्थित हैं और पद्म भी नहीं है। विष्णु की ऐसी दो हाथ-वाली मूर्त्तियाँ 'लोकपाल' विष्णु की कही जाती हैं।

वासुदेव—यह विष्णु का एक प्रधान रूप है। इसमें वासुदेव के चार हाथ हैं और ब्रह्मा प्रभृति देवता उनके साथ हैं। उपर के दाहिने हाथ में चक्र, नीचेवाले में कमल और ऊपर के बायें हाथ में शंख और नीचेवाले में गदा है।

"दक्षिणे तु करे चक्रमधस्तात् पद्ममेव च।
वामे शंखगदाधस्ताद्वासुदेवस्य लक्षणम् ॥"—अग्निपुराण, अध्याय ४४

वासुदेव के साथ कभी रुक्मिणी और सत्यभामा, श्री और पुष्टि, श्री और सरस्वती या इन्दिरा और वसुमती रहती हैं।[२] वासुदेव के सिर पर ऊँचा किरीट है और गले में

१. *A.S.I., A.R. 1930-4; pp. 110-11;*
Elements of Hindu Iconography; pp. 204-206.
२. *Indian Images; p. 10*

ठेहुने तक की वनमाला पड़ी है। वासुदेव के साथ बगल में ईश और ब्रह्मा, तथा पृथ्वी, गरुड और अन्य भक्त पैर के नीचे दिखाये जाते हैं।

संकर्षण—इनके हाथ में दण्ड और हल रहते हैं। यह बलदेव का रूप है। विष्णु के आठवें अवतार हलधर माने गये हैं। बलदेव को शेषनाग से आच्छादित और सिर पर शेषनाग को फणयुक्त दिखाया जाता है। प्रसिद्ध विद्वान् फूगेल के विचार में बलराम की मूर्त्ति नागराज-मूर्त्ति के आदर्श पर बनी है।

प्रद्युम्न—इनके हाथ में तीर और धनुष हैं। ये कामदेव के अवतार और कृष्ण के पुत्र माने गये हैं। इनकी मूर्त्ति सत्त्व गुण को अभिव्यक्त करती है।

अनिरुद्ध—इनके हाथों में तलवार और ढाल दिये गये हैं। राजस् गुण की अभिव्यक्ति इनकी मूर्त्ति में मानी जानी चाहिए।

विष्णु के **'त्रैलोक्यमोहन'** रूप में आठ हाथ होते हैं और लक्ष्मी और सरस्वती साथ होती हैं।

लक्ष्मी-नारायण—इनकी मूर्त्ति में नारायण की बाईं ओर लक्ष्मी हैं। लक्ष्मी का दाहिना हाथ विष्णु के गले में है और उनके बायें हाथ में कमल है। नारायण का बायाँ हाथ लक्ष्मी की कमर का आलिंगन कर रहा है। गरुड, शंखपुरुष, चक्रपुरुष, ब्रह्मा, शिव और चँवर डुलाती हुई परिचारिकाएँ हैं।

विष्णु के अनेक अवतार हुए हैं, जिनमें वामन, वराह, नृसिंह, कल्कि, परशुराम, बुद्ध, राम, मत्स्य, कूर्म और बलराम को कभी-कभी अलग और कभी विष्णु-मूर्त्ति की प्रभावलि में प्रदर्शित किया गया है। वामन-अवतार का ही एक रूप 'त्रिविक्रम' है। इनकी मूर्त्तियाँ मिली हैं। मत्स्यावतार-रूप में एक मछली और उसके पीछे कुछ मनुष्य दिखाये जाते हैं। कूर्म-अवतार में कच्छप की पीठ पर कुछ आदमी लाठी से महते हुए दिखाये गये हैं। यह मन्दार-पर्वत का संकेत है। वराहमूर्त्ति में सारा शरीर तो विष्णु-जैसा ही है; पर सिर वराह का है। एक कुमारी के रूप में पृथ्वी बाईं केहुनी पर बैठी है। वराह का दाहिना हाथ अपने कूल्हे पर है। एक पैर नागराज के सिर पर है और दूसरा कछुए पर। पटना-संग्रहालय की वराह-मूर्त्ति का उल्लेख किया जा चुका है। यह मार्के की बात है कि बसाढ़ की खुदाई से एक मुहर मिली है, जिसपर वराह बाईं ओर पलथी मारे बैठा है।[1] यह वराह-अवतार का ही संकेत है। एक और वराह की मूर्त्ति पूर्वी बिहार में मिली थी, जिसमें वराह अपने चक्र से हिरण्याक्ष की हत्या कर रहे हैं।[2] नृसिंह की मूर्त्ति में मानव-शरीर और सिंह के मुखवाले नरसिंह हिरण्यकशिपु का पेट अपने नाखूनों से चीरते दिखाये गये हैं। बसाढ़ की खुदाई से एक गुप्तकालीन मुहर मिली है, जिसपर नृसिंह ललितासन पर बैठे हैं।[3] नृसिंह की यह सबसे पुरानी मूर्त्ति है।

वामन—इनकी एक प्रकार की मूर्त्ति में वामन ठिंगने कद के और हाथ में दण्ड लिये दिखाये गये हैं और इनका पेट निकला हुआ है।

१. *A.S. I., A.R. 1913-14. Seal No. 54.*
२. *Indian Images; p. 14.*
३. *A.S.I. A.R. 1913-14, Seal No. 191.*

त्रिविक्रम—इस नाम के विष्णु के हाथ में दण्ड-पाश, शंख-चक्र और गदा हैं। त्रिविक्रम का एक पैर उठा हुआ ब्रह्मलोक पहुँच जाता है और दूसरा पृथ्वी पर है। इस भावना का आधार सूर्य ही हैं।

कल्कि—इस मूर्त्ति में कल्कि घोड़े पर चढ़े हैं और एक हाथ में तलवार उठाये हुए हैं।

ब्रह्मा—इनके चार मुख और चार हाथ हैं। वे कभी कमल और कभी हंस पर आरूढ दिखाये गये हैं। उनके हाथों में कमण्डल और दण्ड, स्रुव और स्रुक् हैं। घृतपात्र और वेद उनके पास रखे रहते हैं। यज्ञ और वेद के देवता ब्रह्मा थे। बाईं ओर सावित्री और दाहिनी ओर सरस्वती हैं। ब्रह्मा की तोंद और उनके हाथों में माला, स्रुव कमंडल और घृतपात्र का भी उल्लेख आया है। कल्याणसुन्दर-मूर्त्तियों में पुरोहित ब्रह्मा की दाढ़ी भी दिखाई पड़ती है।

शिव—ये अत्यन्त प्राचीन देवता हैं। मोहेंजोदड़ो की मुहर पर संभवतः शिव की ही प्रति-मूर्त्ति अंकित है। वैदिक युग में भी शिव की कल्पना की गई है; पर शिव की, पहले विशिष्ट संकेतों के माध्यम से ही, कल्पना हुई; जैसे, वृक्ष से, त्रिशूल से या परशु से। आहत पांचाल सिक्कों पर ऐसे लक्षण उत्कीर्ण हैं। त्रिशूल, चक्र, परशु (Trident battle-axe type) एक घेरे हुए औदुम्बर वृक्ष के सामने धारघोस के सिक्के पर मुद्रित है और ये शिव के ही विशिष्ट लक्षण हैं। उज्जयिनी के आहत सिक्कों पर शिव पहले-पहल मानव के रूप में अंकित हुए हैं। शिव के हाथ में दण्ड और घट है। एक इसी प्रकार की मुद्राओं पर वृष छलांग मारते हुए ऐसे ही देवता की ओर देख रहा है। यह देवता महेश्वर शिव हैं, ऐसा मानना चाहिए। उज्जयिनी-सिक्कों के एक प्रकार में शिव के तीन सिर दिखाये गये हैं। यह महाकाल शिव की मूर्त्ति है। कुनिन्दों के सिक्कों पर शिव अपने दाहिने हाथ में परशु-त्रिशूल लिये हुए हैं और दाहिने हाथ में व्याघ्र-चर्म लटक रहा है। गोण्डोफर्निस और वीमा कैडफिसिज के सिक्कों पर भी शिव की ऐसी मूर्त्तियाँ ही अंकित हैं। इसके पहले शक राजा मोएज (Maues) के ताम्र-सिक्कों पर भी बनर्जी साहब के विचार में शिव की ही मूर्त्ति मुद्रित है। सिक्कों पर शिव की मानवाकृति मूर्त्तियाँ पहले मिलती हैं और इनमें प्रथम मूर्त्तियों में शिव के दो ही हाथ दिये गये हैं। कैडफिसिज के सिक्कों पर जटाधारी शिव के दाहिने हाथ में परशुचक्र-युक्त त्रिशूल और बायें में जलपात्र (कमण्डल ?) है। पर कनिष्क और हुविष्क के सिक्कों पर शिव के दो और चार हाथोंवाली दोनों प्रकार की मूर्त्तियाँ मिली हैं। हुविष्क के कुछ सुवर्ण-सिक्कों पर शिव को तीन सिरों और चार हाथों से युक्त दिखाया गया है। उनके हाथ में धनुष भी है। धनुषधारी कुषाण-शिव (शरभ) के रूप को भी इस प्रकार मान्यता दी गई है। कुषाण-राजा वासुदेव के सिक्कों पर शिव एक और तीन सिरवाले रूपों में दिखाये गये हैं तथा उनका वाहन वृष (Bull) भी उपस्थित है।

शिव के अनेक रूप हैं और इसी कारण उनकी अनेक मूर्त्तियाँ भी मिलती हैं। शिव के शान्त और रौद्र दोनों भावों को अभिव्यक्त करनेवाली मूर्त्तियाँ मिली हैं। शिव, शम्भु और महादेव शान्तरस के, और भैरव, महाकाल इत्यादि रौद्ररस के रूप हैं। शम्भु के भाल पर चन्द्रमा और त्रिशूल हैं। हाथ में पिनाक, और डमरू हैं। उनकी तीन आँखें हैं, वृष उनका वाहन है, और नाग उनके आभूषण हैं। ध्यानावस्थित मुद्रा में शिव के चार या

आठ हाथ हैं। पर, नृत्यरत नटराज के वेष में उनके दस हाथ हैं और त्रिपुरारि के रूप में उनके सोलह हाथ हैं। नटराज शिव की मूर्त्ति बोधगया में मिली थी।

भैरव—इनकी आकृति भयंकर है। इनके बारह हाथ हैं। पेट निकला हुआ है। गले में रुण्डमाला और सर्प है। बाल बिखरे और रुखड़े हैं।

उमा-महेश्वर या हरगौरी–इनके अनेक भेद हैं। एक प्रकार की मूर्त्तियों में उमा शिव की बाईं जाँघ पर बैठी हैं और शिव उनका बायें हाथ से आलिंगन कर रहे हैं। शिव के दाहिने हाथ में त्रिशूल है और बायें हाथ की तलहथी उमा के सीने पर रखी है। शिव के बायें अंग का देवी स्पर्श कर रही हैं। कभी शिव-पार्वती खड़े और कभी बैठे दिखाये गये हैं। जिस मूर्त्ति में शिव-पार्वती बैठे हैं, उसमें नीचे वृष और सिंह बैठे हुए विश्राम कर रहे हैं। जब शिव-पार्वती खड़े हैं, तब शिव पार्वती की ठुड्डी बड़े प्रेम से छू रहे हैं। यदि स्वर्गीय जायसवाल साहब का विचार ठीक है, तो उमा-महेश्वर की प्रथम मूर्त्तियों में पटना में मिली सोने की पत्तर पर स्त्री और पुरुष की अगल-बगलवाली मूर्त्ति उमा-महेश्वर की मूर्त्ति है। यह जालान साहब के संग्रहालय में है और इसका समय मौर्य या शुंग-काल बताया गया है। कुषाण-राजा हुविष्क के एक विलक्षण सिक्के (Quarter stater) पर अंकित पुरुष और स्त्री की मूर्त्ति उमा-महेश्वर की ही मूर्त्ति है और भवेश (OESO) और उमा (NANA) अभिलिखित है। एक पर तो OMMO उमा स्पष्ट है।

अर्धनारीश्वर मूर्त्ति में शिव और पार्वती का शरीर एक है, आधा शरीर शिव का है और आधा पार्वती का। शिव की जटा पर चन्द्रमा और त्रिशूल हैं। दाहिने आधे भाग में पार्वती का सीमन्त (केशविन्यास), कान में विषधर सर्प, हाथ में आइना या एक कमल और एक पुष्ट स्तन हैं। अर्धनारीश्वर की मूर्त्तियाँ काफी संख्या में मिलती हैं। पर, इस भावना को प्रथम मूर्त्त रूप देने के प्रयासों में बसाढ़ (वैशाली) में मिली एक मुहर उल्लेखनीय है। इस सुन्दर मुहर में एक लम्बी नारी-मूर्त्ति सामने खड़ी है, जिसका उपरला भाग बाईं ओर झुका है। बायाँ हाथ कटि पर है और दाहिना वरद-मुद्रा में। सिर का शृंगार एक ऊँचा सींग सा मालूम पड़ता है। दाहिना स्तन अत्यन्त छोटा और बायाँ पूर्ण प्रस्फुटित है। मूर्त्ति के दाहिने हाथ में दण्ड-सी कोई चीज है। बनर्जी साहब इसे अर्धनारीश्वर की मूर्त्ति मानते हैं।[१]

हरिहर—इस मूर्त्ति में विष्णु के हरि-रूप और शिव के रूप को एक ही शरीर में मिला दिया गया है। मूर्त्ति के दाहिने भाग में शिव के लक्षण हैं, जैसे जटा, त्रिशूल, नाग इत्यादि। बायें भाग में किरीटयुक्त विष्णु चक्र और शंख लिये हुए हैं।

गणेश—इनके भी अनेक रूप हैं। यह विद्या और सिद्धियों के देवता और विघ्नों के नाशक माने जाते हैं। गणेश के मुख्य लक्षण हैं— बड़ा पेट, सूँड़, ठिंगना कद, हाथों में परशु या अंकुश और कमल। गणेश की अधिकतर मूर्त्तियाँ हाथों में लड्डू लिये हुई हैं।

---

१. *A.S.I., A.R. 1913-1914; No. 764, pl. L. p, 152; 'Elements of Hindu Iconography'. p. 198.* Agarwal., V. S. has drawn attention to a similar scene on a relief belonging to the Kushana-period.

गणेश के चार, आठ, दस और बारह हाथ तक दिखाये गये हैं। इसलिए और हाथों पर रखी चीजों के आधार पर गणेश के भिन्न-भिन्न रूपों के अलग-अलग नाम दिये गये हैं। विघ्नराज के चार हाथों में से तीन में क्रमशः पाश, अंकुश और चक्र हैं तथा चौथा अभय-मुद्रा में है। लक्ष्मी-गणपति के चार हाथों में से तीन में क्रमशः शंख, चक्र, और सूँड़ हैं और चौथा अभय-मुद्रा में है। लक्ष्मी उनकी बाईं जाँघ पर हैं और गणपति सूँड़ से सुवर्ण-भरा घट पकड़े हुए हैं। शक्तिगणेश के चार हाथों में अंकुश, पाश, सूँड़ और जमीरी नींबू हैं। क्षितिप्रसादन गणेश के चार हाथों में पाश, अंकुश, लता और सूँड़ हैं। वक्रतुण्ड गणेश के चार हाथों में से दो में पाश और अंकुश हैं और अन्य दो हाथ वरद-मुद्रा और अभय-मुद्रा में हैं। हेरम्ब के आठ हाथ हैं, जिनमें से सात में क्रमशः लड्डू, कुल्हाड़ी (टंगा), माला, मुद्गर, अंकुश, त्रिशूल और पाश हैं तथा आठवाँ अभय-मुद्रा में है। महागणपति के बारह हाथों में जमीरी नींबू, गदा, धनुष, त्रिशूल, चक्र, कमल, पाश, कुमुदिनी, चावल (का लड्डू), हाथी के दाँत, रत्नघट और कलश हैं।

स्कन्द और महासेन—इनकी मूर्त्ति में मोर और शक्ति (बरछी) का रहना जरूरी है। कभी इनके एक सिर और कभी छह सिर दिखाये गये हैं। देवता कुमार के वेश में वीरता की भावना को अभिव्यक्त करते हैं। कुछ कुमारी मूर्त्तियाँ बाईं ओर कमल लिये दिखाई देती हैं। मुर्गा भी साधारणतः उपस्थित रहता है। इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि यौधेय गणराज्य के सिक्कों पर छह सिरवाले कार्त्तिकेय, दाहिने हाथ में शक्ति लिये मिलते हैं। इन सिक्कों पर 'ब्रह्मण्यस्वामिनो' उत्कीर्ण है। ब्रह्मण्य के नाम से ही दक्षिण-भारत में कार्त्तिकेय की पूजा होती है। हुविष्क के सिक्कों पर स्कन्द, महासेन और विशाख—जो कार्त्तिकेय के विभिन्न रूप हैं—उत्कीर्ण हैं। स्कन्दकुमार विशाख और महासेन संघाति की तरह के वस्त्र से सज्जित आमने-सामने खड़े हैं। स्कन्द के हाथ में एक ध्वज है, जिसपर एक चिड़िया (शायद मुर्गा या मोर) की मूर्त्ति है और विशाख तथा महासेन के हाथों में शक्ति है तथा कमर में तलवार है। विशाख और स्कन्द देवताओं की मूर्त्तियों का उल्लेख पतञ्जलि ने भी किया है।

अग्नि—इनकी मूर्त्तियाँ बहुत कम मिली हैं। अग्नि के दो या चार हाथ दिये गये हैं। इनके हाथों में माला, कमंडल और कभी शक्ति या बरछी दी गई है। बकरी इनका वाहन है। देवता की लम्बी दाढ़ी इनकी विशेषता है और मुख के चारों ओर ज्वाला का प्रभा-मंडल है। हेमाद्रि के अनुसार अग्नि के एक दाहिने हाथ में ज्वाला और दूसरे में त्रिशूल है तथा एक बायें हाथ में माला है। इनकी बाईं जाँघ पर उसकी धर्मपत्नी स्वाहा रत्नों से भरा घट लिये हुई हैं। पांचाल अग्निमित्र के सिक्कों पर अग्नि की मूर्त्ति उत्कीर्ण है। अग्नि खड़े हैं और इनके सामने दो स्तम्भों के बीच एक ऊँचा चबूतरा है। शायद यह यज्ञशाला है। देवता के बाल पाँच ज्वालामयी लपटों से दिखाये गये हैं।

वरुण—इनकी मूर्त्तियाँ उत्तर-भारत में अत्यन्त विरल हैं। वरुण की पहचान है—पाश। इनका वाहन मृग, हंस या मगर बताया गया है।

कुबेर—ये धन के देवता हैं। बड़ा पेट, रुपये की थैली और हाथ में गदा है। मेढ़ या मनुष्य वाहन के रूप में दिखाये गये हैं, इनके ये विशिष्ट लक्षण हैं और सिर पर मुकुट भी रहता है। विष्णुधर्मोत्तर के अनुसार इनकी बाईं जाँघ पर उनकी सहगामिनी वृद्धि देवी उपस्थित रहती हैं।

कामदेव—इनकी भी मूर्त्तियाँ मिली हैं। कामदेव के कभी दो और कभी आठ हाथ दिये गये हैं। दोनों हाथों में पुष्प के धनुष और बाण हैं—'दक्षिणे पुष्पबाणश्च वामे पुष्पमयं धनुः' (मत्स्यपुराण)। जब कामदेव के आठ हाथों की कल्पना की गई है, तब चार हाथों में शंख, कमल, धनुष और बाण दिखाये गये हैं और अन्य चार हाथों को वे अपनी स्त्रियों पर रखे हुए हैं। इनकी स्त्रियों के नाम हैं प्रीति और रति। इनका वाहन मकर है। ऐसी एक मूर्त्ति बिहारशरीफ में मिली थी, जो आजकल भारतीय संग्रहालय (कलकत्ता) में है[1]।

सूर्य—इनकी पुजा अत्यन्त प्राचीन काल से आ रही है। पहले सूर्य की किरणें और गोलाकृतिवाले प्राकृतिक रूप (जिसे भक्त देखते थे) की ही कल्पना की गई। वैदिककाल में सूर्य और मित्र के प्राकृतिक आधार स्पष्ट होने के कारण इनकी मनुष्याकृति की कल्पना थोड़ी दूर तक ही की जा सकी। पांचालमित्र (Punch-marked) के सिक्कों पर सूर्य और उनकी किरणों को एक गोल मंडल से बाहर निकलते दिखाया गया है। कमल और चक्र भी सूर्य के ही द्योतक थे। ऐरन् (Eran) के, तृतीय सदी ई० पू० के, कुछ सिक्कों पर अष्टपटल कमल है, जिससे सूर्य का ही अभिप्राय था। इन सबसे बहुत पहले मोहेंजोदड़ों में मिली एक मुहर के मध्य में चक्र अंकित है, जिसके चारों ओर भिन्न-भिन्न अमानवीय पशुओं के सिर थे। शायद इसका अभिप्राय सूर्य की पूजा था और उसकी किरणों से ही अन्य सम्प्रदायों को प्रकाश मिलता था। बसाढ़ (वैशाली) में एक मुहर मिली है, जिसमें अग्निवेदी पर चक्र रखा है। यह सूर्य और अग्नि-पूजा के पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध का साक्षी है। यह मैजी ईरानियों का प्रभाव माना जा सकता है। पर सूर्य की मानवाकार मूर्त्तियाँ भी बहुत पहले से बनने लगी थीं। बोधगया की रेलिंग पर उत्कीर्ण सूर्य की मूर्त्ति का उल्लेख किया जा चुका है। भिटा और कुम्हरार में मिट्टी के चौखटे पर भी ऐसी ही मूर्त्ति (रथारूढ सूर्य की) बनी थी। पहली सदी के कुछ पहले से ही सूर्य की एक अन्य प्रकार की प्रतिमा का प्रचार बढ़ने लगा था। यह मैजी ईरानी प्रभाव था, जो कुषाण-काल में उत्तर भारतीय सूर्य-मूर्त्ति-विज्ञान पर छा गया। सूर्य की मूर्त्तियाँ साधारणतः दो प्रकार की हैं—एक में सूर्य खड़े हैं, और दूसरी में रथासीन हैं। खड़े सूर्य के दोनों हाथों में कमल रहता है। किरीट ऊँचा और अलंकृत है। बाईं ओर कमर से तलवार लटक रही है। एक ओर पिंगल दावात-कलम लिये और दूसरी ओर दण्डी एक दण्ड लिये खड़े हैं। सूर्य पैरों में लम्बा और ऊँचा बूट पहने हुए हैं—यह इरानी और शक-लक्षण है। वे शरीरत्राण भी पहने हुए हैं। नीचे आसन पर सात घोड़ों का चित्र उत्कीर्ण है। रथासीन मूर्त्ति में सूर्य सात घोड़ों से जुते

१, *Indian Museum—Cabinet 15; Fig. no. 3812*

और एक पहियावाले रथ पर आरूढ हैं। पंगु 'अरुण' सामने बैठा है। सूर्य के दोनों ओर स्त्री और पुरुष हैं। स्त्रियाँ उषा और प्रत्युषा हैं या छाया तथा प्रभा। सूर्य के दोनों हाथों में कमल हैं, जो कंधे के ऊपर तक उठे हुए हैं। सूर्य का शरीर जिरह-बख्तर से सुरक्षित है। उनके पैर दृष्टि से ओझल रहना चाहिए, इसलिए, कलाकार कभी-कभी सूर्य के पैर बनाते ही नहीं और अगर बनाते भी हैं तो उन्हें ऊँचे और भारी बूटों से ढक देते हैं। बिहार की दो सूर्य-मूर्त्तियाँ भारतीय संग्रहालय (कलकत्ता) में हैं, जिनमें सूर्य के पैर गढ़े ही नहीं गये हैं। बिहार में अनेक सूर्य की मूर्त्तियाँ मिली हैं; जैसे—नालन्दा, आरा, बोधगया, बराबर, पटना, कुर्किहार, मुँगेर इत्यादि।[१] नालन्दा और कुर्किहार में तो अष्टधातु की भी सूर्य-मूर्त्तियाँ मिली हैं। जयमंगलागढ़ (बेगूसराय) और 'जायसवाल आर्क्योलोजिकल एण्ड हिस्टोरिकल सोसाइटी संग्रहालय' (गणेशदत्त-कालेज, बेगूसराय) में सूर्य की आकर्षक और विलक्षण मूर्त्ति सुरक्षित है।

रेवन्त—ये सूर्य के पुत्र माने जाते हैं, जो अश्व पर सवार हैं। भारतीय संग्रहालय (कलकत्ता) में इनकी चार मूर्त्तियाँ हैं।[२] कल्कि की मूर्त्ति से इनकी मूर्त्ति बहुत मिलती-जुलती है। परन्तु, रेवन्त की मूर्त्तियों में कुत्ते, गायक इत्यादि के चित्र रहते हैं।

आठ दिग्पाल—इनमें इन्द्र के हाथ में वज्र है। ये ऐरावत हाथी पर आरूढ हैं। वायु मृग पर आरूढ हैं और एक ध्वजा लिये हुए हैं। नैऋत गदहे पर तलवार लिये हुए हैं। यम के हाथ में लाठी है और वे भैंसे पर सवार हैं।

नवग्रहों को भी साधारणतः चित्रित किया गया है सूर्य का वर्णन हो चुका है। 'चन्द्र' के दो या चार हाथ दिये गये हैं। कमल की कली, गदा और वरद-मुद्रा उनके विशिष्ट चिह्न हैं। वे जुते हुए दस घोड़ोंवाले और दो सारथियों से हाँके जानेवाले रथ पर आरूढ हैं। कान्ति और शोभा उनके दोनों बगल में हैं। 'मंगल' के चार हाथों में से तीन में शक्ति, गदा और भाला हैं तथा एक हाथ अभय-मुद्रा में है। इनका वाहन भेंड़ है। 'बुध' तो विष्णु के समान हैं। 'बृहस्पति' के दोनों हाथों में क्रमशः पुस्तक और माला है। 'शुक्र' के हाथों में खजाना और पुस्तक हैं। वे आठ घोड़ों से जुते रथ पर आसीन रहते हैं। 'शनि' के दोनों हाथों में दण्ड और माला हैं तथा वे भी रथासीन हैं। 'राहु' के दोनों हाथों में क्रमशः कम्बल और पुस्तक हैं तथा वे भी रथासीन हैं। 'केतु' का रूप तो मंगल-जैसा ही है। अनेक पत्थरों के टुकड़ों पर नवग्रह उत्कीर्ण मिले हैं। चन्द्र और सूर्य को छोड़कर शायद ही अन्य ग्रहों की स्वतन्त्र प्रतिमा मिली हो।

मातृदेवियाँ—मातृदेवियों की पूजा भारत में बहुत पहले से आ रही है। 'मोहेञ्जोदड़ो' और 'हरप्पा' में अनेक अद्भुत स्त्री-मूर्त्तियाँ मिली हैं, जिनका अभिप्राय

१. *Journal of Bihar Research Society, II. p. 343.* इसमें तलवार बाईं ओर लटक रही है। यह कलाकार की भ्रान्ति हो सकती है। *Ghose: 'Guide to Nalanda'; p. 20, J. A. S. B. Vol. XVI, p. 404, Patna Museum Nos. 9763, 12, 35, 6015.*

२. भारतीय संग्रहालय, *Cabinet 15; Nos. 3621, 3777, 3775, 3776.*

निश्चय ही धार्मिक था। मातृदेवियों को उपज की देवी माना गया है। सर्जन-शक्ति के साथ-साथ संहारकारिणी के रूप में भी उनकी कल्पना की गई थी। वैदिक सूत्रों में माता पृथ्वी की आराधना की गई है। यद्यपि पहले बताया जा चुका है कि पूर्व वैदिक आर्य शायद मानवाकार प्रतिमा के रूप में देवी-देवताओं की पूजा नहीं करते थे; तथापि यह अत्यन्त युक्तिसंगत है कि उस समय भी अनार्य-जाति या निम्नस्तर की जनता मूर्त्ति-पूजा या प्राकृतिक पत्थरों, वृक्षों, को देवता समझ उनकी पूजा करती रही होगी। लौरिया-नन्दनगढ की खुदाई में मिली नारी-मूर्त्ति सोने के बने छोटे पत्तर पर अत्यन्त रुखड़ी ही सही, उत्कीर्ण है। ब्लॉक इसे मौर्यकाल से पहले की मानते हैं। पर यह उतनी पुरानी नहीं है। यह मूर्त्ति अवश्य ही मातृदेवी या धरतीमाता की है, जिसका अभिप्राय धार्मिक था। यह कहा जा सकता है कि इस मूर्त्ति की पूजा नहीं की जाती थी, फिर भी इसका एक रहस्यमय प्रभाव (टोटका) अवश्य माना जाता था। इसका अभिप्राय अभिचार से था। लोग समझते थे कि इसे मानव-शव के साथ गाड़ देने से मानवात्मा को विघ्नों से मुक्ति मिलेगी। आज मूर्त्ति-विज्ञान के विकास में इस मूर्त्ति को एक मुख्य चरण माना जाना चाहिए। पिपरावा-स्तूप से मिले घट में भी ऐसी सुवर्ण-मूर्त्ति मिली थी। कौटिल्य अर्थशास्त्र में अनेक देवियों की चर्चा है; जैसे—अपराजिता, श्री, मदिरा। काशीप्रसाद जायसवाल ने एक सुवर्ण-पत्तर पर एक देवता और देवी की मूर्त्ति का उल्लेख किया है, जिसे वे मौर्यकालीन मानते हैं। देवता और देवी अगल-बगल खड़े हैं।[1] यदि यह शिव-पार्वती की मूर्त्ति है, तो निश्चित रूप से उमा-महेश्वर-मूर्त्ति का यह पहला उदाहरण होगा। जनसाधारण मातृदेवियों को यक्षिणी के रूप में भी पूजता था। पूर्व-बौद्ध, बौद्ध और मौर्यकाल में भी यक्षिणियों की पूजा होती थी। ये वृक्षदेवियाँ मानी जाती थीं। यक्षिणी 'लेचाव' की मूर्त्ति मथुरा में मिली है, जिसे 'मनसा देवी' कहा जाता है। यह मौर्य या शुंग-काल की मानी गई हैं।[2] इसी समय के या पहले के पांचाल (Punch-marked) सिक्कों पर मातृदेवियाँ उत्कीर्ण हैं। कौशाम्बी, अयोध्या, पांचाल, मथुरा शक-पार्थव राजाओं के ऐसे सिक्कों पर लक्ष्मी की मूर्त्तियाँ हैं। लक्ष्मी खड़ी हैं और हाथ में कमल लिये हुई हैं या पूर्ण विकसित कमल पर बैठी हैं। तक्षशिला, भिटा, कोशाम, सारनाथ और पटना में अंगूठीनुमा पत्थर के चक्र (Ring-stones or Stone-discs) मिले हैं, जिनमें नंगी स्त्री-मूर्त्तियाँ उत्कीर्ण हैं। इन्हें मौर्यकाल या उससे कुछ ही समय बाद का माना गया है। बसाढ़ (वैशाली) की खुदाई से पंखयुक्त देवी की मूर्त्ति मिली है, जो शायद लक्ष्मी की ही हो। कुछ मुहरों पर गज-लक्ष्मी-'चेष्टा' उत्कीर्ण है। लक्ष्मी बीच में खड़ी हैं और हाथी उनपर जल छिड़क रहे हैं; अर्थात् अभिषिक्त कर रहे हैं तथा दो बौने थैली खोल रहे हैं। ये दो बौने यक्ष हैं, जो धन के रक्षक कहे गये हैं। इस प्रकार लक्ष्मी का धन से सम्बन्ध प्रत्यक्ष किया गया है। ये सभी मुद्राएँ मौर्य या शुंग-काल की मानी गई हैं। मौर्यकालीन यक्षिणियों की मूर्त्तियों का भी अभिप्राय धार्मिक ही रहा होगा।

---

१. *Journal of Indian Society of Oriental Art; Vol. II, p. 1., pl.I.*

२. *Elements of Hindu Iconography; p. 108.*

इसी मातृदेवी-पूजा के आधार पर मातृदेवी के अनेक रूपों की पूजा होने लगी और मूर्त्तियाँ बनने लगीं। गुप्तकालीन सिक्कों पर कमलासीन लक्ष्मी की सुन्दर मूर्त्ति अंकित है। पहले कुषाण-देवी अरदक्शो की नकल पर ही लक्ष्मी की मूर्त्ति सुवर्ण-सिक्कों पर उत्कीर्ण हुई; पर पीछे चलकर मूर्त्ति का शुद्ध भारतीय रूप प्रकट हुआ। पौराणिक कथाओं के आधार पर देवियों की मूर्त्तियाँ भी बनीं।

गौरी—ये जब अकेले मूर्त्त होती हैं, तब इनके हाथ में एक त्रिशूल और आइना दिया जाता है। किन्तु, जब ये अम्बिका के रूप में प्रदर्शित होती हैं, तब इनके हाथ में कमल होता है और ये सिंह पर आसीन रहती हैं। इस रूप में इन्हें लक्ष्मी भी माना जा सकता है। गुप्त-सुवर्ण-सिक्कों पर सिंहवाहिनी देवी को लक्ष्मी ही माना गया है। गौरी अपनी गोद में कार्त्तिकेय को लिये हुई आदिमाता के रूप में चित्रित की जाती हैं।

दुर्गा और चंडी—इनकी मूर्त्ति में दुर्गा को दस हाथ दिये गये हैं और इन हाथों में विभिन्न प्रकार के अस्त्र-शस्त्र रहते हैं। देवी सिंह या व्याघ्र पर आरूढ होकर महिषासुर को भाले से वेध रही हैं। दुर्गा को अट्ठारह हाथों से युक्त भी बताया गया है। आठ हाथोंवाली दुर्गा तो काफी संख्या में संग्रहालयों में मिलती हैं।

लक्ष्मी के हाथों में विष्णु के लक्षण ही दिये गये हैं; जैसे—शंख, चक्र और पद्म। परन्तु, लक्ष्मी कमलासन पर खड़ी या बैठी भी दिखाई गई हैं। उनके हाथों में कमल है और उनके सिर पर दो हाथी दोनों ओर से अभिषेक कर रहे हैं। कहीं एक हाथी भी अभिषेक करता दिखाया गया है। बोधगया की रेलिङ्ग और साँची के तोरण-द्वार पर श्री की एक ऐसी ही मूर्त्ति उत्कीर्ण है। यह राज्यश्री और ऐश्वर्य की अभिव्यक्ति का प्रत्यक्ष उदाहरण है। सन् १९१३-१४ ई० की खुदाई में बसाढ़ (वैशाली) से मिट्टी की एक मुहर मिली है, जिसमें प्रभामंडल-युक्त लक्ष्मी बीच में बैठी हैं। ऊपर दोनों ओर से सूँड़ में कलश लिये हाथी जल उड़ेल रहे हैं।[1] यह गज-लक्ष्मी का प्रत्यक्ष चित्रण है।

मनसा—इनकी मूर्त्तियों की गोद में एक बालक 'आस्तिक' है और उसके सिर पर सात फणवाला सर्प छाया कर रहा है।

काली—इनकी प्रतिमाएँ अनेक प्रकार की हैं। हेमाद्रि के अनुसार काली घनश्याम वर्ण की हैं और इनके एक हाथ में खोपड़ी और दूसरे में तालवृक्ष की एक शाखा है। अधिकतर मूर्त्तियों में वह एक शव पर खड़ी नृत्यरत मालूम पड़ती हैं।

महाकाली—इनके चार हाथ हैं, जिनमें छुरी, खप्पड़, घट और ढाल हैं। इनके गले में मुण्डमाला है। अधिकतर मूर्त्तियों में लाल जीभ निकली हुई है। आकृति भयंकर है।

---

१. *A.S.I., A.R. 1913-14, No. 93*

कृशोदरी—ये अत्यन्त ही कृशकाय हैं। इनके शरीर में मांस का नितान्त अभाव है। हड्डियाँ और पसलियाँ साफ-साफ दीखती हैं। बाल बिखरे और खड़े हैं। पेट धँसा है। वे व्याघ्र-चर्म पहने हुई हैं और एक हाथ में खोपड़ी, एक में त्रिशूल, एक में कृपाण और एक में पट्टिश नामक शस्त्र है। ये एक शव पर खड़ी हैं और हड्डियों के आभूषण पहने हुई हैं।

चामुण्डा–कृशोदरी की तरह ही कृशकाय हैं। चामुण्डा की असली पहचान उनकी धँसी आँखें हैं। हेमाद्रि के अनुसार इनके दस हाथ हैं और सर्प ही आभूषण हैं। सभी मूर्त्तियों में दस हाथ नहीं मिलते हैं।

सप्तमातृका—ये सात देवियाँ—ब्राह्मी, ऐन्द्री, चामुण्डा, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी और चंडिका हैं। ये अपने इष्टदेव के लक्षणों से ही युक्त हैं, सिर्फ ये नारी-मूर्त्तियाँ हैं। पटना-संग्रहालय में सप्तमातृका की अलग-अलग मूर्त्तियाँ रखी हैं।

सरस्वती—इनके चार हाथ हैं। इनके विशिष्ट लक्षण हैं—पुस्तक और वीणा। कभी ये कमण्डल लिये हुई भी दिखाई गई हैं; क्योंकि इन्हें ब्रह्मा की सहगामिनी माना गया है। इनका वाहन हंस है।

गंगा-यमुना—इन नदियों की पूजा प्राचीन काल से आ रही है। कल्लोलिनी सरस्वती के तीर पर ही वैदिक मन्त्रों की रचना हुई है। नदी के तट ही सभ्यता के विकास-स्थल हैं। नदी-तट पर ही शहर बसे और व्यापार की वृद्धि हुई। पृथ्वी इन्हीं के कारण उर्वरा हुई, और इनके पानी से खेत सींचे गये। इसलिए, इन्हें मातृदेवियों का दर्जा दिया गया, और इनकी पूजा होने लगी। खास तौर पर गंगा और यमुना का भारतीय इतिहास में प्रधान महत्त्व रहा है। इसलिए इनकी ही देवी के रूप में पूजा की गई। गंगा मगर पर खड़ी हैं और हाथ में घट तथा कमल लिये हुई हैं। यमुना के हाथ में घट है और वाहन कछुआ है।

अनुक्रमणिका

ख

ग

फ

ब

भ

श

शालभंजिका (भरहुत)
चित्र-सं० १ (पृ० १६)

दृष्टि-सम्बंधी इंद्रजाल की उपेक्षा (बोधगया-रेलिंग)
चित्र-सं० २

बुद्ध और नालगिरि मत्त हाथी — चित्र-सं० ३

माया के स्वप्न में श्वेत हाथी   चित्र-सं० ४

गजलक्ष्मी   चित्र-सं० ५ (पृ० १७)

महाकपि जातक चित्र-सं० ५ अ (पृ०-सं० १६)

कमल-नाल चित्र-सं० ६ (पृ०-सं० २०)
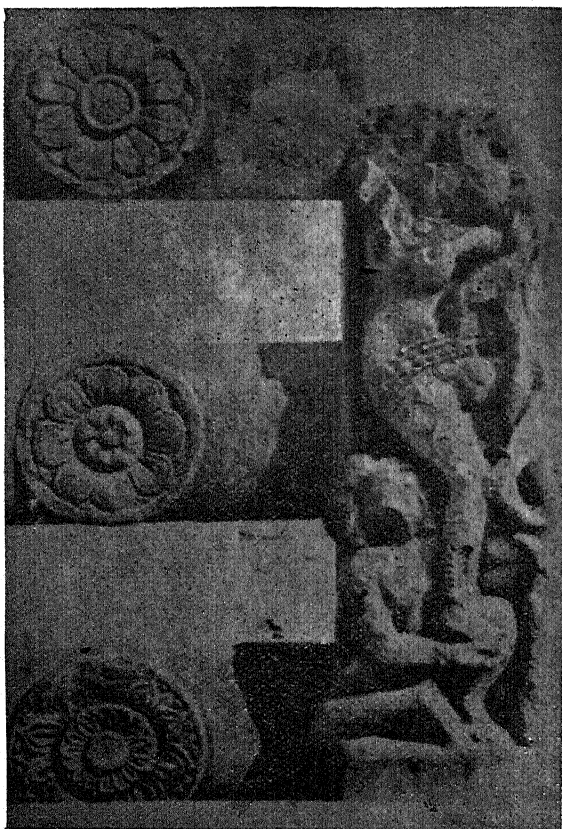
शाल-भंजिका (बोधगया) चित्र-सं० ७ (पृ० २०)

मेलोस् (यूनान) की पंखयुक्त देवी
(मिट्टी)
चित्र-सं० ८

साँढ़ (मोहञ्जदड़ो) चित्र-स० ८ अ

मोहञ्जदड़ो से प्राप्त पशुपति
चित्र-सं० ९
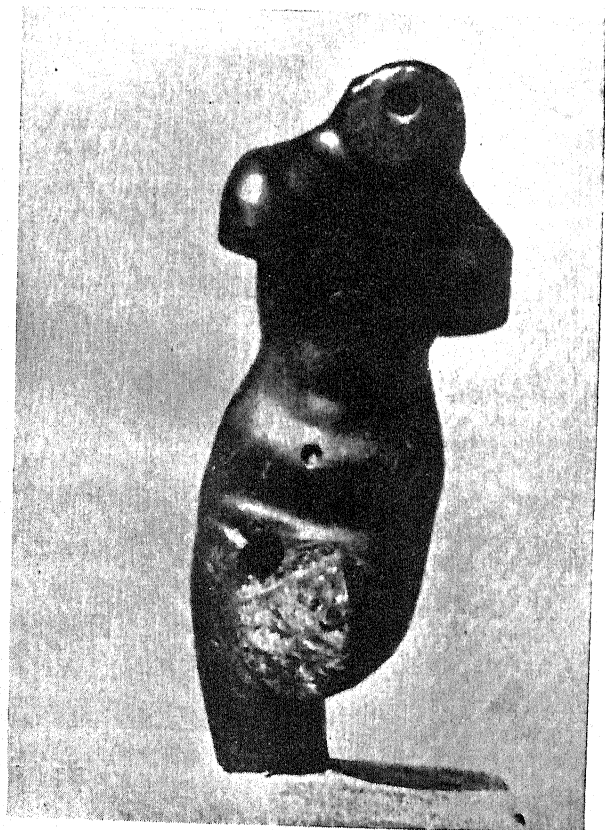
नटराज (?) मोहञ्जदड़ो
(पाषाण)
चित्र-सं० १०
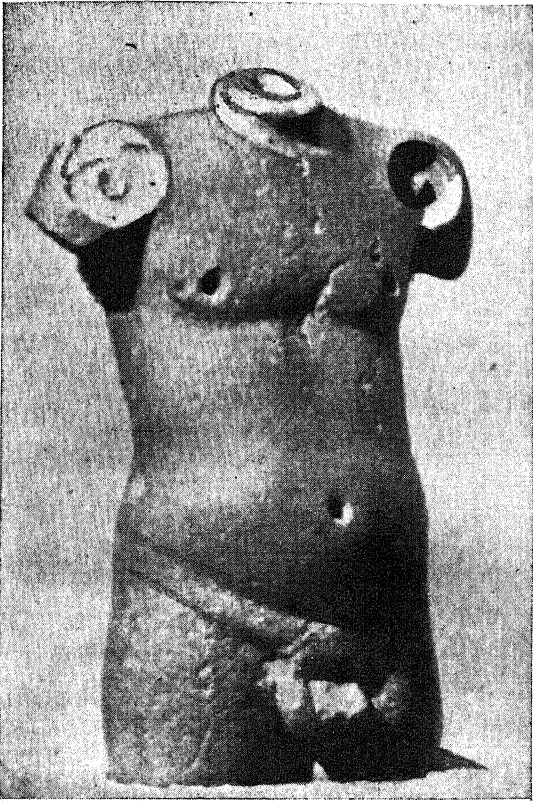
धड़ (पाषाण) मोहञ्जदड़ो चित्र-सं० ११

लोमषऋषि-गुहा चित्र-सं० १६ (पृ० ५४)

राजगृह की पहाड़ियों पर पाषाण-रक्षापंक्ति चित्र-सं० १२
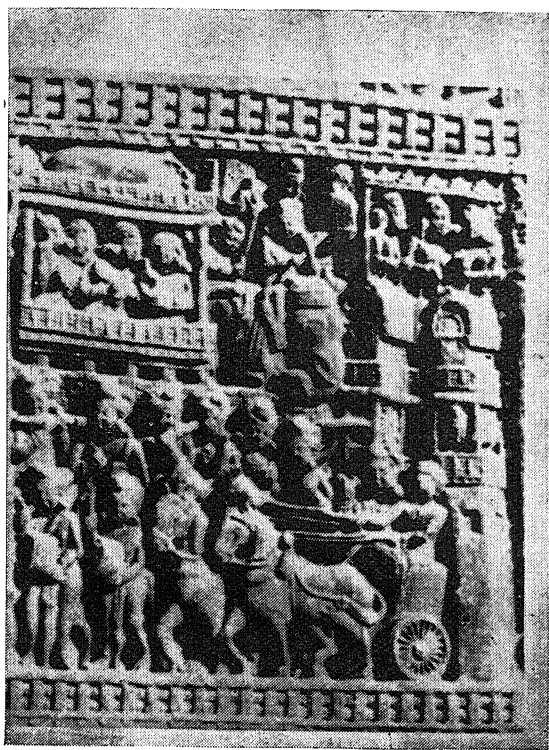
अजातशत्रु का बुद्ध से
मिलने जाना
चित्र-सं० १३
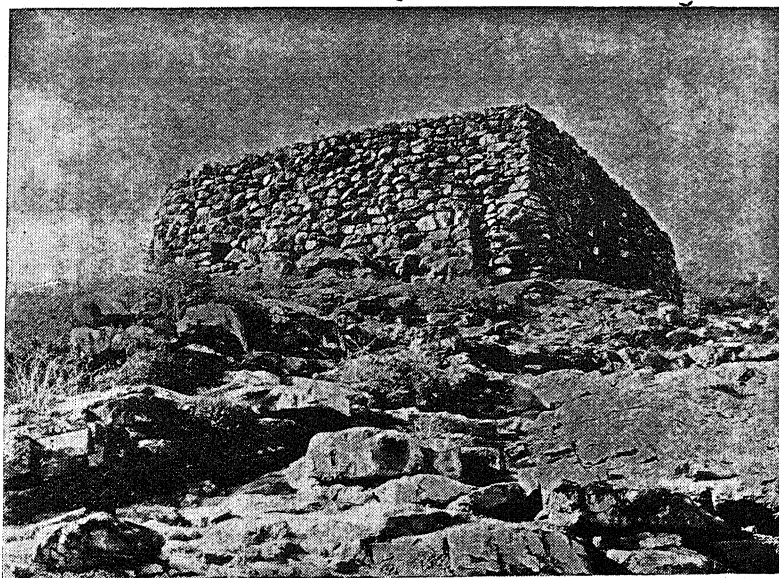
पीपल-गुहा (राजगीर) चित्र-सं० १४

स्त्री का केशविन्यास (बक्सर), मिट्टी चित्र-सं० १५
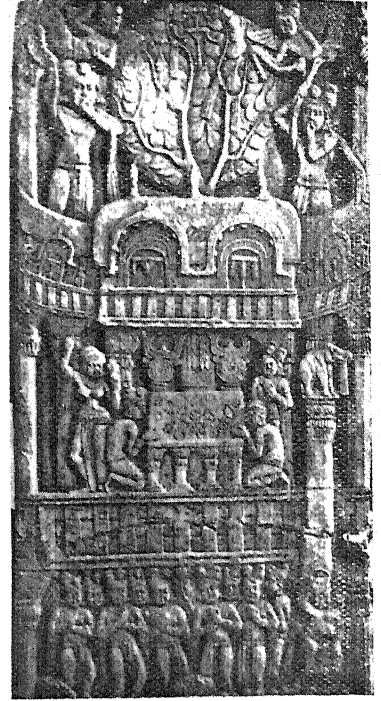
वज्रासन मंदिर (भरहुत)
चित्र-सं० १७ (पृ० ५५)
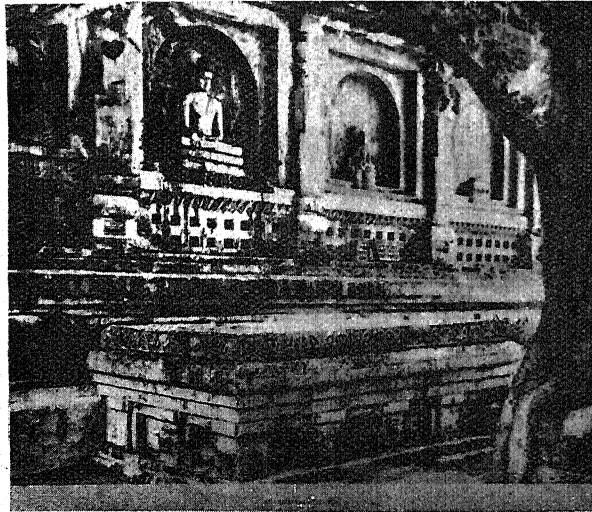
बोधगया चित्र-सं० १७ अ
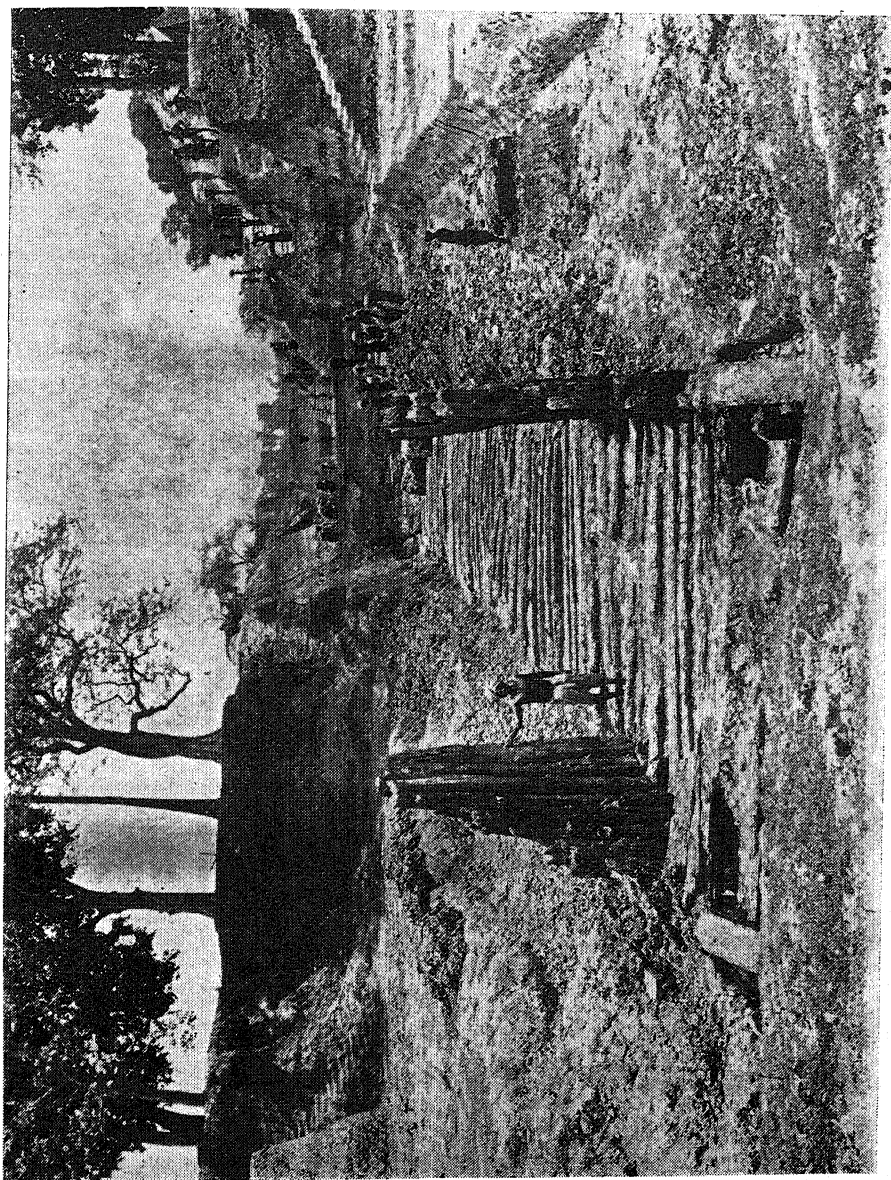
बुलन्दीबाग (पटना) में मिली लकड़ियों की बनी चहारदिवारी   चित्र-सं० १५ ख
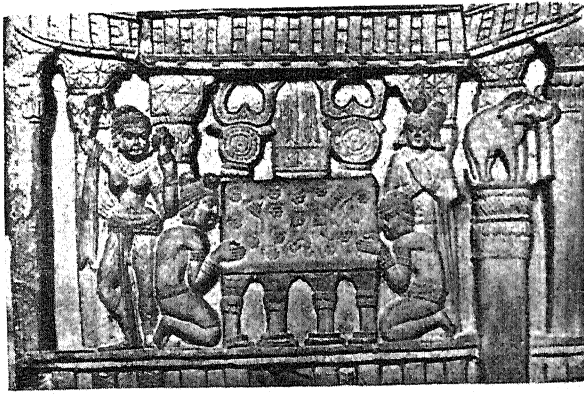
चंक्रमक मंदिर (भरहुत) चित्र-सं० १८
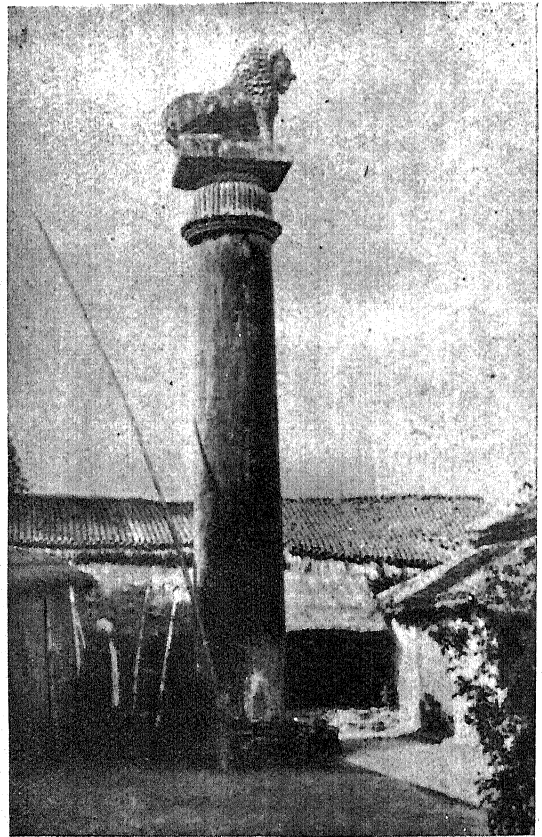
बसाढ़ (वैशाली) की लाट चित्र-सं० १९ (पृ०-सं० ५८)
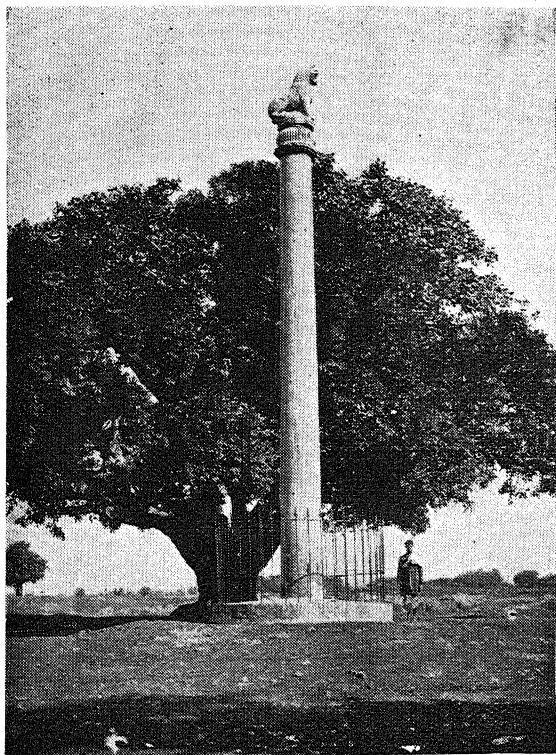
अशोक का शिरायुक्त स्तम्भ
(लौरियानन्दनगढ़)
चित्र-सं० २०
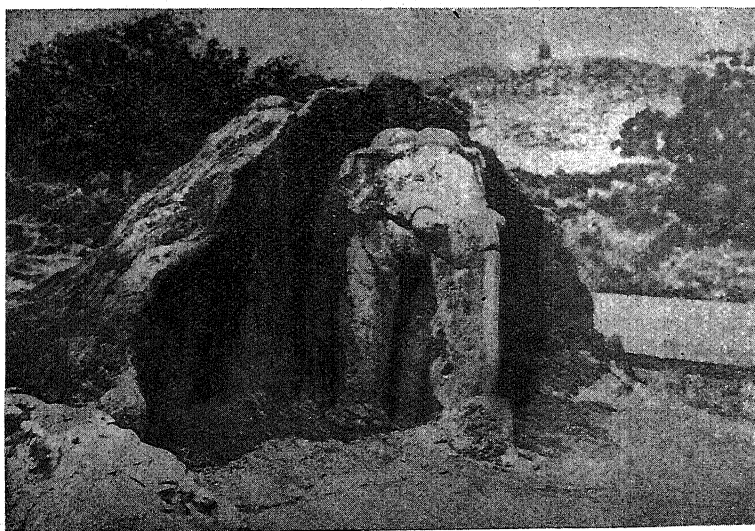
अशोककालीन पाषाण-हाथी (धौली—उड़ीसा) चित्र-सं० २१ (पृ० ५६)

सिंह-सिरा (रामपुरवा) चित्र-सं० २१

साँढ़-सिरा (रामपुरवा)
चित्र-सं० २२
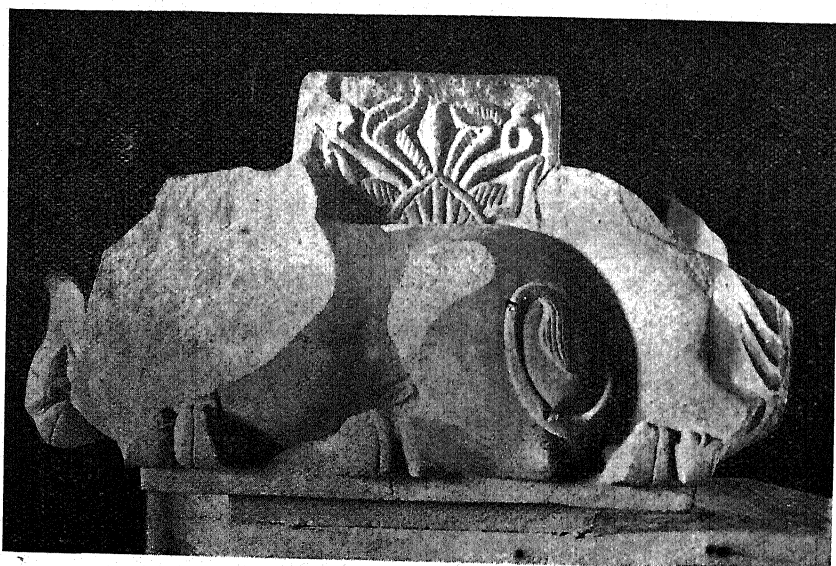
चार साँढ़ों से युक्त स्तम्भसिरा चित्र-सं० २६ (पृ०-सं० ६१)

सिंह-सिरा (सारनाथ) चित्र-सं० २४ (पृ० ६०)

यक्ष (?)
चित्र-सं० २८ (पृ० ६१-६२)
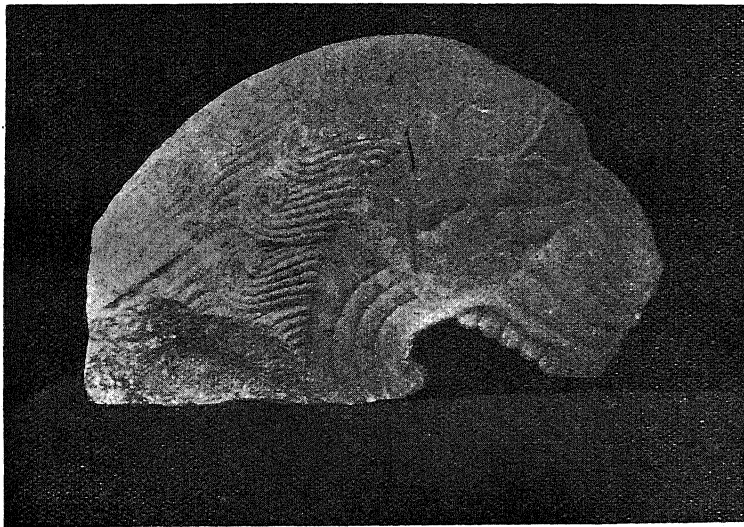
सिंह-सिरा (मसाढ़) चित्र-सं० २५ (पृ ६१)
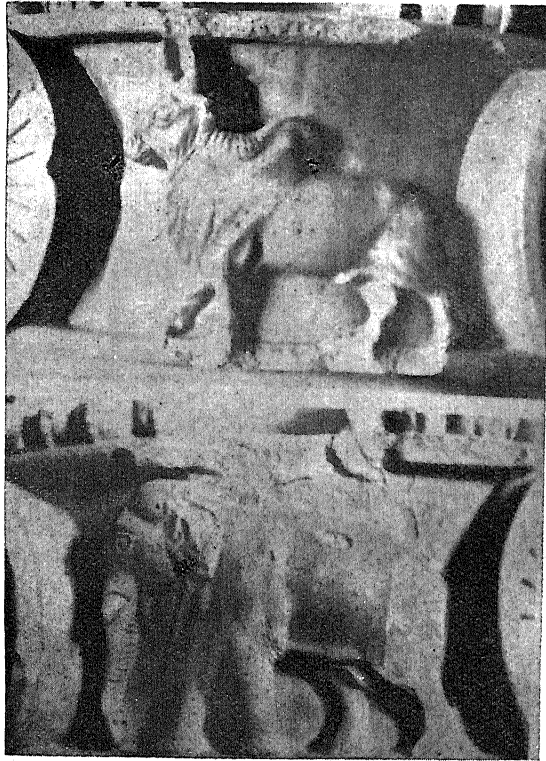
सिंह-सिरा—चित्र-सं० २४ अ
(पृ० ६०)

दीदारगंज (पटना), यक्षिणी
चित्र-सं० २६ (पृ० ६४)

यक्ष (?)
चित्र-सं० २७ (पृ०-सं० ६१-६२)

सिंह-मूर्त्ति (सुमेर)
चित्र-सं० ३४ (पृ० ५७)
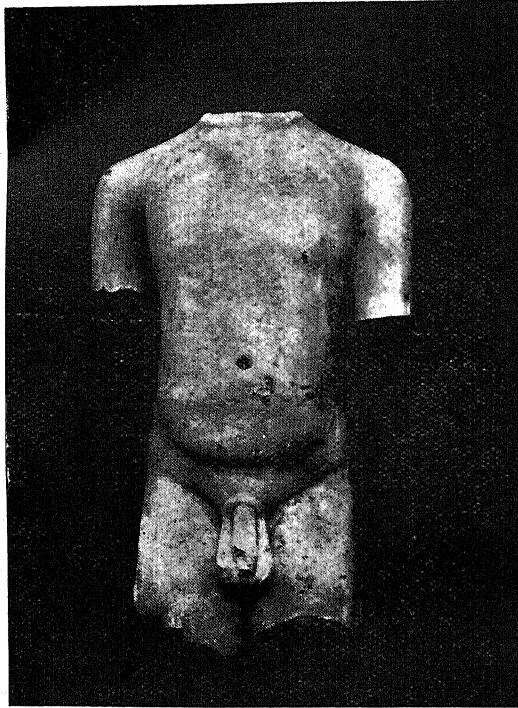
तीर्थङ्कर का धड़ (पाषाण)
चित्र-सं० ३०

मुरतजीगंज की पाषाण-तश्तरी
(dish)
चित्र-सं० ३२

पगड़ीयुक्त हँसता पाषाण-मुख
(कुम्हरार)
चित्र-सं० ३१ (पृ ६५)

मिथुन-सर्प (मेसोपोटामिया)
चित्र-सं० ३५

देवी लिलिथ
चित्र-सं० ३६ (पृ० ७१)

देव का व्याघ्रों से युद्ध
चित्र-सं० ३२ (अ)
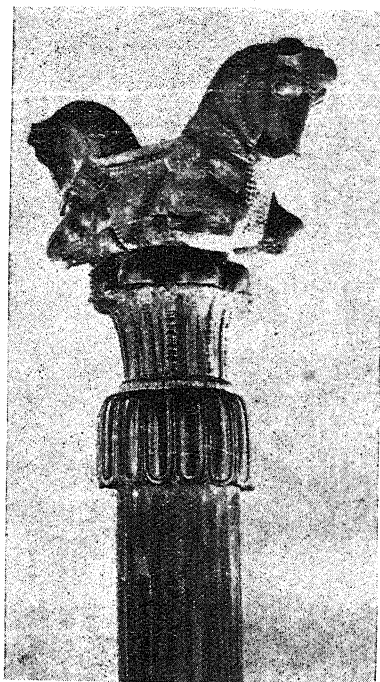
ईरानी स्तम्भ   चित्र-सं० १२ अ (पृ० ३६)

मिथुन-सर्प (मोहन्जदड़ो)
चित्र-सं० ३६

स्त्री-मूर्त्ति (मिट्टी), बुलन्दीबाग
चित्र-सं० ४० (पृ०-सं० ७४)
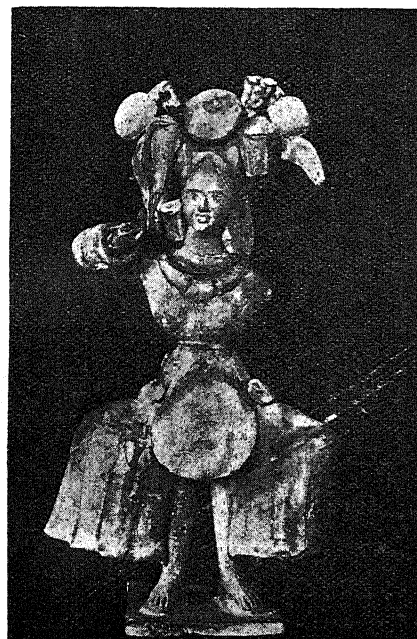
स्त्री-मूर्त्ति (मिट्टी) बुलन्दीबाग
चित्र-सं० ४१ (पृ० ७४)

नारी-मूर्त्ति (बक्सर)
चित्र-सं० ३८
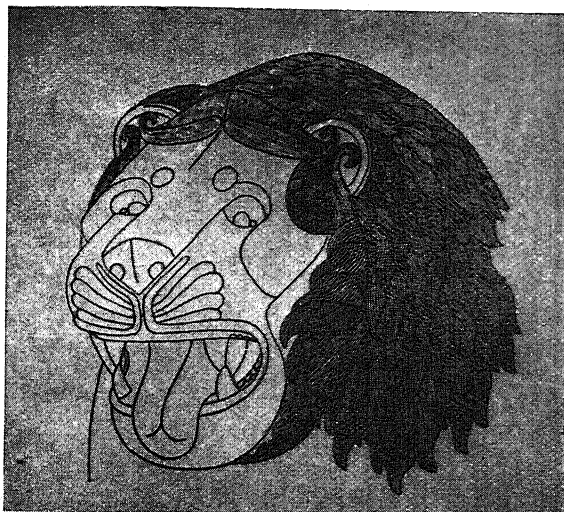
हिटाइट सिंह-मूर्त्ति
चित्र-सं० ३७ (पृ० ७२)

हँसता बालक (मिट्टी), बुलन्दीबाग
चित्र-सं० ४२ (पृ० ७४)

विहँसती बालिका (मिट्टी)
चित्र-सं० ४२ अ (पृ० ७४)
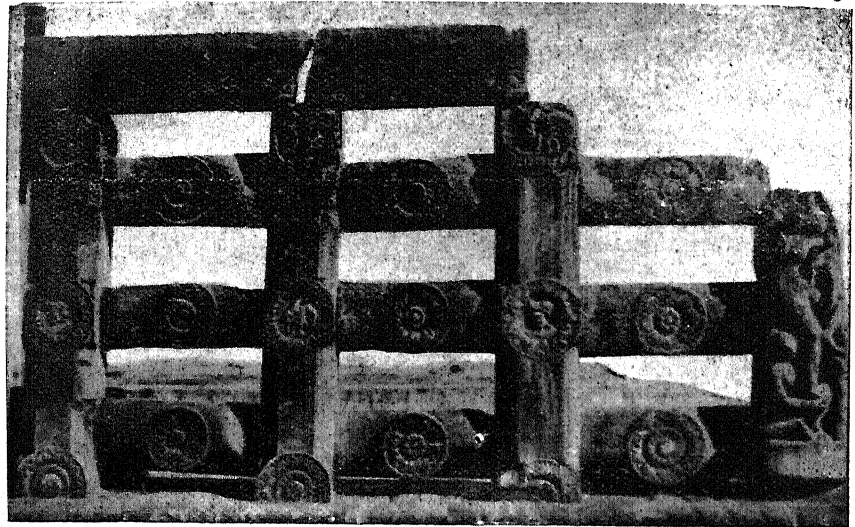
बोधगया-रेलिंग चित्र-सं० ४३ (पृ० ७७)
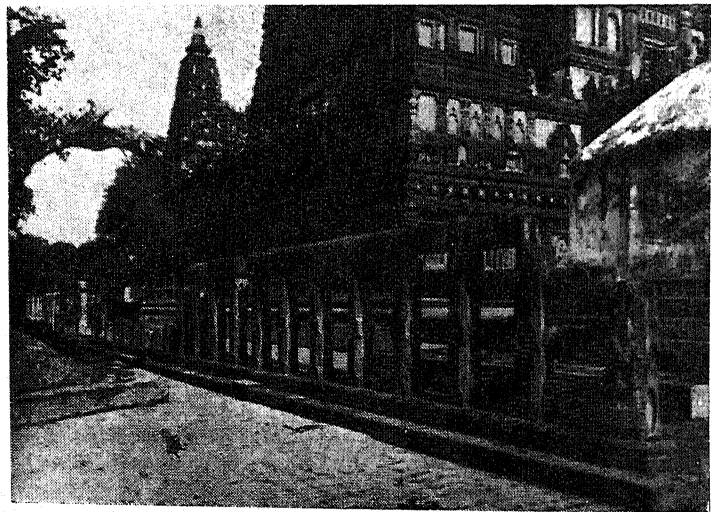
बोधगया-रेलिंग चित्र-सं० ४३ अ
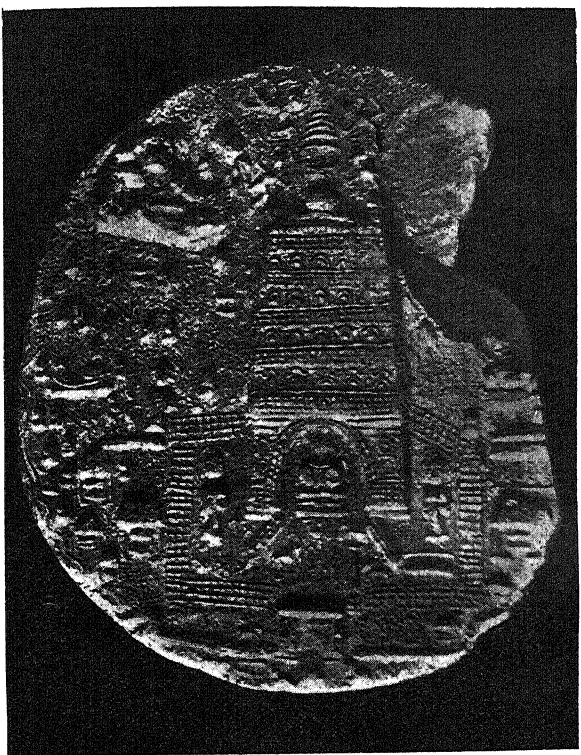
कुम्हरार से प्राप्त मिट्टी का चौखट
चित्र-सं० ४४ (पृ० ८१)

सूर्य (बोधगया)
चित्र-सं० ४५ (पृ० ८१)

सूर्य (मिट्टी), पटना-संग्रहालय
चित्र-सं० ४६

शालिभंजिका (बोधगया)
चित्र-सं० ५२ (पृ० ८५)

जेतवन का क्रय (भरहुत)
चित्र-सं० ४७

जेतवन का क्रय (बोधगया)
चित्र-स० ४८
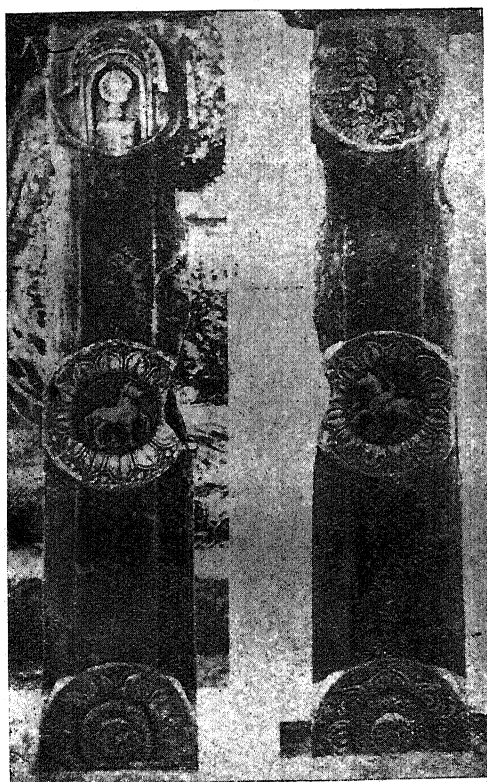
राशि-मूर्त्तियाँ (बोधगया)
चित्र-सं० ४६ (पृ० ८३)
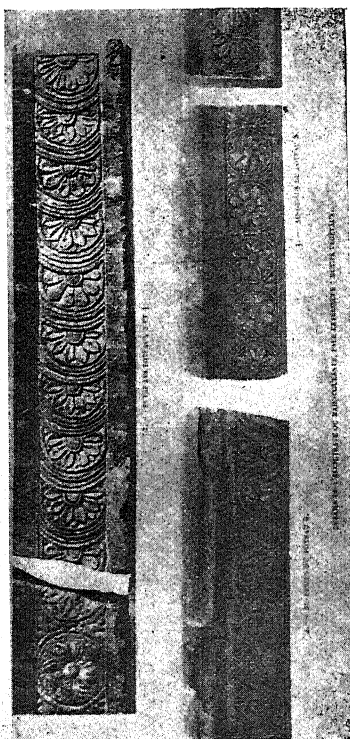
कमलनाल (बोधगया)
चित्र-सं० ५५ (पृ० ८५)

मिथुन-दम्पती (बोधगया)
चित्र-सं० ५० (पृ० ८३)

श्रीमा (बोधगया)
चित्र-सं० ५१

नारी (बोधगया)
चित्र-सं० ५५-स (पृ० ८६)

इन्द्र (बोधगया) चित्र-सं० ५३ (पृ० ८५)
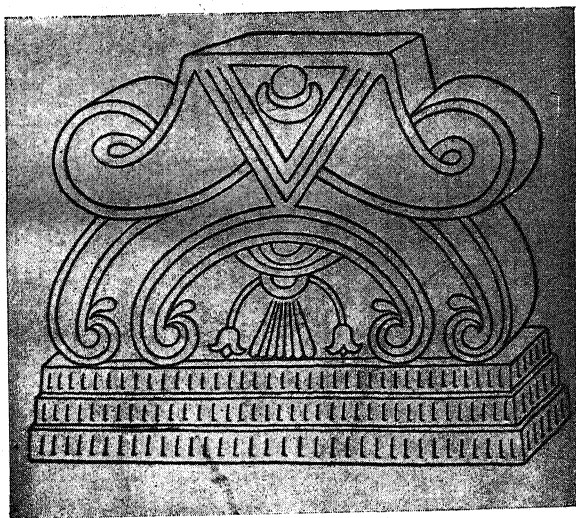
स्तम्भ-शिरोभाग का अलंकार
चित्र-सं० ५६ अ (पृ० ८६)

प्रेमालिंगन (बोधगया)
चित्र-सं० ५५
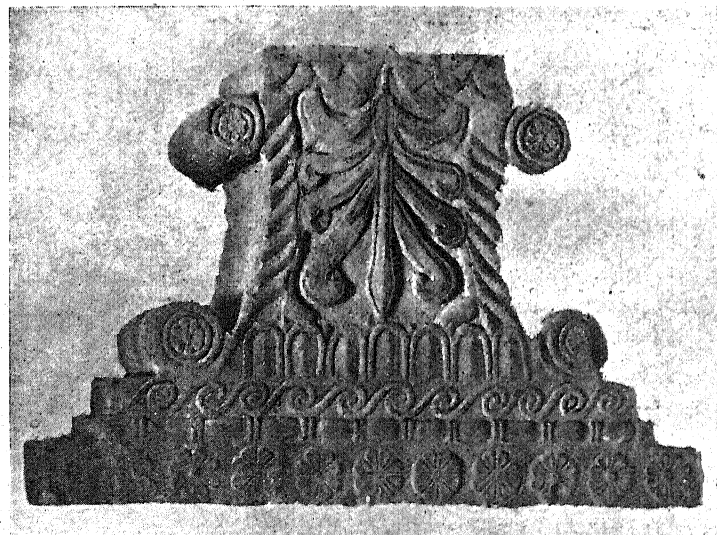
पाषाण-स्तम्भ-सिरा चित्र-सं० ५६

नारी-मूर्त्ति (मिट्टी)
चित्र-सं० ५७

पंखयुक्त देवी (वैशाली)
चित्र-सं० ५८

मिथुन-दम्पती (मिट्टी), पटना
चित्र-सं० ५६ (पृ० ८८)
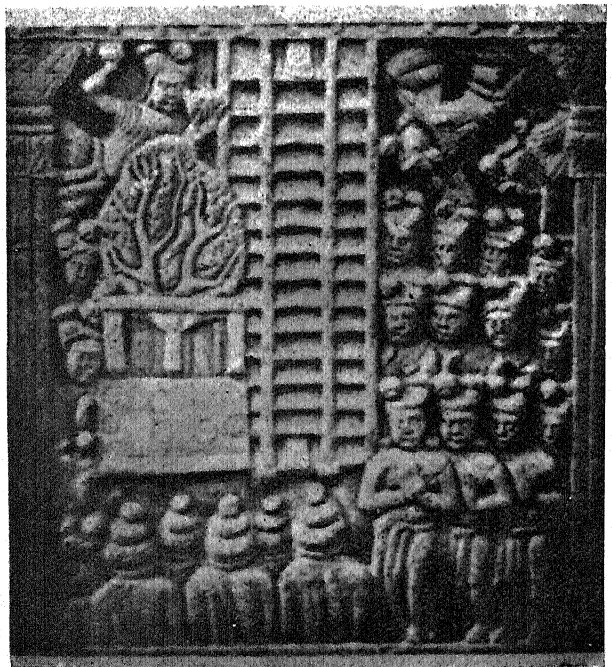
बुद्ध का तुषित स्वर्ग से
आने का संकेत
चित्र-सं० ६०
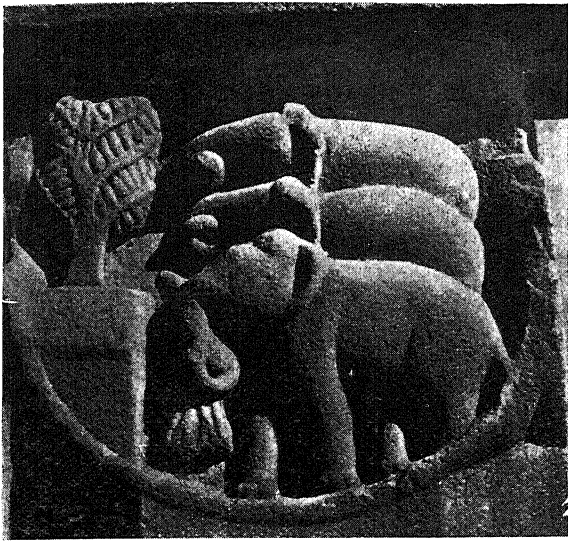
हाथियों के द्वारा बोधिवृक्ष की पूजा (बोधगया)
चित्र-सं० ६१ (पृ० ६६)

बुद्ध (८१ ई०)
चित्र-सं० ६१-अ
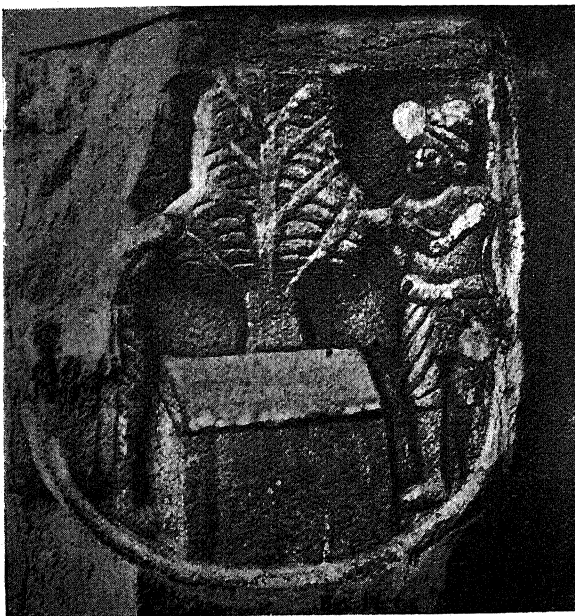
बोधिवृक्ष की पूजा
चित्र-सं० ६१-ब (पृ० ६६)

बुद्ध (बोधगया)
चित्र-सं० ६२

बोधित्व
चित्र-सं० ६३-अ
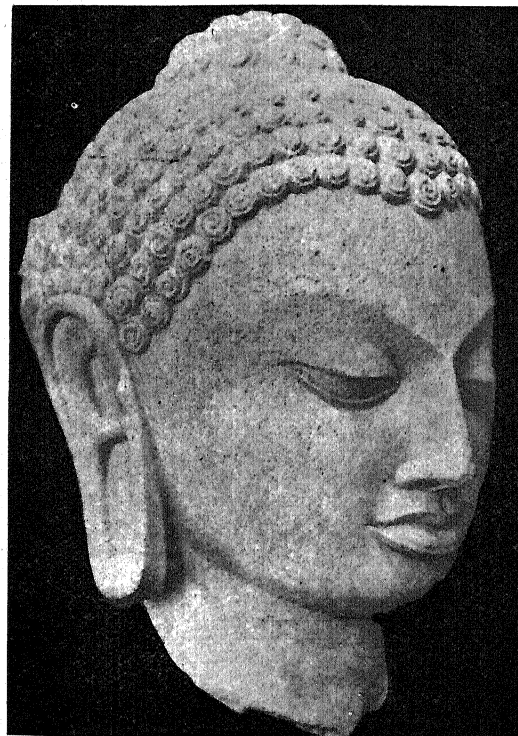
बुद्ध चित्र-सं० ६३

पुरुष-धड़ (मिट्टी)
चित्र-सं० ३४-अ

पुरुष-धड़ (कुम्हरार)
चित्र-स० ६४ (पृ० १०४)

बोधगया का मंदिर
चित्र-सं० ६७-अ
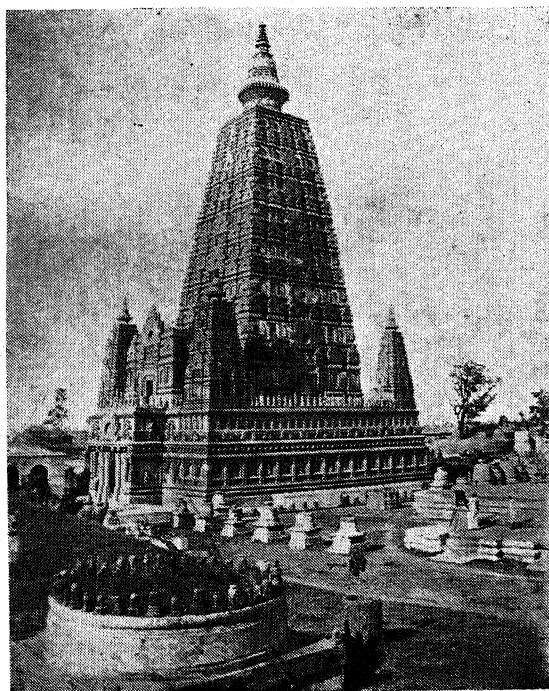
नारी-मूर्त्ति (मिट्टी)
चित्र-सं० ६५ (पृ० १०४)
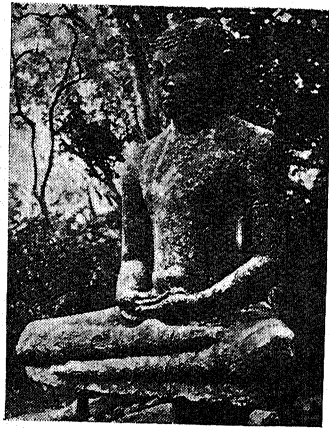
बुद्ध (अनुराधापुर)
चित्र-सं० ७०

बुद्ध (सारनाथ)
चित्र-सं० ६६

नालन्दा के खंडहर
चित्र-सं० ६१

नालन्दा-स्तूप न० ३

चित्र-सं० ६७
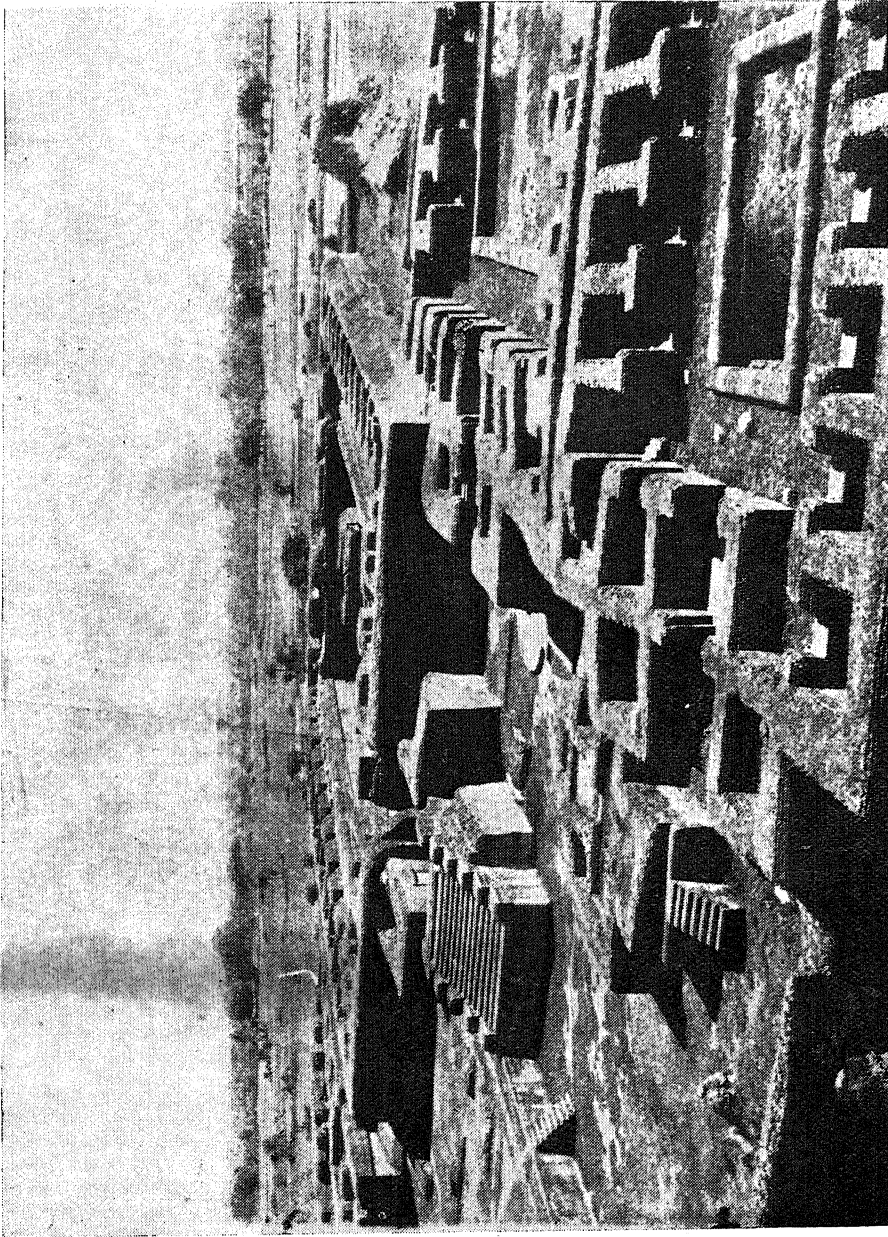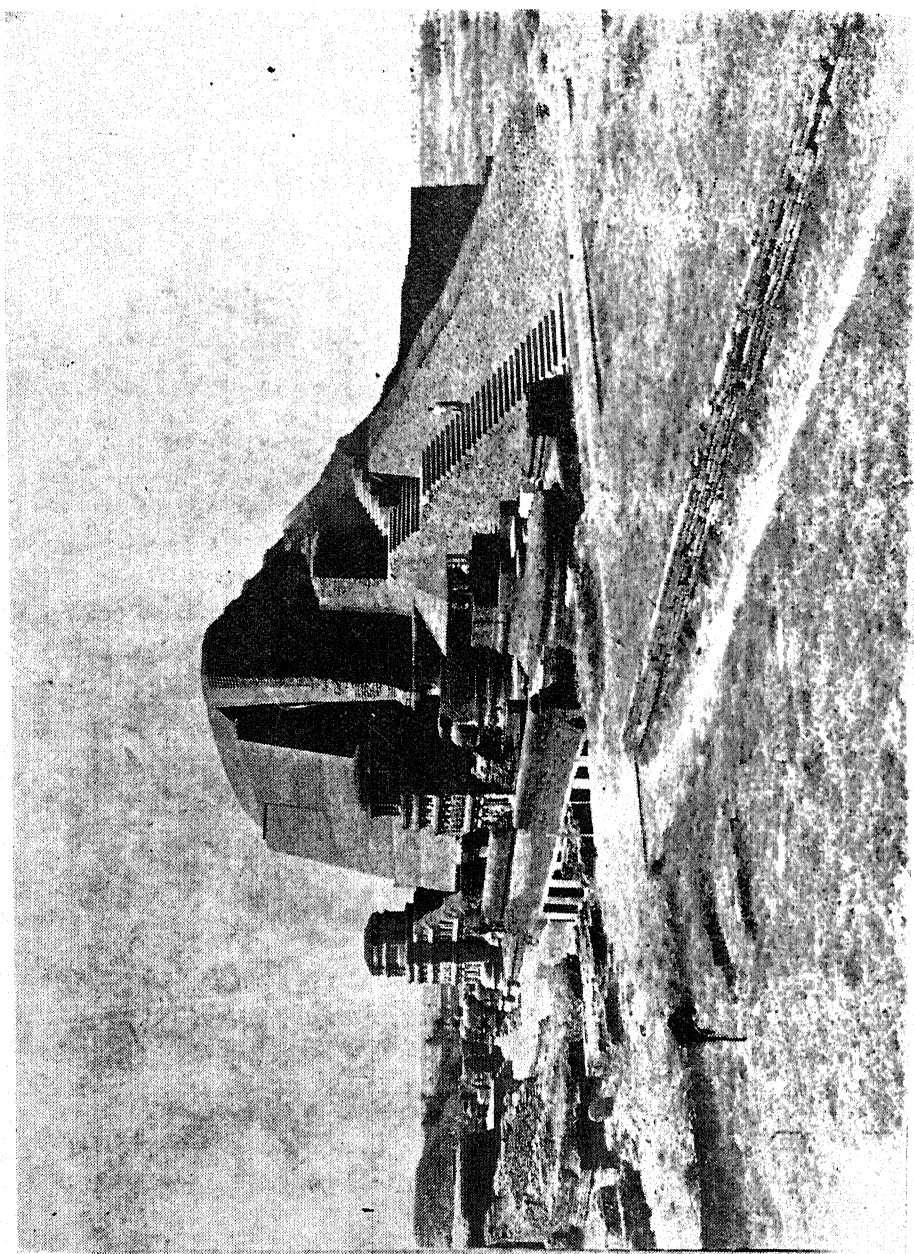
बुद्ध (कांसा) सुल्तानगंज
चित्र-सं० ७१
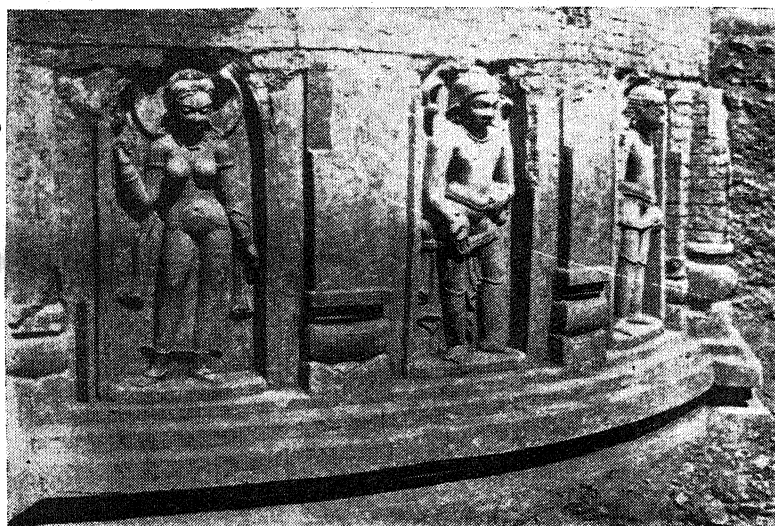
मनियार-स्तूप की मूर्त्तियाँ
चित्र-सं० ७२
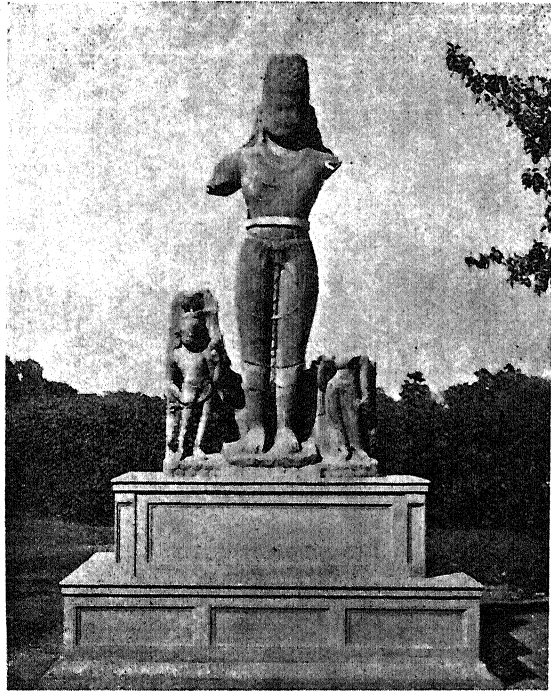
विष्णु
चित्र-सं० ७५ (पृ० १२०)

कार्त्तिकेय
चित्र-सं० ७६ (पृ० १२०)

नागदेव
चित्र-सं० ७४

अग्नि
चित्र-सं० ७७ (पृ० १२०)

गणेश
चित्र-सं० ७९

सूर्य
चित्र-सं० ७८ (पृ० १२०)

विष्णु
चित्र-सं० ८० (पृ० १२०)

(सुवर्ण) सिंह-निहंता (विक्रमादित्य)
चित्र-सं० ८२

वराह चित्र-सं० ८१ (पृ० १२१)

(सुवर्ण) अश्वारोही (विक्रमादित्य)
चित्र-सं० ८३

(सुवर्ण) चक्रपुरुष
चित्र-सं० ८४
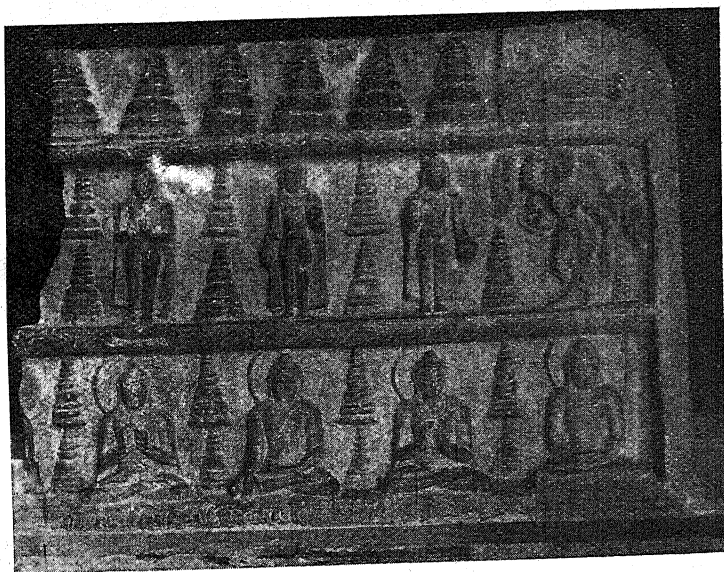
बुद्ध के जीवन-दृश्य (बोधगया) चित्र-सं० ८८ (पृ० १२६)

(सुवर्ण) प्रकाशादित्य चित्र-सं० ८५

(सुवर्ण) अश्वमेध चित्र-सं० ८६

बुद्ध चित्र-सं० ८७ (पृ० १२८)
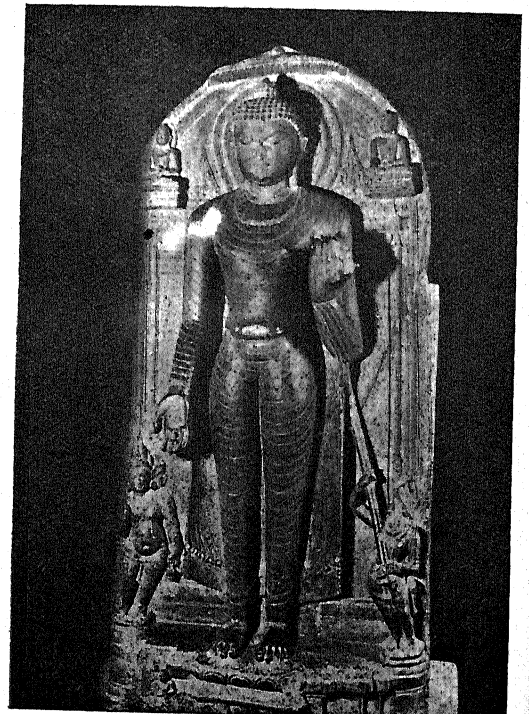
बुद्ध चित्र-सं० ८६ (पृ० १२६)

हारयुक्त बुद्ध चित्र-सं० ६०

मुकुटधारी बुद्ध चित्र-सं० ६१ (पृ० १२६)
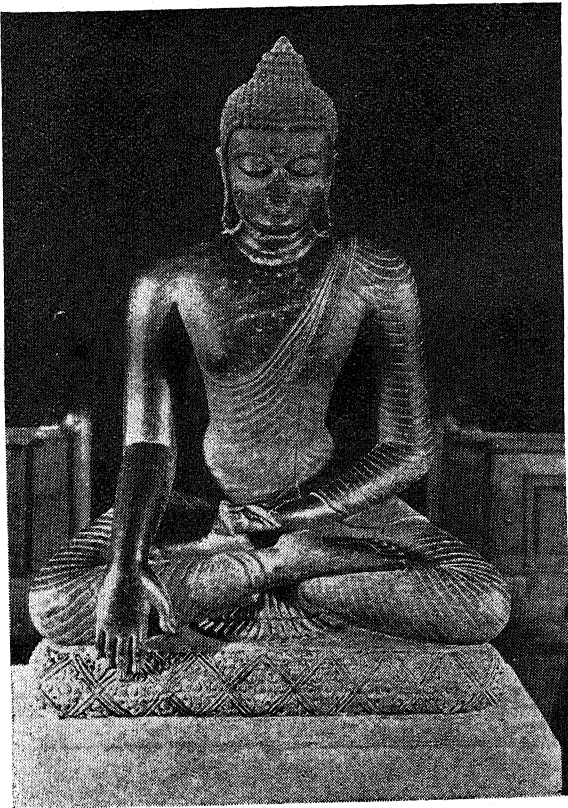
बुद्ध (पाषाण) चित्र-सं० ६२

अवलोकितेश्वर चित्र-सं० ६३

मैत्रेय
चित्र-सं० ६४

लोकेश्वर
चित्र-सं० ६६ (पृ० १६०)
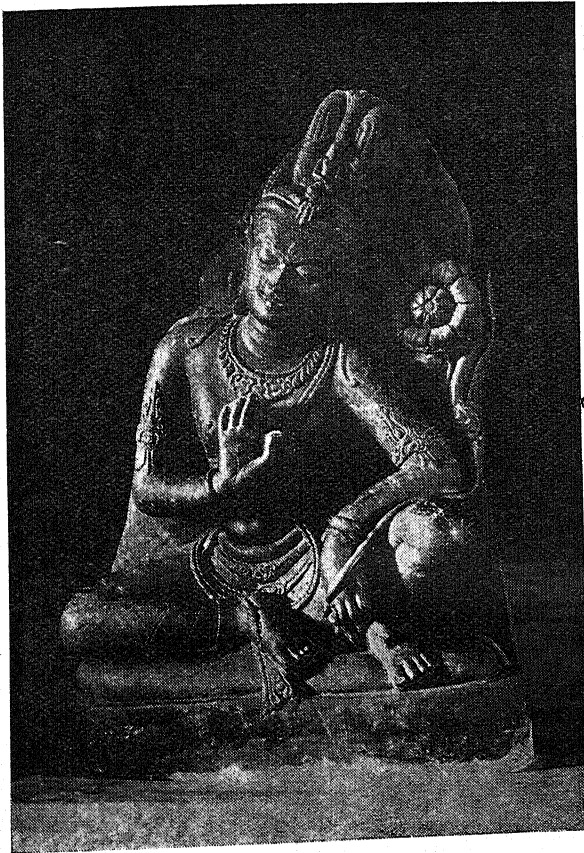
अवलोकितेश्वर
चित्र सं० ६५

उमा-महेश्वर
चित्र-सं० ६६ (पृ० १२१)

तारा
चित्र-सं० ९७ (पृ० १९०)

तारा
चित्र सं० ९७-अ

शिव-विवाह
चित्र-सं० ९८ (पृ० १९१)

पार्वती और कार्त्तिकेय चित्र-सं० १००

कार्त्तिकेय की शक्ति
चित्र-सं० १०१ (पृ० १३१)

स्त्रीमूर्त्ति (राजमहल)
चित्र सं० १०२ (पृ० १३१-३२)

सूर्य चित्र-सं० ११५ (पृ० १६२)

नाग-नागिन (राजगृह)
चित्र-सं० १०४ (पृ० १३२)

सूर्य
चित्र-सं० १०६ (पृ० १३२)

गणेश
चित्र-सं० १०७

मुकुटधारी बुद्ध (कांसा)
चित्र-सं० १०८ ब (पृ० १३४)
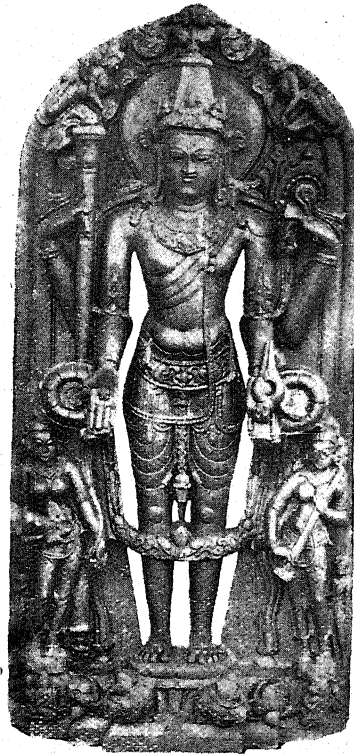
विष्णु
चित्र-सं० १०८ अ (पृ० १३३)

गोविन्द
चित्र-सं० १०८ (पृ० १३२)

भद्रासन में बुद्ध चित्र-सं० ११०

अठारह हाथों की तारा (कांसा) चित्र-सं १०६

मारीचि
चित्र-सं० ११२

जम्भल (कांसे की मूर्त्ति)
चित्र-सं० १११ (पृ० १३४)

सरस्वती (कांसा)
चित्र-सं० ११३

सरस्वती चित्र-सं० ११३ अ
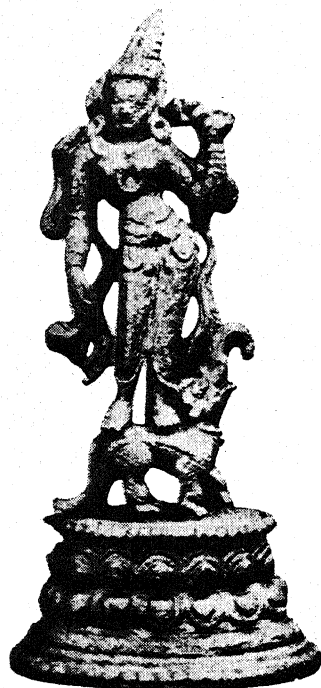
गंगा (कांसा) चित्र-सं० ११४

त्रैलोक्य-विजय
चित्र-सं० ११५

बुद्ध (कुर्किहार)
चित्र-सं० ११६ (पृ० ११९)

ललितासन में तारा
चित्र-सं० ११७

हयग्रीव (कांसा)
चित्र-सं० ११८ (पृ० १३६)

उमा-महेश्वर (कांसा)
चित्र-सं० ११६ (पृ० १३६)

उमा-महेश्वर (कांसा)
चित्र-सं० ११९-अ

सूर्य (कांसा)
चित्र-सं० १२० (पृ० १३६)
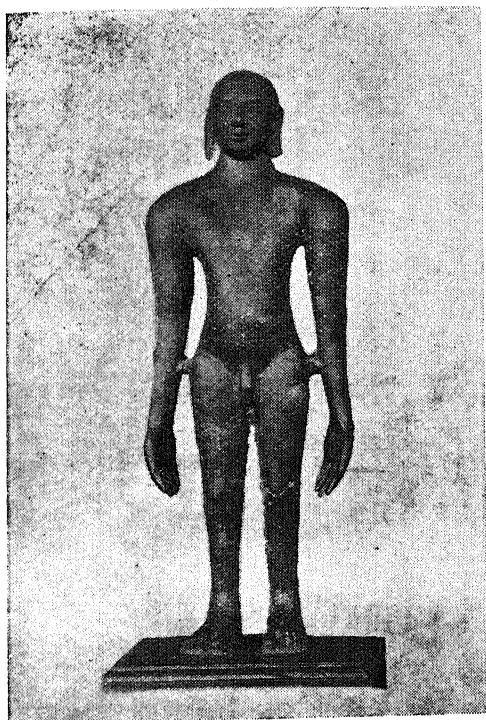
तीर्थंकर चित्र-सं० १२१
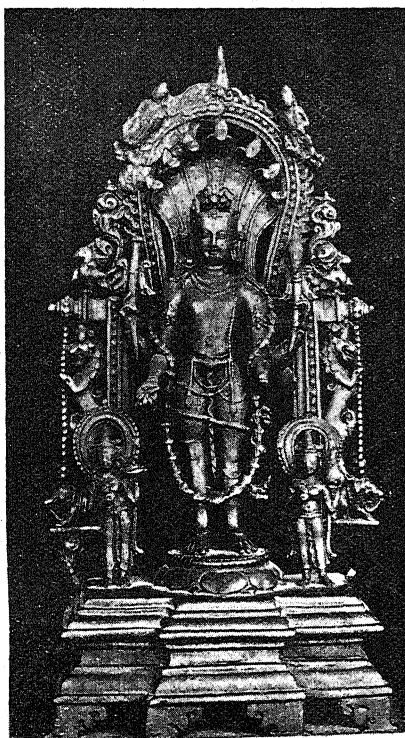
बलराम (कुर्किहार) कांसा
चित्र-सं० १२२ अ (पृ० १३८)
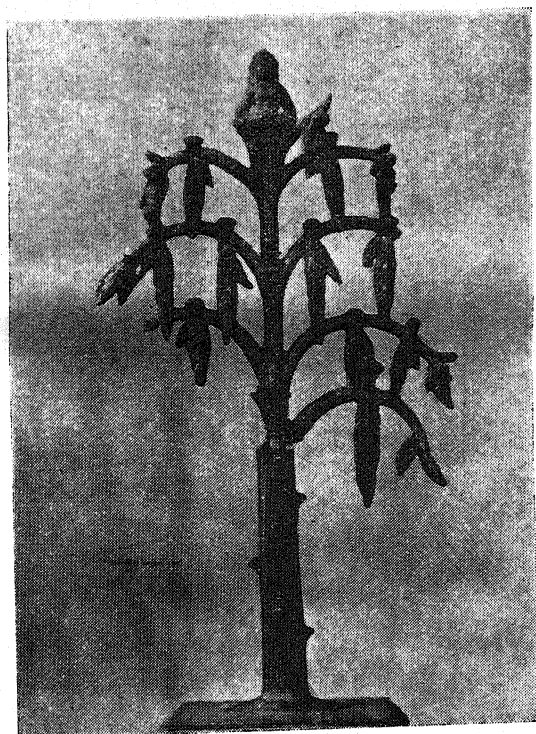
कल्पवृक्ष चित्र-सं० १२२
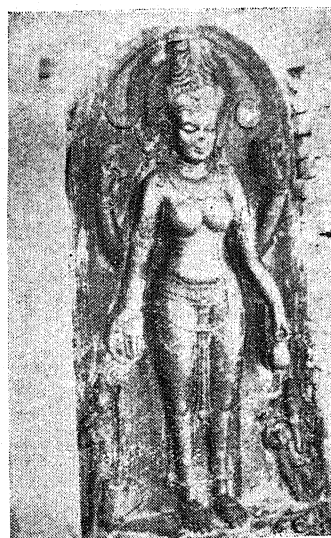
भृकुटी इन्द्र और गणेष
चित्र-सं० १२२ आ
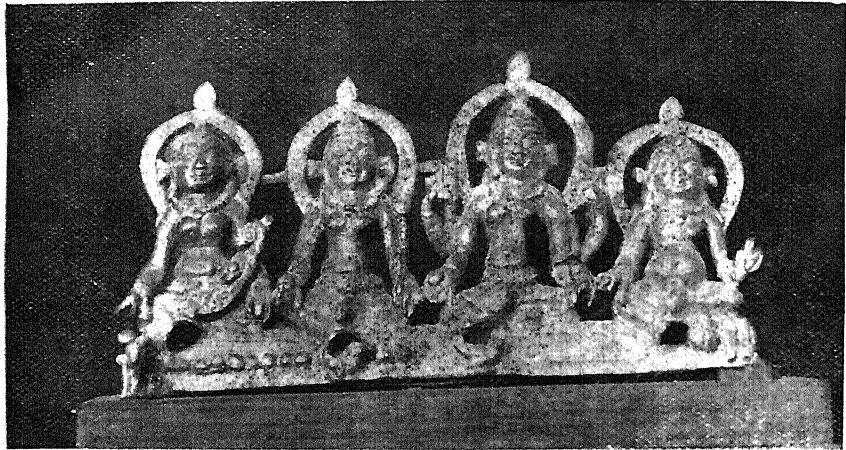
चारदेवियाँ (कांसा)
चित्र-सं० १२२-इ (पृ० १३६)
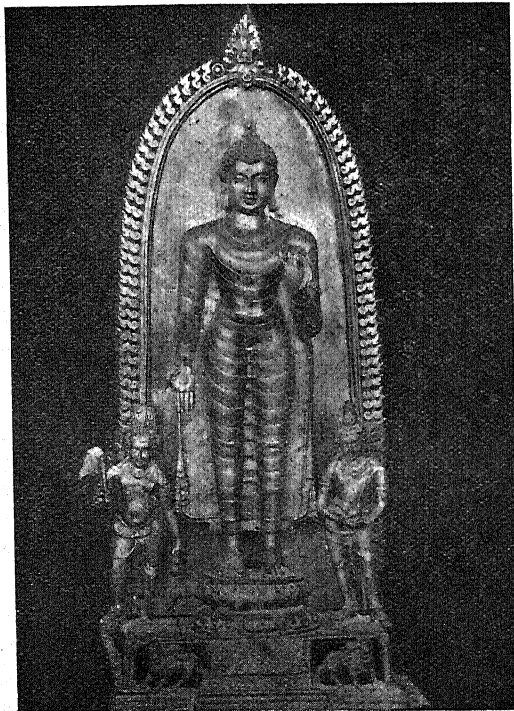
बुद्ध इन्द्र और ब्रह्मा के साथ (कांसा)
चित्र-सं० १२२ स (पृ० १३८)
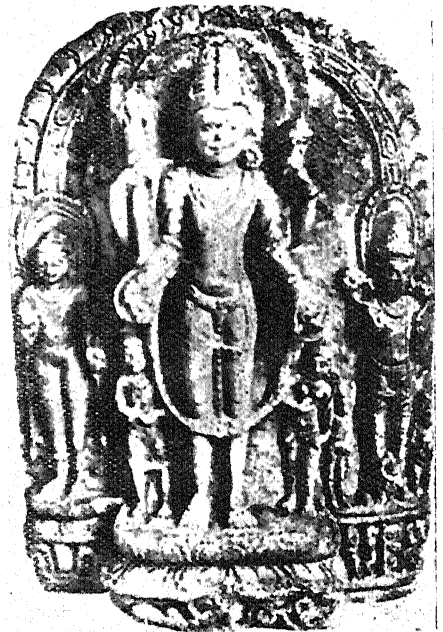
हरिहर, बुद्ध और सूर्य
चित्र-सं० १२२ ब
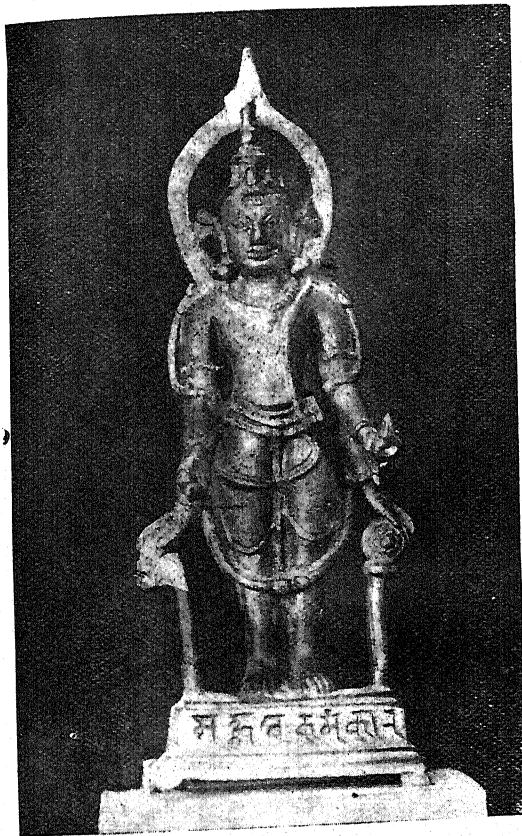
चतुर्भुज विष्णु (कांसा) चित्र-सं० १२२ द (पृ० १३८-१३९)

हरिहर चित्र-सं० १२३ (पृ० १३९)

चतुर्मुख लिङ्ग चित्र-सं० १२४

अपराजिता चित्र सं० १२५

मैत्रेय (कांसा) चित्र-सं० १३२ (पृ० १५८)

मंजुश्री
चित्र-सं० १३३ (पृ० १५८-१५६)

बुद्ध (कांसा)

वागीश्वर (कांसा) चित्र-सं० १३३ ब (पृ० १५६)

हलवाहा (बोधगया रेलिंग)

मंजुश्री (कांसा)
चित्र-सं० १३३ अ (पृ० १५६)

चार हाथ वालेअवलोकितेश्वर
चित्र-स० १३४ (पृ० १५६)

अवलोकितेश्वर और तारा चित्र-सं० १२५ (पृ० १२६)
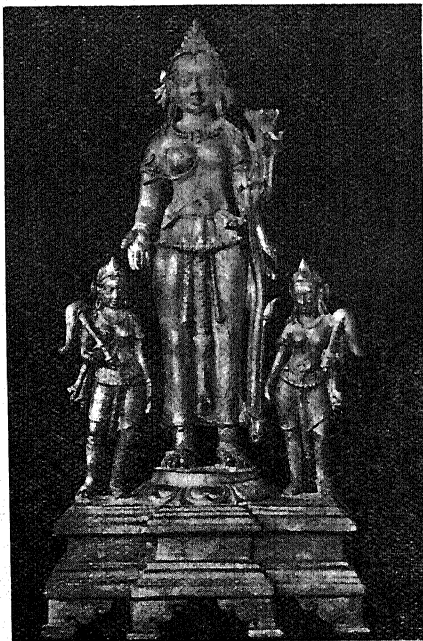
सिंहनाद अवलोकितेश्वर (कांसा)
चित्र-सं० १२६ (पृ० १६०)

तारा परिचारिकाओं के साथ
चित्र-सं० १२७ (पृ० १६०)

तारा (कांसा)
चित्र-सं० १२८ (पृ० १६८)

वसुधरा (कांसा)
चित्र-सं० १३९ (पृ० १६६)

पर्णशवरी (कांसा)
चित्र-सं० १४० (पृ० १६९)
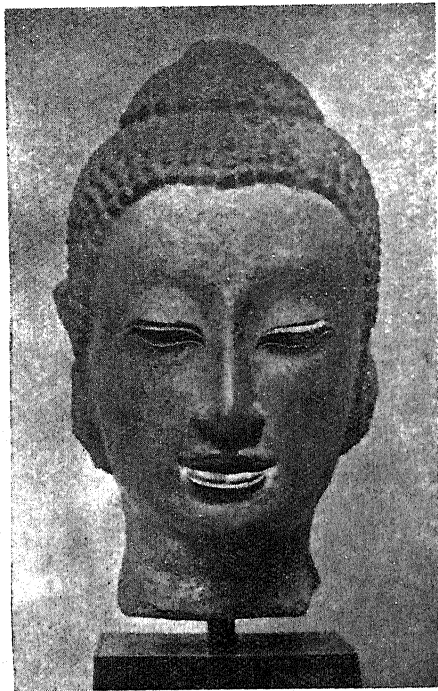
बुद्ध (स्याम)
(पृ० १४८)

प्रभावली (कांसा)

प्रभावली

स्तूप (कांसा)